तत्त्वज्ञान विवेचिका

भाग २

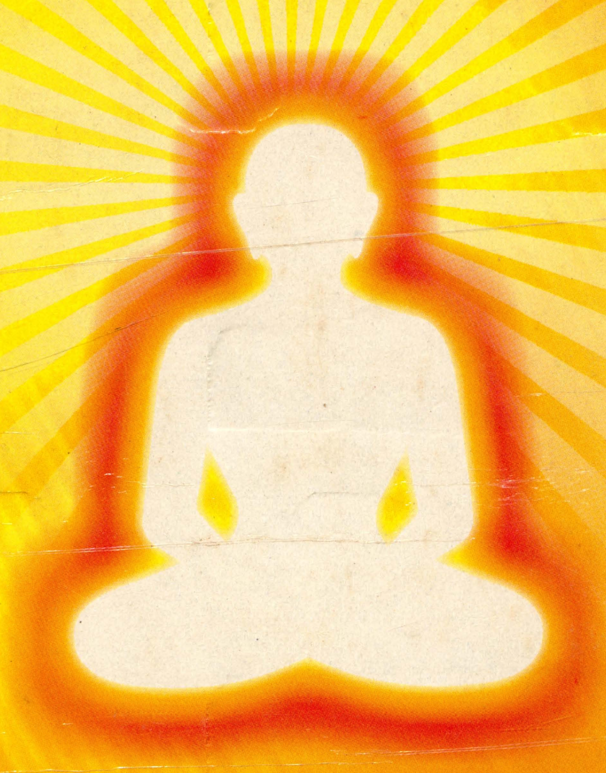

लेखिका-सम्पादिका : बाल ब्र. कल्पना जैन, सागर

॥ सा विद्या या विमुक्तये ॥

तत्त्वज्ञान विवेचिका

भाग - २

लेखिका/सम्पादिका

ब्र. कल्पना जैन, सागर

एम.ए., शास्त्री

प्रकाशक

अ.भा.जैन युवा फैडरेशन

जैन नगर, न्यू उस्मानपुर, दिल्ली

प्रथम संस्करण : ३००० प्रतिआँ
द्वितीय संस्करण : ५००० प्रतिआँ
योग : ८००० हजार

मूल्य : २५ रुपये

प्राप्ति स्थान :

❖ अ. भा. जैन युवा फैडरेशन
जैननगर, न्यू उस्मानपुरा, नई दिल्ली

❖ दिनेश जैन
देशना कम्प्यूटर्स, मंगलधाम, डी-१०३,
ए-४, बापूनगर, जयपुर-१५ (राज.)

❖ श्री वीतराग-विज्ञान प्रभावना मण्डल
१३३/७१, एम ब्लॉक, किदवई नगर,
कानपुर-२०८०११

❖ सिंघई ग्रन्थालय
चक्रेशकुमार सुधीरकुमार जैन, बस स्टैण्ड
के पास, कृष्णगंज, सागर (म.प्र.)४७०००२

❖ मात्र आकर ले जाने के लिए
ब्र. कल्पना जैन, सागर
मंगलधाम, डी-१०७
ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२०१५

मुद्रण व्यवस्था :
देशना कम्प्यूटर्स, जयपुर
मोबा. ९३१४६४००४८

विषयानुक्रमणिका

क्रं.	विषय	पृष्ठांक
१.	महावीराष्टक स्तोत्र	१
२.	शास्त्रों का अर्थ समझने की पद्धति	१२
३.	पुण्य-पाप	३०
४.	उपादान-निमित्त	४५
५.	आत्मानुभूति और तत्त्वविचार	६८
६.	षट् कारक	७८
७.	चतुर्दश गुणस्थान	९४
८.	तीर्थंकर भगवान महावीर	१८९
९.	देवागम स्तोत्र (आप्तमीमांसा)	२०६

प्रस्तुत विवेचिका के प्रकाशनार्थ आर्थिक सहयोग दाता विवरण

३००००/- : गुप्तदान हस्ते श्रीमान् सचिन संचेती खनियांधाना, ५०००/- : श्रीमती सरला जैन मातुश्री आलोककुमारजी जैन कानपुर, ३००१/- : मुमुक्षु मण्डल अशोकनगर, २६००/- जैन महिला मण्डल अशोकनगर, १०००/- : श्रीमती जानकीबाई दरबारीलाल जैन सागर, ५६१/- : सीमंधर मण्डल मुम्बई, ५०१/- : सौ. पुष्पा-चक्रेशकुमार जैन सागर, सौ. प्रीति-सुधीरकुमार जैन सागर, कुमार समय-समर्थ सागर, सौ. सरोज-लखमीचन्द चौधरी अभाना, ३०१/- : सौ. सुधा-ऋषभ चौधरी अभाना, २५१/- : सुमित जैन सागर, १०१/- : सुश्री सावित्री जैन दमोह, सौ. कल्पना रमेशचन्द जैन अशोकनगर, सौ. सुखवती अभयचन्द्र बंधु अशोकनगर, सौ. लक्ष्मी रमेशचन्द जैन सागर, सौ. संगीता राजेश सिंघई सागर, सौ. अनीता अनिल सिंघई अभाना, ५१/- : सौ. अनीता-मुकेश नायक अभाना, सौ. निर्मला विजय चौधरी अभाना

प्रकाशकीय

'वचनामृत वीतराग के, परम शान्त रस मूल।
औषधि हैं भवरोग के, कायर को प्रतिकूल॥'

अ.भा. जैन युवा फैडरेशन शाखा उस्मानपुर दिल्ली को आ.बा.ब्र. कल्पना बहिन द्वारा रचित बालबोध विवेचिका और वीतराग-विज्ञान विवेचिका के प्रकाशन का पूर्व से ही गौरव प्राप्त है। अब पुन: तत्त्वज्ञान विवेचिका भाग दो को प्रकाशित करने का गौरव प्राप्त हुआ है। इस मंगल कार्य में सहभागिता-हेतु यह फैडरेशन परिवार अपने अहो भाग्य का अनुभव कर रहा है।

आज की इस नयज्ञान-विहीन अहंकारिक दुनिया में किसी को निश्चय का पक्ष है तो कोई बाह्य क्रियाकाण्ड में उलझ रहा है, कुछ पुण्य को मोक्षमार्ग मानते हैं तो कुछ मोक्षमार्ग में इसकी विद्यमानता को भी स्वीकार नहीं कर पा रहे हैं ; कोई निमित्त को ही अपने समस्त कार्यों का जिम्मेदार मानते हैं तो कुछ मात्र उपादान के पक्ष में ही जकड़ रहे हैं।

सरल, सुबोध प्रश्नोत्तर शैली द्वारा इन सभी एकान्तों का निराकरण करते हुए इस विवेचिका में वस्तु-स्वरूप का यथार्थ विवेचन कर आत्मोन्मुखी वृत्ति पूर्वक तत्त्वविचार के माध्यम से आत्मानुभूति की प्रक्रिया विवेचित है; कर्तृत्व के अहंकार को नष्ट करनेवाले षट्कारकों की विवेचना पूर्वक अपनी भूमिका का, सच्चे देव-गुरु, सात तत्त्वादि का यथार्थ निर्णय करने के लिए इन चतुर्दश गुणस्थान की विशद विवेचना की गई है। सर्वोदय तीर्थ, सामान्य सर्वज्ञ सिद्धि, विशेष सर्वज्ञ सिद्धि, पारस्परिक अन्तर वाले प्रकरण तो स्वाध्यायिओं के लिए विशेष उपयोगी हैं ही।

इन सभी को समझने-समझाने के लिए यह फैडरेशन दैनिक स्वाध्याय, शिक्षण एवं संस्कार शिविर, प्रवचन, साहित्य प्रकाशन आदि के माध्यम से वीतरागी तत्त्वज्ञान के प्रचार-प्रसार में संलग्न है। जैनधर्म की प्रभावना हो, सम्पूर्ण विश्व में जिनवाणी का प्रचार-प्रसार हो, आर्ष-परम्परा की रक्षा हो, जिन शासन सतत सर्वत्र संचालित रहे, प्रत्येक प्राणी जिनवचनामृत का रसास्वादन कर अतीन्द्रिय, निराकुल अव्याबाधमय शाश्वत सुख को प्राप्त हो – इस मंगल-भावना के साथ...

२८ अक्टूबर २००८
२५३५वाँ वीर निर्वाण दिवस/
दीपावली

आपकी, हमारी, सबकी
अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन शाखा
सी-९९, न्यू उस्मानपुर, दिल्ली-११००५३

प्रधान : प्रवीण जैन
०९८१००६४२०५

मंत्री : ऋषभ शास्त्री
०९८१०४८७४७१

मनोगत

अनन्त धर्मात्मक वस्तु की अनेकान्तात्मक व्यवस्था को स्याद्वाद शैली द्वारा प्ररूपित करनेवाली चार अनुयोगमयी जिनवाणी के सुव्यवस्थित पाठ्यक्रम के अन्तर्गत बालबोध विवेचिका, वीतराग-विज्ञान विवेचिका और तत्त्वज्ञान विवेचिका भाग १ के बाद तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग २ का विवेचन करनेवाली 'तत्त्वज्ञान विवेचिका भाग २' आपके समक्ष प्रस्तुत है।

इसमें यद्यपि पूर्ण सावधानी पूर्वक जिनवाणी का आलोडन कर ही विषयों का विवेचन किया गया है; तथापि तात्त्विक सैद्धान्तिक, न्यायपरक विषयों का समायोजन होने से मुझ अल्पबुद्धि द्वारा स्खलित होने की सम्भावना का भी सर्वथा निषेध नहीं किया जा सकता है; अत: जिनवाणी परम्परा के संरक्षक, सम्पोषक, सम्वर्धक, सम्माननीय विद्वद्-वृन्द और परम पूज्य साधु-समूह से परोक्ष प्रार्थना है कि आगम-परम्परा-संरक्षक अपनी मनोवृत्ति की उदारता के उपयोग द्वारा मुझे मार्गदर्शन देकर अनुगृहीत करेंगे।

इस युग के प्रथम तीर्थंकर के जन्म-दिवस पर प्रकाशित होनेवाली इस कृति से लाभान्वित हो, अपने तत्त्वज्ञान को निर्मल कर सभी अपना मोक्षमार्ग प्रशस्त करेंगे – इस पवित्र भावना के साथ प्रस्तुत विवेचिका आपके कर-कमलों में सादर समर्पित है।

९ मार्च, २००५ — **कल्पना जैन, सागर**
भ. वासुपूज्य जन्म-ज्ञानकल्याणक दिवस — **एम.एम., शास्त्री**

अ.भा.जैन युवा फैडरेशन, उस्मानपुरा, दिल्ली पर उपलब्ध साहित्य

१. प्रवचनसार, पंचास्तिकायसंग्रह पद्यानुवाद	५/-
२. मोहक्षय का रामवाण उपाय (प्रवचनसार की 80वीं गाथा पर प्रवचन)	६/-
३. वर्तमान में जैन श्रावकाचार : एक संक्षिप्त विवरण	६/-
४. बालबोध मार्गदर्शिका (मराठी)	१०/-
५. तत्त्वज्ञान विवेचिका भाग-1	१३/-
६. गोम्मटसार कर्मकाण्ड विवेचिका भाग-1	१५/-
७. बालबोध विवेचिका	१५/-
८. तत्त्वज्ञान मार्गदर्शिका भाग 1 (मराठी)	१५/-
९. वीतराग-विज्ञान मार्गदर्शिका (मराठी)	२०/-
१०. वीतराग-विज्ञान विवेचिका	२५/-
११. तत्त्वज्ञान विवेचिका भाग-2	२५/-

तत्त्वज्ञान विवेचिका भाग-२

पाठ १ : महावीराष्टक स्तोत्र

प्रश्न १ : कविवर पण्डित भागचन्दजी का परिचय दीजिए।

उत्तर : साहित्य-सेवी, श्रुत-आराधक, आत्म-साधक १९वीं शताब्दी के अंतिम चरण और २०वीं शताब्दी के प्रथम चरण संबंधी स्वनाम-धन्य विद्वद् परम्परा में कविवर पण्डित भागचन्दजी का प्रमुख स्थान है। ग्वालियर राज्य के अन्तर्गत ईसागढ़ के निवासी आप दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी, ओसवाल जाति के छाजेड़ गोत्रीय नर-रत्न थे।

कविवर वृद्धिचंदजी कृत क्षमाभावाष्टक के अनुसार आपका जन्म वि. सं. १८७७ की कार्तिक कृष्णा तृतीया को हुआ था। मूल छन्द इसप्रकार है–

अष्टादश सित्योत्तरे, कार्तिक वदि शुभ तीज।
ईसागढ़ को जन्म थो, भागचन्द गुनि बीज॥

संस्कृत-प्राकृत-हिन्दी भाषा के मर्मज्ञ विद्वान आप दर्शन-शास्त्र के विशिष्ट अभ्यासी थे। संस्कृत और हिन्दी – दोनों ही भाषाओं में काव्य रचना की अपूर्व क्षमता-सम्पन्न आपको शास्त्र-प्रवचन और तत्त्व-चर्चा में विशेष रस आता था। अपने जीवन पर्यंत आप प्रतिवर्ष सिद्धक्षेत्र सोना-गिरी के वार्षिक मेले पर विशेषरूप से शास्त्र-प्रवचन द्वारा जिज्ञासु जनों को विशेष लाभान्वित करते रहे हैं।

आर्थिक विपन्नता के कारण आपके जीवन का कुछ काल जयपुर में भी व्यतीत हुआ था। आपके द्वारा रचित पदों से आपके जीवन और व्यक्तित्व के संबंध में अनेकप्रकार की जानकारी प्राप्त होती है। जिनभक्त होने के साथ ही आत्म-साधक होने से सांसारिक भोगों को निस्सार सम-झनेवाले आपका जीवन प्रतिदिन सामायिक आदि क्रियाओं, अनुष्ठानों से अनुप्राणित रहा है।

आप 'भाईजी' शब्द से सम्बोधित किए जाते थे। इस मनुष्य भव में आप ५६ वर्ष पर्यंत रहे। वि.सं. १९३३, आषाढ़ कृष्णा द्वादशी, दोपहर दो बजे आपने समाधिपूर्वक देह का त्याग किया।

क्षमाभावाष्टक में लिखित कविवर वृद्धिचंद्रजी के शब्दों में आपके समाधिमरण का दृश्य इसप्रकार है –

''रात रही दो पहर जब, यम ने डाला जाल।
ता बंधन कूँ काटवै, दियो परिग्रह डाल।।
धर्मी कूँ बुलाई आप, आयु की चेताई।
काल आन पहुँचो भाई, हम सिद्ध सरण पाई है।।
वस्त्र दूरि डारी, केश हाथ से उपारी।
पद्मासन कूँ धारी, बैठे तृण को बिछाई है।।
अब साँस की चढ़ाई, पहर चार तक पाई।
तबै नवकार सुनाई, पास बैठे सबै भाई है।।
बारस की तिथि पाई, दुपैरो पै दो बजाई।
भाईजी पधारे, पर गति शुभ पाई है।।''

मंदसौर (म.प्र.) निवासी सेठ हजारीलालजी वाकलीवाल के पितामह सेठ जोधराजजी की हवेली में आपका समाधिमरण हुआ था।

आपकी साहित्यिक प्रतिभा का परिचय मूलतया आपके पद्यात्मक साहित्य से प्राप्त होता है। आपके पदों में तर्क और चिंतन की प्रधानता है। रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों से अलंकृत आपके पद्य-साहित्य में विराट कल्पना, अगाध दार्शनिकता और सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विशेषताएँ विद्यमान हैं। ज्ञानी जीव किसप्रकार संसार में निर्भय होकर विचरण करते हैं; उनका अपना आचार-व्यवहार कैसा होता है इत्यादि विषयों का विश्लेषण करनेवाले आपके पदों में चिंतन की अथाह गहराइआँ विद्यमान होते हुए भी भावुकता रंचमात्र भी नहीं है।

वर्तमान में आपकी निम्नलिखित रचनाएँ उपलब्ध हैं –

१. महावीराष्टक स्तोत्र : इसमें शिखरिणी छन्द में निबद्ध आठ पद्यों द्वारा इस युग के अंतिम तीर्थनायक, वर्तमान शासनप्रवर्तक भगवान महावीर स्वामी की आलंकारिक संस्कृत भाषा में स्तुति की गई है।

इस स्तोत्र के माध्यम से आप सर्वाधिक प्रसिद्ध हुए हैं।

२. ***अमितगतिश्रावकाचार भाषा वचनिका :*** आचार्य अमितगति द्वारा लिखित श्रावकाचार ग्रन्थ की यह ब्रजभाषा में की गई वचनिका है।

३. ***उपदेशसिद्धान्त रत्नमाला वचनिका :*** आचार्य धर्मदास के सदुपदेश से भट्टारक नेमिचन्द्र द्वारा लिखे गए; महाभयंकर पाप गृहीत-अगृहीत मिथ्यात्व की भयंकरता बताकर उसके त्याग का उपदेश देनेवाले इस ग्रन्थ की यह वचनिका है।

४. ***प्रमाण परीक्षा वचनिका :*** आचार्य विद्यानन्द द्वारा रचित प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रमाण और मत-मतान्तर सहित उनके भेद-प्रभेदों का वर्णन करने वाले प्रमाण परीक्षा ग्रन्थ की यह वचनिका है।

५. ***नेमिनाथ पुराण :*** आचार्य जिनसेन विरचित हरिवंश पुराण का सार लेकर बाईसवें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ का समग्र जीवन-दर्शन इसमें उपलब्ध है।

६. ***ज्ञानसूर्योदय नाटक वचनिका :*** आचार्य वादिराजसूरी द्वारा नाट्य शैली में लिखित केवलज्ञानरूपी सूर्य के उदय की प्रक्रिया अर्थात् भगवान बनने की विधि बतानेवाले इस ग्रन्थ की यह वचनिका है।

७. ***सत्तास्वरूप :*** इसमें सम्बोधन शैली द्वारा गृहीत मिथ्यात्व छुड़ाने के लिए प्रमाण, नय, निक्षेप आदि के माध्यम से वीतरागी, सर्वज्ञता-सम्पन्न सच्चेदेव की सत्ता सिद्ध की गई है। गद्यशैली में लिखी गई यह आपकी मौलिक कृति है।

८. ***पद संग्रह :*** इसमें भक्तिपरक, वैराग्यपरक, सैद्धान्तिक आदि विषयों मय ८६ पदों का संग्रह है।

उपलब्ध प्रमाणों से ज्ञात होता है कि ये सभी कृतिआँ वि.सं. १९०७ से १९१३ पर्यंत के काल में रचित हैं; अत: इस समय को आपकी साहित्यिक साधना का स्वर्ण-काल कहा जा सकता है।

इसप्रकार आपने आत्माराधना से अपने जीवन का सदुपयोग करने के साथ-साथ जिनवाणी माँ के अक्षय कोश को भी अपनी साहित्य-साधना से समृद्ध किया है।

प्रश्न २ : महावीराष्टक स्तोत्र का अर्थ लिखिए।

उत्तर : कविवर पण्डित भागचन्दजी द्वारा लिखित प्रस्तुत 'महावीराष्टक स्तोत्र' महावीर भगवान की स्तुतिपरक संस्कृत भाषा में निबद्ध एक प्रसिद्धतम स्तोत्र है। इसमें शिखरिणी छन्द के ८ पद्यों द्वारा भगवान महावीर स्वामी के गुणों का स्मरण किया गया है। इसमें सर्वज्ञता, वीतरागता आदि गुणों का स्वरूप स्पष्ट करते हुए, उनकी वाणी की वर्तमान में उपलब्धि बताते हुए, उन्हें आकस्मिक मिले हुए निरपेक्ष वैद्य बताकर हमारे नयन पथगामी होनेकी प्रार्थना की गई है। इसके प्रत्येक पद्य का अर्थ इसप्रकार है–

सर्वप्रथम इस पहले छन्द द्वारा वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी गुणों से संयुक्त भगवान महावीर स्वामी को अपने हृदय में विराजमान करने की भावना भाते हैं; जो इसप्रकार है –

(संस्कृत पद्य शिखरिणी छन्द में और हिन्दी पद्य हरिगीतिका छन्द में निबद्ध हैं)

यदीये चैतन्ये मुकुर इव भावाश्चिदचिता:।
समं भान्ति ध्रौव्य-व्यय-जनि-लसन्तोऽन्तरहिता: ॥
जगत्साक्षी-मार्ग-प्रकटन-परो भानुरिव यो।
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे (न:)॥१॥

उत्पाद व्यय ध्रुवता सहित, चेतन अचेतन सकल जग।
जिनके मुकुरसम ज्ञान में, युगपत् प्रकाशित रह पृथग् ॥
जो सूर्य सम शिवमार्गदर्शक, जगत साक्षीभूत हैं।
वे नयन पथ से आ सदा, महावीर स्वामी उर बसें ॥१॥

शब्दश: अर्थ : यदीये=जिनके, चैतन्ये=चैतन्य/केवलज्ञान में, मुकुर=दर्पण के, इव=समान, भावा:=पदार्थ, चित्-अचिता:=चेतन और अचेतन, समं=एकसाथ, भान्ति=झलकते हैं/प्रतिभासित होते हैं, ध्रौव्य-व्ययजनि-लसन्त:=ध्रौव्य-विनाश और उत्पत्ति से सहित, अन्तरहिता:=अन्तरहित/अनन्त, जगत्साक्षी=जगत के साक्षीभूत/ज्ञाता-दृष्टा, मार्ग-प्रकटनपर:=मोक्षमार्ग को प्रगट करने में तत्पर/प्रकाशित करनेवाले, भानु:=सूर्य के, इव=समान, य:=जो, महावीरस्वामी=महावीर भगवान, नयनपथ-गामी=नेत्रों के मार्ग में गमन करनेवाले/मेरे हृदय में प्रवेश करनेवाले/

दर्शन देनेवाले, भवतु=हों, मे=मेरे लिए/मुझे, नः=हमारे लिए/हमें, ते=तुम्हारे लिए/तुम्हें, वः=तुम सभी के लिए।

सरलार्थ : दर्पण के समान जिनके केवलज्ञान में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-सम्पन्न, अनन्त चेतन और अचेतन पदार्थ एकसाथ प्रतिभासित होते हैं, जो जगत के साक्षीभूत/ज्ञाता-दृष्टा हैं, सूर्य के समान मोक्ष के मार्ग/उपाय को प्रकाशित करने में तत्पर हैं; वे भगवान महावीरस्वामी मेरे/हमारे नयन-पथगामी हों, मुझे/हमें दर्शन दें॥१॥

अब, इस दूसरे छन्द द्वारा अंतरंग-बहिरंग वीतरागता-सम्पन्न भगवान महावीर स्वामी को अपने हृदय में विराजमान करने की भावना भाते हैं; जो इसप्रकार है –

अताम्रं यच्चक्षुः कमल-युगलं स्पन्द-रहितम्।
जनान्-कोपापायं प्रकटयति वाभ्यन्तरमपि॥
स्फुटं मूर्तिर्यस्य प्रशमितमयी वातिविमला।
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे (नः)॥२॥

निष्पंद हैं दो नेत्र नीरज, लालिमा विरहित सदा।
अंदर-बहिर क्रोधादि विरहित, हैं बताते वे सदा॥
अति विमल अति शांतिमयी सुस्पष्ट मुद्रावान हैं।
वे नयन पथ से आ सदा, महावीर स्वामी उर बसें॥२॥

शब्दशः अर्थ : अताम्रं=लालिमारहित, यत्=जिनके, चक्षुः=नेत्ररूपी, कमलयुगलं=दो कमल, स्पन्दरहितं=टिमकार रहित, जनान्=मनुष्यों को, कोप-अपायं=क्रोध से रहितपना, प्रकटयति=प्रगट करते हैं, वा=बाह्य, अभ्यन्तरं=अन्तरंग, अपि=भी, स्फुटं=स्पष्टरूप से, मूर्तिः=मुद्रा, यस्य=जिसकी, प्रशमितमयी=अत्यन्त शान्ततामय, वा=और, अतिविमला=अत्यन्त विमल, महा....।

सरलार्थ : जिनके लालिमारहित और स्पन्दरहित नेत्ररूपी कमल-युगल मनुष्यों को बहिरंग और अन्तरंग क्रोधादि विकारों से रहितपना प्रगट करते हैं; जिनकी मुद्रा स्पष्टरूप से पूर्ण शान्त और अत्यन्त विमल है; वे भगवान महावीरस्वामी मेरे नयनपथगामी हों॥२॥

अब, इस तीसरे छन्द द्वारा प्राणीमात्र के लिए हितकर त्रिजग-वंद्य भगवान महावीर-स्वामी को अपने हृदय में विराजमान करने की भावना भाते हैं; जो इसप्रकार है –

नमन्नाकेन्द्राली-मुकुट-मणि-भा-जाल-जटिलं।
लसत्-पादाम्भोज-द्वयमिह यदीयं तनु-भृताम्॥
भव-ज्वाला-शान्त्यै प्रभवति जलं वा स्मृतमपि।
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे (नः)॥३॥

नित नमन करते इंद्र गण के मुकुट मणि की प्रभा से।
जिनके जटिल आभास पद, पंकज शरीरी जनों से॥
भवदुःखज्वाला शमन हेतु सलिल सम स्मृत्य हैं।
वे नयन पथ से आ सदा, महावीर स्वामी उर बसें॥३॥

शब्दशः अर्थ : नमत्=झुके हुए/नम्रीभूत, नाक=स्वर्ग के, इन्द्र-अली=इन्द्रों के समूह के, मुकुटमणि=मुकुटों की मणिओं के, भाजाल=प्रभा/कान्ति-समूह से, जटिलं=मिश्रित, लसत्=शोभायमान, पाद-अम्भोजद्वयं =चरणकमल दोनों, इह=यहाँ, यदीय=जिनके, तनुभृतां=शरीरधारिओं की, भवज्वाला=संसाररूपी आग की लपटों को, शान्त्यै=शान्त करने के लिए, प्रभवति=प्रवाहित होता है, जलं=जल के, वा=समान, स्मृतं-अपि=स्मरण करने मात्र से भी, महा....।

सरलार्थ : नम्रीभूत स्वर्ग के इन्द्रों के मुकुटों की मणिओं के प्रभासमूह से मिश्रित जिनके शोभायमान चरणरूपी कमलयुगल, स्मरण करने मात्र से शरीरधारिओं की भवज्वाला को शान्त करने के लिए मानों जल के समान प्रवाहित हो रहे हैं; वे भगवान महावीरस्वामी मेरे नयनपथगामी हों॥३॥

अब, मेंढ़क जैसे सामान्य प्राणी को भगवान के प्रति भक्ति-भाव के फल में प्राप्त स्वर्ग-सम्पदा को बताकर इस छन्द द्वारा समीचीन भक्तों को आत्म-स्वरूप में स्थिर रहने का संदेश देनेवाले भगवान महावीरस्वामी को अपने हृदय में विराजमान करने की भावना भाते हैं; जो इसप्रकार है –

यदर्चा-भावेन प्रमुदित-मना दर्दुर-इह।
क्षणादासीत्-स्वर्गी गुण-गण-समृद्धः सुखनिधिः॥

लभंते सद्भक्ताः शिव-सुख-समाजं किमुतदा।
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे (नः)॥४॥

तव अर्चना के भाव से, मन मोद युत मेंढ़क चला।
हो गया गुणगण सुखनिधि, सम्पन्न क्षण में स्वर्ग जा॥
आश्चर्य क्या? सद्भक्त शिव-सुख-निधि से सम्पन्न हैं।
वे नयन पथ से आ सदा, महावीर स्वामी उर बसें॥४॥

शब्दशः अर्थ : यत्=जिनकी, अर्चा=पूजा के, भावेन=भाव से, प्रमुदित-मना=प्रसन्न मनवाला, दर्दुर=मेंढ़क, इह=यहाँ, क्षणात्=क्षण भर में, आसीत् =हो गया, स्वर्गी=स्वर्गसंबंधी, गुणगणसमृद्धः=गुणों के समूह से समृद्ध, सुखन्निधिः=सुख का भंडार, लभंते=प्राप्त करते हैं, सद्भक्ताः=सद्भक्त, शिवसुखसमाजं=मोक्ष-सुख के समूह को, किमुतदा=तो क्या आश्चर्य, महा.....।

सरलार्थ : इस लोक में जिनकी पूजन के भाव से प्रसन्न मनवाला मेंढ़क भी क्षण भर में स्वर्ग संबंधी गुणों के समूह से समृद्ध और सुख के भंडारमय हो गया; तब यदि (उनके) सद्भक्त मोक्षसुख के समूह को प्राप्त कर लें तो इसमें क्या आश्चर्य है ? अर्थात् वे तो मोक्ष प्राप्त करेंगे ही; ऐसे वे भगवान महावीरस्वामी मेरे नयनपथगामी हों॥४॥

अब, इस पाँचवें छन्द द्वारा भगवान के अपेक्षावश विविध स्वरूप बताकर अनेकान्तात्मक वस्तुस्वरूप का स्याद्वाद शैली में निरूपण करने वाले भगवान महावीरस्वामी को अपने हृदय में विराजमान करने की भावना भाते हैं; जो इसप्रकार है –

कनत् - स्वर्णाभासोऽप्यगत - तनुर्ज्ञान - निवहो।
विचित्रात्माप्येको नृपतिवर-सिद्धार्थ-तनयः॥
अजन्मापि श्रीमान् विगत-भवरागोद्भुत-गतिः।
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे (नः)॥५॥

है तप्त कंचन समप्रभा, तन रहित, चेतन तन सहित।
हैं विविध भी हैं एक भी, हैं जन्म बिन सिद्धार्थ सुत॥
श्रीमान भी भव-राग बिन, आश्चर्य के भंडार हैं।
वे नयन पथ से आ सदा, महावीर स्वामी उर बसें॥५॥

शब्दश: अर्थ : कनत्स्वर्ण-आभा=तपाए हुए स्वर्ण के समान आभावाले, स:=वह (वे), अपि=भी, अपगततनु:=शरीर से रहित, ज्ञाननिवह:= ज्ञान-रूपी शरीरवाले, विचित्र-आत्मा-अपि=अनेक स्वरूप वाले होते हुए भी, एक:=एक, नृपतिवर=राजाओं में श्रेष्ठ, सिद्धार्थतनय:=सिद्धार्थ के पुत्र, अजन्मा-अपि=जन्मरहित होने पर भी, श्रीमान्=लक्ष्मी-सम्पन्न होने पर भी, विगतभवराग:=संसार संबंधी राग से रहित, अद्भुत-गति:=आश्चर्यशील /आश्चर्यों के निधान, महा....।

सरलार्थ : जो बहिरंग दृष्टि से तपाए हुए स्वर्ण के समान आभावाले और अंतरंग दृष्टि से ज्ञानशरीरी/केवलज्ञान के पुंज/शरीरमय होने पर भी शरीर से रहित हैं; (विविध ज्ञेय, ज्ञान में झलकते होने से) विचित्र/अनेक होने पर भी एक/अखण्ड हैं; जन्मरहित होने पर भी राजाओं में श्रेष्ठ सिद्धार्थ के पुत्र हैं; केवलज्ञान आदि अंतरंग और समवसरण आदि बहिरंग लक्ष्मी से सहित श्रीमान होने पर भी संसारसंबंधी राग से रहित हैं; ऐसे अद्भुतगतिमय आश्चर्यों के निधान वे भगवान महावीरस्वामी मेरे नयनपथगामी हों ।।५।।

अब, इस छठवें छन्द द्वारा नयरूपी लहरों से निर्मल, ज्ञानीजनों को सुपरिचित, सागर सदृश गंभीर दिव्यध्वनि द्वारा हितोपदेशक भगवान महावीर-स्वामी को अपने हृदय में विराजमान करने की भावना भाते हैं; जो इसप्रकार है –

यदीया वाग्गंगा विविध-नय-कल्लोल-विमला।
वृहज्ज्ञानांभोभिर्जगति जनतां या स्नपयति ।।
इदानीमप्येषा बुध-जन-मरालै: परिचिता।
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे (न:)।।६।।

जिनकी वचन गंगा विविध नय लहर से निर्मल सदा।
नि:सीम केवलज्ञान जल से, नहाती सबको सदा ।।
जो अभी भी है सुपरिचित विद्वद् जनों मय हंस से।
वे नयन पथ से आ सदा, महावीर स्वामी उर बसें ।।६।।

शब्दश: अर्थ : यदीया=जिनकी, वाक्-गंगा=वचनरूपी गंगा, विविध= अनेकप्रकार के, नयकल्लोल=नयरूपी लहरों के कारण, विमला=निर्मल/

पवित्र, वृहत्=विशाल/अगाध, ज्ञान-अम्भोभिः= ज्ञानरूपी जल द्वारा, जगति=जगत में, जनतां=जनता को, या=जो, स्नपयति=स्नान कराती रहती है, इदानीं=इससमय, अपि=भी, एषा=यह, बुधजन=ज्ञानीजनरूपी, मरालैः=हंसों द्वारा, परिचिता=परिचित, महा... ।

सरलार्थ : जिनकी वचनरूपी गंगा अनेकप्रकार की नयरूपी लहरों के कारण विमल/पवित्र है; जो अगाध ज्ञानरूपी जल के द्वारा जगत में रहने वाली जनता को स्नान कराती रहती है, इससमय भी यह ज्ञानीजन रूपी हंसों द्वारा परिचित है; वे भगवान महावीरस्वामी मेरे नयनपथगामी हों ॥६॥

अब, इस सातवें छन्द द्वारा आत्मस्थिरता के बल पर, उद्दाम वेगवाली त्रिभुवनजयी विषय-वासनाओं को जीतकर अनन्त वैभव-सम्पन्न स्वराज्य को अल्पवय में ही प्राप्त कर लेनेवाले भगवान महावीरस्वामी को अपने हृदय में विराजमान करने की भावना भाते हैं; जो इसप्रकार है –

अनिर्वारोद्रेकस्त्रिभुवन-जयी काम-सुभटः ।
कुमारावस्थायामपि निजबलाद्येन विजितः ॥
स्फुरन्नित्यानन्द-प्रशमपद-राज्याय स जिनः ।
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे (नः)॥७॥

दुर्वार अति उद्रेक त्रिभुवन जयी काम सुभट महा ।
निज आत्मबल से तरुणता में हरा उसको विजय पा ॥
जो व्यक्त नित्यानंद शिव-सुख शांत पद के पति हैं ।
वे नयन पथ से आ सदा, महावीर स्वामी उर बसें ॥७॥

शब्दशः अर्थ : अनिर्वार=सरलता से नहीं रोका जानेवाला, उद्रेकः=वेग, त्रिभुवनजयी=तीनों लोकों को जीत लेनेवाला, कामसुभटः=काम/विषय -वासनारूपी महायोद्धा, कुमार-अवस्थायां=छोटी/कम उम्र में, अपि= भी/ही, निजबलात्=निज/आत्मबल से, येन=जिसके द्वारा, विजितः= जीत लिया गया है, स्फुरत्=प्रगट हुआ, नित्य=स्थाई, आनन्द= निराकुल-सुख, प्रशमपद=शान्तिमय पद, राज्याय=राज्य, सः=वह/वे, जिन=जिन, महा.... ।

सरलार्थ : सरलता से नहीं रोका जानेवाला अनिर्वार है वेग जिसका, उस

तीनों लोकों को जीत लेनेवाले काम/विषय-वासनारूपी महायोद्धा को जिन्होंने स्वयं आत्मबल से कुमार अवस्था में ही जीत लिया है; जिससे जिनके स्थाई निराकुलतामय शान्तियुक्त पद का राज्य प्रगट हुआ है; वे जिनेन्द्र भगवान महावीरस्वामी मेरे नयनपथगामी हों ॥७॥

अब, इस आठवें छन्द द्वारा भवरोग-नाशक, वीतरागता-सम्पन्न, हितोपदेशी भगवान महावीरस्वामी को अपने हृदय में विराजमान करने की भावना भाते हैं; जो इसप्रकार है –

महा-मोहातंक-प्रशमन-पराकस्मिग्भिषग् ।
निरापेक्षो बंधुर्विदित-महिमा मंगलकर: ॥
शरण्य: साधूनां भव-भय-भृतामुत्तम-गुणो ।
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे (न:)॥८॥

अब मिले आकस्मिक भिषग् नाशक महारुज मोह के ।
निरपेक्ष बंधु विदित महिमा जगत मंगल करन ये ॥
भवभयसहित साधु जनों को शरण उत्तम गुणी हैं ।
वे नयन पथ से आ सदा, महावीर स्वामी उर बसें ॥८॥

शब्दश: अर्थ : महा मोह-अंतक/आतंक=महामोहरूपी रोग को, प्रशमनपर:=शान्त करने में लगे हुए, आकस्मिक्=अचानक मिले हुए, भिषग्=वैद्य, निरापेक्ष:=निरपेक्ष/नि:स्वार्थ, बन्धु:=बंधु/इष्टजन, विदित-महिमा =जिनकी महिमा समस्त लोक को विदित/ज्ञात है, मंगलकर:=मंगल करनेवाले, शरण्य:=शरणभूत, साधूनां=साधुओं के लिए, भवभयभृतां= संसार के भय से भरे हुए/भयभीत, उत्तमगुण:=उत्तमगुणवाले, महा... ।

सरलार्थ : जो महामोहरूपी रोग को शान्त करने में तत्पर आकस्मिक उपलब्ध वैद्य हैं, निरपेक्ष/नि:स्वार्थ बंधु हैं, जिनकी महिमा समस्त लोक को विदित है; जो मंगलकारक हैं, संसार के भय से भयभीत साधुओं के लिए शरणभूत हैं, उत्तम गुण-सम्पन्न हैं; वे भगवान महावीर-स्वामी मेरे नयनपथगामी हों ॥८॥

अब, इस छन्द द्वारा स्तोत्र का नाम, कवि का नाम बताते हुए उसे पढ़ने, सुनने, हृदयंगम करने का फल बताते हैं; जो इसप्रकार है –

अनुष्टुप्: **महावीराष्टकं स्तोत्रं भक्त्या भागेन्दुना कृतम्।**
यःपठेच्छ्रुणुयाच्चापि स याति परमां गतिम्॥

वीरछन्द: ***जिन भक्तिवश भागेंदु कृत स्तोत्र महावीराष्टक को।***
नित भाव पूर्वक पढ़े सुने जो पाता परम गति सुख को॥

शब्दशः अर्थ : महावीराष्टकं='महावीराष्टक' नामवाला, स्तोत्रं=स्तोत्र, भक्त्या=भक्ति के वशीभूत हो, भागेन्दुना=भागचन्द (कवि) द्वारा, कृतं= किया गया, यः=जो, पठेत्=पढ़े/पढ़ता है, श्रुणुयात्=सुने/सुनता है, च= और, अपि=भी, सः=वह, याति=प्राप्त करता है, परमां गतिं=उत्कृष्ट गति को।

सरलार्थ : यह महावीराष्टक स्तोत्र (भगवान के प्रति) भक्ति के वशीभूत हो, भागचन्द कवि द्वारा किया गया है। जो इसे पढ़ता है या सुनता है, वह परमगति को प्राप्त करता है। ❍

महावीर-स्तोत्र

जननजलधिसेतुर्दुःखविध्वंशहेतुः, निहतमकरकेतुर्वारितानिष्टहेतुः।
समरसभरहेतुर्नष्टनिःशेषधातुः, जयति जगति चन्द्रो वर्धमानो जिनेन्द्रः॥१॥
शमदमयमकर्तासारसंसारहर्ता, सकलभुवनभर्ताभूरिकल्याणकर्ता।
परमसुखसमर्ता सर्वसन्देहहर्ता, जयति जगति चन्द्रो वर्धमानो जिनेन्द्रः॥२॥
कुगतिपथविनेता मोक्षमार्गस्य नेता, प्रकृतिगहनहन्ता सत्त्वसंतापशन्ता।
गगनगमनगन्ता मुक्तिरामाभिमन्ता, जगति जगति चन्द्रो वर्धमानो जिनेन्द्रः॥३॥
सजलजलदनादो निर्जिताशेषवादो, नरपतिनुतपादो वस्तुतत्त्वज्ञगादः।
जितभविभववृन्दो नष्टकोपारिकन्दो, जयति जगति चन्द्रो वर्धमानो जिनेन्द्रः॥४॥
प्रबलबलविशालो मुक्तिकान्तारसालो, विमलगुणमरालो नित्यकल्लोलमालः।
विगतशरणशालो धारितस्वच्छभालो, जयति जगति चन्द्रो वर्धमानो जिनेन्द्रः॥५॥
मदनमदविदारी चारुचारित्रधारी, नरकगतिनिवारी स्वर्गमोक्षावतारी।
विदितभुवनसारी केवलज्ञानधारी, जयति जगति चन्द्रो वर्धमानो जिनेन्द्रः॥६॥
विषयविषविनाशो भूरिभाषानिवासो, गतभवभयपाशो दीप्तिवल्ली विकाशः।
करणसुख निवासो वर्णसम्पूरिताशो, जयति जगति चन्द्रो वर्धमानो जिनेन्द्रः॥७॥
वचनरचनधीरः पापधूली-समीरः, कनकनिकरगौरः क्रूरकर्मारिशूरः।
कलषुदहननीरः पातितानंगवीरः, जयति जगति चन्द्रो वर्धमानो जिनेन्द्रः॥८॥

पाठ २ : शास्त्रों का अर्थ समझने की पद्धति

प्रश्न १ : आचार्यकल्प पं. टोडरमलजी का व्यक्तित्व-कर्तृत्व लिखिए।

उत्तर : आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी राजस्थान प्रान्त के 'जैनिओं की काशी' रूप में सुप्रसिद्ध जयपुर नगर के सुप्रतिष्ठित विद्वानों में अग्रगण्य हैं। आपका अधिकांश जीवन राजस्थान की राजधानी जयपुर में ही व्यतीत हुआ था; तथापि आजीविका के लिए आपको प्रारम्भिक कुछ समय सिंघाणा में व्यतीत करना पड़ा। वहाँ आप दिल्ली के एक साहूकार के यहाँ कार्य करते थे।

सरस्वती माँ के वरदपुत्र रूप आपका काल अठारहवीं सदी माना जाता है। आपने लगभग विक्रम सम्वत् १७७६-७७ से लेकर विक्रम सम्वत् १८२३-२४ पर्यन्त इस भूमि को अपनी विद्यमानता से समलंकृत किया। खण्डेलवाल जाति स्थित गोदिका गोत्र के नररत्न रूप में आपने पिता जोगीदास तथा माता रम्भादेवी की कूख को पवित्र किया। आपके हरिश्चन्द्र और गुमानीराम नामक दो पुत्र थे।

आपका जीवनकाल भारत का संक्रान्तिकालीन युग का काल था। उस समय राजनीति में अस्थिरता, सम्प्रदायों में तनाव, साहित्य में शृंगार, धर्म के क्षेत्र में रूढ़िवाद, आर्थिक जीवन में विषमता, सामाजिक जीवन में आडम्बर – ये सभी अपने चरमोत्कर्ष पर थे। इन सभी से पण्डितजी को संघर्ष करना था; जिसे उन्होंने डटकर किया; प्राणों की बाजी लगाकर भी किया।

पण्डित टोडरमलजी गंभीर प्रकृति के आध्यात्मिकपुरुष थे। आप स्वभाव से सरल, संसार से उदास, धुन के धनी, निरभिमानी, विवेकी, अध्ययनशील, प्रतिभासम्पन्न, बाह्याडम्बर-विरोधी, दृढ़-श्रद्धानी, क्रान्तिकारी, सिद्धान्तों की कीमत पर कभी भी नहीं झुकनेवाले, आत्मानुभवी, लोकप्रिय प्रवचनकार, सिद्धान्त ग्रन्थों के सफल टीकाकार, परोपकारी, प्रामाणिक महामानव हैं। गृहस्थ होने पर भी आपकी प्रतिभा सभी को मार्गदर्शन देने में दिगम्बर आचार्यों के समान समर्थ थी; अतः आपको "आचार्यकल्प" नामक उपाधि देकर गौरवान्वित किया गया।

आपने अपने जीवन में छोटी-बड़ी बारह रचनाएँ रची हैं; जो लगभग एक लाख श्लोक प्रमाण तथा पाँच हजार पृष्ठों के आसपास हैं। उनमें से कुछ मौलिक और कुछ भाषा टीकाएँ हैं। मौलिक रचनाओं में मोक्षमार्ग-प्रकाशक, रहस्यपूर्ण चिट्ठी, गोम्मटसार-पूजन और समवसरण-रचना-वर्णन – ये चार सर्वमान्य कृतिआँ हैं। टीका-रचनाओं में पुरुषार्थसिद्ध्युपाय भाषाटीका, आत्मानुशासन भाषाटीका, त्रिलोकसार भाषाटीका तथा सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका है। सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका में गोम्मटसार जीवकाण्ड भाषाटीका, गोम्मटसार कर्मकाण्ड भाषाटीका, अर्थसंदृष्टि अधिकार, लब्धिसार भाषाटीका और क्षपणासार भाषाटीका का संग्रह है।

आपके द्वारा रचित मोक्षमार्ग-प्रकाशक ग्रन्थ अध्यात्मगर्भित आगम-शैली की अनुपम रचना है। यह अनादिकालीन प्रचलित मिथ्या मान्यताओं को जड़मूल से नष्ट कर सम्यक् मोक्षमार्ग का दिशा-निर्देश करने में पूर्ण सक्षम है। यद्यपि यह रचना अपूर्ण है; तथापि आत्महित की दृष्टि से अपूर्व है। शायद इस कृति के कारण ही आपको आचार्यकल्प की उपाधि से विभूषित किया गया है।

आपका सम्पूर्ण जीवन प्राणीमात्र को धर्मानुरागमय अन्तस्प्रेरणा का प्रतीक है। आपकी अल्पकालिक जीवन में की गई गंभीरतम साहित्यिक कृतिओं से प्राणीमात्र सदैव उपकृत रहेगा।

प्रश्न २ : **"इस भवतरु का मूल इक, जानहु मिथ्याभाव।**
ताकौं करि निर्मूल अब, करिए मोक्ष उपाव।।"

– इस पद्य का भाव स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : इस संसाररूपी वृक्ष की जड़ एकमात्र मिथ्याभाव है; इसलिए उसे जड़मूल से नष्ट कर अब मोक्ष का उपाय करना चाहिए।

घर-कुटुम्ब आदि – ये कोई/कुछ भी अपना संसार नहीं हैं। ये तो संयोग हैं। इनके प्रति जो अपना आकर्षण है, प्रीति का भाव है, वह संसार है अथवा चारगति, चौरासी लाख योनिओं में संसरण संसार है। इस संसार रूपी वृक्ष का मूल मिथ्याभाव है अर्थात् अगृहीत मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र और गृहीत मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मिथ्याभाव ही इसकी जड़ है। इस जड़ की विद्यमानता से ही यह संसार-वृक्ष पुष्ट होता हुआ

फूल-फल रहा है। इस मूल को निर्मूल/नष्ट करने पर ही संसार वृक्ष का सूखना/मोक्ष का उपाय प्रारम्भ होता है।

प्रश्न ३ : जिनवाणी में मिथ्यात्वपोषक बात तो होती नहीं है; तब फिर जो जीव जैन हैं, जिन-आज्ञा को मानते हैं, उनके मिथ्यात्व कैसे रह सकता है?

उत्तर : यद्यपि जिनवाणी में मिथ्यात्वपोषक कोई भी बात नहीं है; तथापि उसका अर्थ/अभिप्राय समझने की एक पद्धति है। जो उसे नहीं समझते हैं; वे उसके मर्म को नहीं समझ पाते हैं; अपनी कल्पना से उसे अन्यथा ही समझ लेते हैं; अतः उनका मिथ्यात्व नष्ट नहीं हो पाता है।

प्रश्न ४ : मिथ्यात्व का अंश या सूक्ष्म मिथ्यात्व किसे कहते हैं ?

उत्तर : मिथ्यात्व तो वास्तव में मिथ्यात्व ही होता है, उसमें कोई अंश, अंशी या सूक्ष्म, स्थूल का भेद नहीं होता है। वह तो आत्मा के श्रद्धा आदि गुणों की एक अखण्ड विकृत, विपरीत, तत्त्व-अश्रद्धान आदि रूप या विपरीत-अभिनिवेश आदि मय पर्याय है; परन्तु समझने-समझाने की अपेक्षा उसमें अंश, स्थूल, सूक्ष्म आदि भेद बन जाते हैं। वे इसप्रकार हैं –

आत्मा में मिथ्यात्व परिणाम होने पर सहज बननेवाले निमित्त-नैमित्तिक संबंध के कारण उसकी शारीरिक प्रवृत्तिओं आदि से जिस मिथ्यात्व का अनुमान हो जाता है, उसे अति स्थूल या तीव्रतम मिथ्यात्व कह देते हैं; जैसे पीर, पैगम्बर, तुलजा, भवानी, क्षेत्रपाल, पद्मावती आदि को देव मानकर पूजता हुआ देखकर उस जीव को मिथ्यादृष्टि कह देना आदि।

कोई मिथ्यात्व परिणाम ऐसा होता है, जो अन्य देवी-देवताओं को पूजने आदि रूप में तो व्यक्त नहीं होता है; पर उसके साथ चर्चा-वार्ता करने पर तत्त्व संबंधी विपरीतता आदि के रूप में व्यक्त हो जाता है, वह स्थूल या तीव्र मिथ्यात्व कहलाता है।

कोई मिथ्यात्व परिणाम ऐसा होता है, जो अन्य देवी-देवताओं को पूजने आदि के रूप में तो व्यक्त होता ही नहीं है; उस परिणाम का धारक जीव जिनवाणी का गहन अभ्यासी होने के कारण जिनवाणी के अनुसार ही चर्चा-वार्ता करता होने से वचनात्मक तत्त्व-विपरीतता के रूप में भी व्यक्त नहीं होता है; परन्तु अंतरंग अभिप्राय में विद्यमान रहता है; तीव्रतम अन्तरोन्मुखी वृत्ति द्वारा ही जिसे पहिचाना जा सकता है; उसे सूक्ष्ममिथ्यात्व

या मिथ्यात्व बैरी का अंश कहते हैं। जबतक यह पूर्णतया नष्ट नहीं होता, तबतक पूर्वोक्त दो प्रकार का परिवर्तन भी स्थाई नहीं रह पाता है; अतः अन्तरोन्मुखी, पक्षातिक्रान्त, अंतरंगवृत्ति मय तीव्र पुरुषार्थपूर्वक भेदविज्ञान द्वारा इसे पहिचानकर नष्ट करने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

प्रश्न ५ : जिनवाणी का अर्थ समझने की पद्धति क्या है ?

उत्तर : सम्पूर्ण जिनवाणी निश्चय-व्यवहार आदि नयों की शैली में लिखी गई है; इसीप्रकार स्वाध्यायिओं की विभिन्न योग्यताओं और रुचिओं के कारण जिनवाणी को चार अनुयोगों में विभक्त करके लिखा गया है। प्रत्येक अनुयोग की अपनी-अपनी पृथक्-पृथक् पद्धति है। इन नयों और अनु-योगों की कथन-पद्धति को समझना ही इनका अर्थ समझने की पद्धति है।

प्रश्न ६ : निश्चय-व्यवहार नय का सामान्य स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : ये दोनों एक श्रुतज्ञानरूप प्रमाण के अंश हैं। अनन्त धर्मात्मक वस्तु में से अन्य को गौणकर वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जाननेवाला ज्ञान निश्चय तथा औपचारिक स्वरूप को जाननेवाला ज्ञान व्यवहार है अथवा एक ही द्रव्य के भाव को उस स्वरूप ही जानना, निश्चय तथा उस द्रव्य के भाव को अन्य द्रव्य के भाव स्वरूप जानना, व्यवहारनय है। पर से पूर्णतया भिन्न और स्वयं से अभिन्न वस्तु को जाननेवाला ज्ञान, निश्चय तथा पर के साथ अभेद और स्वयं में भेदपूर्वक वस्तु को जानने-वाला ज्ञान, व्यवहार नय कहलाता है।

प्रश्न ७ : व्यवहार-निश्चय की निरूपण-पद्धति लिखिए।

उत्तर : व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्य, उनके भावों और कारण-कार्य आदि में से किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है; निश्चयनय इससे विपरीत उन्हीं का यथावत् निरूपण करता है, किसी को किसी में नहीं मिलाता है; जैसे –

१. व्यवहारनय शरीरादि परद्रव्यों की सापेक्षता द्वारा नर-नारक आदि रूप में जीव के विशेष करके मनुष्य जीव, नारकी जीव इत्यादि रूप में जीव का निरूपण करता है; वहीं निश्चयनय परद्रव्यों से भिन्न, स्वयं से अभिन्न, स्वयंसिद्ध ज्ञान-दर्शनमय वस्तु को जीव कहता है।

२. व्यवहारनय जीव में भेद उत्पन्न कर ज्ञान आदि गुण-पर्यायरूप भेदों

के आधार पर जाननेवाला जीव, देखनेवाला जीव इत्यादि रूप में जीव का निरूपण करता है; वहीं निश्चयनय अभेदरूप में जीव का निरूपण करता है।

३. व्यवहारनय तत्त्वश्रद्धान-ज्ञानपूर्वक परद्रव्य का निमित्त मिटने की सापेक्षता द्वारा व्रत, शील, संयम आदि को मोक्षमार्ग कहता है; वहीं निश्चयनय एकमात्र वीतरागभाव को ही मोक्षमार्ग कहता है।

इसप्रकार मुख्यतया तीनरूपों में व्यवहार-निश्चय की निरूपण-पद्धति प्रसिद्ध है।

प्रश्न ८ : ऐसे मिलावटवाला कथन करनेवाले व्यवहार को जिनवाणी में स्थान क्यों मिला ?

उत्तर : जैसे अनार्य को उसकी अनार्य भाषा में ही बोले बिना उसे कुछ भी समझाना सम्भव नहीं है; उसीप्रकार असत्यार्थ होने पर भी निश्चय का प्रतिपादक होने से व्यवहार के बिना परमार्थ/निश्चय का उपदेश अशक्य होने के कारण, मिलावटवाला कथन करनेवाले व्यवहार को भी जिनवाणी में स्थान मिल गया है।

प्रश्न ९ : व्यवहार के बिना परमार्थ/निश्चय का उपदेश कैसे अशक्य है?

उत्तर : व्यवहारनय निश्चय का प्रतिपादक होने से अर्थात् निश्चय और व्यवहार में प्रतिपाद्य-प्रतिपादक संबंध होने से व्यवहार के बिना निश्चय का प्रतिपादन सम्भव नहीं है। पूर्वोक्त तीनों उदाहरणों द्वारा ही इस बात को स्पष्ट करते हैं –

१. प्रत्येक वस्तु ही अनादि-अनंत परद्रव्यों से भिन्न, स्वभावों से अभिन्न, स्वयंसिद्ध एकत्व-विभक्तमय होने के कारण आत्मा भी वास्तव में सदैव परद्रव्यों से भिन्न, स्वभावों से अभिन्न स्वयंसिद्ध वस्तु है; परन्तु जो इसे नही पहिचानते हैं, उनसे इसीप्रकार कहते रहने पर वे इस संबंध में कुछ भी नही समझ पाते हैं। उन्हें समझाने के लिए व्यवहारनय शरीरादि परद्रव्यों की सापेक्षता द्वारा नर, नारक, पृथ्वीकायादि आत्मा/जीव के विशेष कर मनुष्य, नारकी, पृथ्वीकायिक जीव इत्यादि रूप में जीव का प्रतिपादन करता है; तब उन्हें आत्मा की पहिचान होती है।

२. प्रत्येक वस्तु ही अनादि-अनन्त अपने अनंत गुण-पर्यायों की अखण्ड पिण्ड होने से आत्मा भी अनादि-अनन्त अपने अनंत गुण-पर्यायों क

अखण्ड पिण्ड है; परन्तु जो इसे नहीं पहिचानते हैं, उनसे ऐसा ही कहते रहने पर वे इस संबंध में कुछ भी नहीं समझ पाते हैं। उन्हें समझाने के लिए व्यवहारनय अभेद/अखण्ड वस्तु में भेद उत्पन्न कर ज्ञान-दर्शनादि गुण-पर्यायरूप आत्मा के विशेष कर जाननेवाला जीव, देखनेवाला जीव इत्यादि रूप में आत्मा का प्रतिपादन करता है; तब उन्हें आत्मा की पहिचान होती है।

३. कारण के अनुसार ही कार्य होने से श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र आदि अनन्त वैभव-सम्पन्न आत्मा को अपनत्वरूप से मानकर, जानकर, उसमें स्थिरता रूप सम्यक्चारित्रमय वीतरागभाव/सम्यक् रत्नत्रय ही आत्मा की दु:खों से मुक्ति का उपाय है/सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता ही मोक्षमार्ग है; परन्तु जो इसे नहीं पहिचानते हैं, उनसे ऐसा ही कहते रहने पर वे इस संबंध में कुछ भी नहीं समझ पाते हैं।

उन्हें समझाने के लिए व्यवहारनय तत्त्वार्थश्रद्धान-ज्ञानपूर्वक परद्रव्य का निमित्त मिटने की सापेक्षता द्वारा व्रत, शील, संयम आदिरूप वीतराग भाव के विशेष कर मोक्षमार्ग का प्रतिपादन करता है; तब उन्हें वीतरागभाव रूप मोक्षमार्ग की पहिचान होती है।

इत्यादि रूप में उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि व्यवहार नय के बिना परमार्थ/निश्चय का प्रतिपादन सम्भव नहीं है।

प्रश्न १० : यदि व्यवहारनय के बिना परमार्थ का प्रतिपादन सम्भव नहीं है; तब फिर इतना महत्त्वपूर्ण कार्य करनेवाले व्यवहारनय का अनुसरण क्यों नहीं करना चाहिए ? उसके द्वारा प्रतिपादित वस्तु को उसी रूप में मान लेने का निषेध क्यों किया जाता है ?

उत्तर : व्यवहारनय के द्वारा प्रतिपादित वस्तु वास्तव में वैसी नहीं होने से, व्यवहारनय निमित्त या संयोगादि की अपेक्षा औपचारिक कथन करनेवाला होने से, वास्तव में ऐसा ही मान लेना मिथ्यात्व का पोषक होने से, उसके अनुसरण का निषेध किया जाता है। निश्चय इसीकारण व्यवहार का निषेध करता है। व्यवहार और निश्चय में निषेध्य-निषेधक संबंध है। पूर्वोक्त तीनों उदाहरणों द्वारा ही इस बात को स्पष्ट करते हैं –

१. व्यवहारनय ने नर-नारक आदि पर्याय को ही जीव कहा था; परन्तु

यह कथन संयोग की अपेक्षा किया गया औपचारिक कथन ही समझना, वास्तविक नहीं; क्योंकि यह पर्याय तो जीव-पुद्गल के संयोगरूप है। इसे वास्तविक जीव मानना तो जिनवाणी में मिथ्यात्व कहा गया है। वास्तविक जीव तो इस पर्याय से भिन्न एकत्व-विभक्त ज्ञायकस्वभावी शाश्वत अनंतानंत शक्ति-संपन्न भगवान आत्मा है; इसे ही जीव मानना सम्यक् श्रद्धान है।

इसप्रकार व्यवहार द्वारा बताया गया असमानजातीय द्रव्यपर्यायरूप जीव वास्तविक जीव नहीं होने के कारण, व्यवहार अनुसरण करने-योग्य नहीं है अर्थात् स्वयं को मनुष्य आदि पर्यायरूप नहीं मानकर ज्ञानानन्दस्वभावी शाश्वतसत्ता सम्पन्न मानना ही, व्यवहार का निषेध है।

२. व्यवहारनय ने ज्ञान-दर्शन आदि भेदकर जाननेवाला आत्मा, देखने वाला आत्मा – ऐसा कहा था; परन्तु यह कथन संज्ञा-संख्या आदि भेद की अपेक्षा किया गया औपचारिक कथन ही समझना, वास्तविक नहीं; क्योंकि भेद तो मात्र समझने-समझाने के लिए किए जाते हैं। आत्मा को वास्तव में भेदरूप मानना तो जिनवाणी में मिथ्यात्व कहा गया है। वास्तविक आत्मा तो भेदाभेद आदि अनन्तधर्मों, स्वभावों, शक्तिओं, गुणों का अभेद/अखण्ड पिण्ड है – ऐसा मानना ही सम्यक् श्रद्धान है।

इसप्रकार वास्तविक आत्मा व्यवहार द्वारा बताए गए भेद-प्रभेदवाला नहीं होने से, व्यवहार अनुसरण करने-योग्य नहीं है अर्थात् स्वयं को भेद रूप नहीं मानकर अभेद अखण्डपिण्ड मानना ही, व्यवहारनय का निषेध है।

३. व्यवहारनय ने व्रत, शील, संयम आदि को मोक्षमार्ग कहा था; परन्तु यह कथन परद्रव्य का निमित्त मिटने की अपेक्षा किया गया औपचारिक कथन ही समझना, वास्तविक नहीं; क्योंकि यदि आत्मा के परद्रव्य का ग्रहण-त्याग हो तो वह परद्रव्य का कर्ता-हर्ता हो जाए ! वास्तव में तो प्रत्येक द्रव्य स्वयं में पूर्णतया स्वतंत्र, त्यागोपादानशून्यत्व शक्तिसम्पन्न है; अत: आत्मा को वास्तव में परद्रव्य के ग्रहण-त्याग वाला मानना, जिनवाणी में मिथ्यात्व कहा गया है। आत्मा तो वास्तव में पर के लक्ष्य से होनेवाले अपने रागादि भावों को छोड़कर वीतरागी होता है; उस वीतराग भाव को ही मोक्षमार्ग मानना सम्यक् श्रद्धान है।

वीतरागभाव के और व्रतादि के कदाचित् निमित्त-नैमित्तिकरूप

कारण-कार्यपना होने से व्रतादि को मोक्षमार्ग कहना, व्यवहार का औपचारिक कथनमात्र होने के कारण व्यवहार अनुसरण करने-योग्य नहीं है अर्थात् परमार्थ से बाह्य क्रिया को मोक्षमार्ग नहीं मानकर, एक वीतरागभावमय सम्यक् रत्नत्रय को ही मोक्षमार्ग मानना, व्यवहारनय का निषेध है।

इसप्रकार निश्चय का प्रतिपादक होने पर भी व्यवहारनय औपचारिक कथन करनेवाला होने से तथा औपचारिक कथन को सत्य मानना अनन्त दु:खमय मिथ्यात्व होने से व्यवहार अनुसरण करने-योग्य नहीं है; वरन् निषेध करने-योग्य ही है।

प्रश्न ११ : निश्चय-व्यवहार संबंधी प्रतिपादन के सन्दर्भ में हमें कैसा जानना चाहिए ?

उत्तर : जिनवाणी में निश्चयनय की मुख्यता से जो कथन किया गया हो, उसे तो 'यह सत्यार्थ है, वास्तव में ऐसा ही है' – ऐसा जानना चाहिए तथा व्यवहारनय की मुख्यता से जो कथन किया गया हो, उसे 'यह असत्यार्थ है, वास्तव में ऐसा नहीं है, निमित्तादि की अपेक्षा उपचार से ऐसा कहा गया है' – ऐसा जानना चाहिए। यही इन दोनों नयों संबंधी सच्ची समझ है।

प्रश्न १२ : व्यवहारनय, मात्र पर को उपदेश देने के लिए ही कार्यकारी है या अपना भी कुछ प्रयोजन सिद्ध करता है ?

उत्तर : व्यवहारनय, मात्र पर को उपदेश देने के लिए ही कार्यकारी नहीं है; वरन् अपना भी प्रयोजन सिद्ध करता है। स्वयं को भी जबतक निश्चयनय से प्ररूपित वस्तु की पहिचान नहीं हुई हो; तबतक व्यवहार द्वारा वस्तु का निश्चय करना चाहिए; इसप्रकार निचली दशा में व्यवहारनय स्वयं को भी कार्यकारी है।

प्रश्न १३ : व्यवहारनय द्वारा वस्तु को समझते-समझाते समय क्या सावधानी रखनी चाहिए ?

उत्तर : **व्यवहार द्वारा वस्तु को समझते या समझाते समय यह बात ध्यान में रखना अत्यन्त आवश्यक है कि यदि व्यवहार को उपचारमात्र मानकर उसके द्वारा वस्तु को ठीक समझे, तब तो वह कार्यकारी है और यदि निश्चय के समान व्यवहार को भी सत्यभूत मानकर 'वस्तु ऐसी**

ही है' – ऐसा मान ले; तो उल्टा वह व्यवहार अकार्यकारी हो जाता है।

आचार्य अमृतचन्द्रस्वामी अपने पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय ग्रन्थ में तो यहाँ तक लिखते हैं –

"अबुधस्य बोधनार्थं, मुनीश्वरा: देशयन्त्यभूतार्थम्।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति ।।६।।
माणवक एव सिंहो, यथा भवत्यनवगीतसिंहस्य।
व्यवहार एव हि तथा, निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य ।।७।।

मुनीश्वर अज्ञानी को समझाने के लिए अभूतार्थरूप व्यवहार का उपदेश देते हैं; परन्तु जो मात्र व्यवहार को ही स्वीकार कर लेता है, उसे तो उपदेश देना ही योग्य नहीं है।

जैसे वास्तविक सिंह को नहीं जाननेवाला बिलाव को ही सिंह मान लेता है; उसीप्रकार निश्चय को नहीं जाननेवाले के लिए व्यवहार ही निश्चयता को प्राप्त हो जाता है अर्थात् वह व्यवहार को ही निश्चय/औपचारिक कथन को ही वास्तविक कथन मान लेता है (अत: वह उपदेश के योग्य नहीं है)।"

प्रश्न १४ : प्रथमानुयोग के व्याख्यान का विधान/कथन करने की पद्धति क्या है ?

उत्तर : प्रथमानुयोग में संसार की विचित्रता, पुण्य-पाप का फल, महापुरुषों की प्रवृत्ति आदि दिखाकर जीवों को धर्म में लगाया जाता है। इसमें मूल कथाएँ तो जैसी की तैसी/वही की वही होती हैं; परन्तु प्रसंग-प्राप्त व्याख्यान कुछ ज्यों के त्यों और कुछ ग्रन्थकर्ता के विचारानुसार होते हैं; पर प्रयोजन अन्यथा नहीं होता है। जैसे तीर्थंकरों के कल्याणकों में इन्द्र आए, उनने स्तुति आदि की – यह तो वैसा का वैसा ही सत्य है; परन्तु स्तुति आदि के शब्द हूबहू वैसे ही नहीं थे, अन्य थे। इसीप्रकार किन्हीं के पारस्परिक वार्तालाप में अक्षर तो अन्य निकले थे, ग्रंथकर्ता ने अन्य कहे; पर प्रयोजन एक ही पुष्ट करते हैं; नगर, वन, संग्रामादि के नामादि तो यथावत् रहते हैं; पर विशिष्ट प्रयोजन पुष्ट करते हुए वर्णन हीनाधिक भी हो जाता है।

इसमें कहीं-कहीं प्रसंगरूप कथाएँ भी ग्रन्थकर्ता अपने विचारानुसार लिखते हैं। जैसे 'धर्म-परीक्षा' में मूर्खों की कथाएँ लिखी हैं, तो वही कथाएँ

मनोवेग ने कही थीं – ऐसा नियम नहीं है; परन्तु मूर्खता की पोषक ही कही थीं; अत: ग्रन्थकर्ता ने भी वैसी ही लिख दीं।

यदि कोई धर्मबुद्धि से कुछ अनुचित कार्य भी करता है तो प्रथमानुयोग में उसकी भी प्रशंसा कर देते हैं; जैसे विष्णुकुमारजी ने धर्मानुराग से मुनि-पद छोड़कर भी मुनिराजों का उपसर्ग दूर किया। यहाँ यद्यपि मुनिपद छोड़ना और कषायादिमय कार्य करना उचित नहीं है; तथापि वात्सल्य अंग की प्रधानता से विष्णुकुमारजी की भी प्रशंसा की गई। इसे प्रथमानुयोग की शैली समझकर उसका अनुकरण नहीं करना; क्योंकि ऊँचाधर्म छोड़कर, नीचाधर्म अंगीकार करना उचित नहीं है।

शीतकाल में ग्वाले ने करुणाबुद्धि से मुनिराज को तपाया – यह कार्य उपसर्ग का कार्य है, विवेकी ऐसा कार्य नहीं करते हैं; ग्वाला अविवेकी होने से उसने यह कार्य कर लिया; प्रथमानुयोग में उसकी प्रशंसा भी की गई है; परन्तु अन्य को इसका अनुसरण करना योग्य नहीं है।

इसीप्रकार पुत्रादि की प्राप्ति के लिए या रोग-कष्टादि को दूर करने के लिए स्तुति-पूजनादि कार्य करना कांक्षा नामक दोष और निदान नामक आर्तध्यान होने से यद्यपि पापबंध का कारण है; तथापि मोहित होकर बहुत पापबंध के कारणभूत कुदेवादि का सेवन नहीं करने के कारण उसकी भी प्रशंसा प्रथमानुयोग में कर दी जाती है; परन्तु उसका अनुसरण कर अन्य को लौकिक कार्यों के लिए धर्म-साधन करना उचित नहीं है।

इसीप्रकार प्रथमानुयोग में जिसकी मुख्यता हो, उसी का पोषण करते हैं; जैसे किसी ने शीलादि की प्रतिज्ञा दृढ़ रखी, नमस्कार मंत्र का स्मरण किया; उससमय कुछ अतिशय प्रगट हुए। यद्यपि यह अन्य किन्हीं पूर्वकृत पुण्य परिणामों से बँधे पुण्यकर्म के उदय का फल भी हो सकता है; तथापि वहाँ उन्हें शीलादि या नमस्कार मंत्र का फल बता देते हैं।

इसीप्रकार किसी पाप करनेवाले को नीचगति या कष्ट आदि मात्र उसी पाप के फल में प्राप्त नहीं हुए हैं; वरन् अन्य-अन्य कर्मों के फल में प्राप्त हुए हैं; तथापि उसे उसी एक पाप का फल बता देते हैं।

इस अनुयोग में धर्म का एक अंग होने पर सम्पूर्ण धर्म हुआ कह देते हैं;

मात्र बाह्य वेष धारण करने से भी मुनि आदि कह देते हैं इत्यादि अनेकानेक प्रकार से इसमें औपचारिक कथनों की बहुलता होती है; अत: इसकी कथन-पद्धति को गम्भीरतापूर्वक समझना चाहिए।

प्रश्न १५ : करणानुयोग के व्याख्यान का विधान क्या है ?

उत्तर : करणानुयोग में केवलज्ञानगम्य वस्तु का व्याख्यान है। केवलज्ञान में तो तीनकाल-तीनलोकवर्ती समस्त पदार्थ ज्ञात हुए हैं; परन्तु इसमें छद्मस्थ के ज्ञान में कुछ भाव भासित हो सके, इस रूप में जीव-कर्मादि, त्रिलोकादि का निरूपण होता है। जैसे जीव के अनन्त भाव होने पर भी, बहुत भावों की एक जाति बनाकर; चौदह गुणस्थान कहे। जीवों को जानने के अनेक प्रकार हैं; उनमें से यहाँ चौदह मार्गणाओं का निरूपण किया इत्यादि।

व्यवहार के बिना विशेष ज्ञात नहीं होने के कारण करणानुयोग में भी क्षेत्र, काल, भावादि से अखंडित वस्तु का प्रमाण प्रदेश, समय, अविभा-ग-प्रतिच्छेदादि की कल्पना करके निरूपित करते हैं। पूर्णतया असम्बद्ध होने पर भी जीव-पुद्गल आदि के संबंध को मुख्य कर गति, जाति आदि भेदों का निरूपण करते हैं। कहीं-कहीं निश्चय वर्णन भी पाया जाता है; जैसे जीवादि द्रव्यों की संख्या वास्तव में जितनी है, उतनी ही बताई गई है इत्यादि।

करणानुयोग का जो निरूपण छद्मस्थ को प्रत्यक्ष-अनुमान आदि से ज्ञात नहीं होता है; उसे आज्ञाप्रमाणरूप में ही स्वीकार किया जाता है।

इसमें मुख्यतया छद्मस्थों की प्रवृत्ति के अनुसार वर्णन नहीं होता है; वरन् केवलज्ञानगम्य पदार्थों का निरूपण होता है; अत: उसके अनुसार उद्यम नहीं किया जा सकता है। **इसमें आचरण कराने की मुख्यता नहीं है; वरन् यथार्थ पदार्थ बतलाने की मुख्यता रहती है; अत: स्वयं को तो द्रव्यानुयोग, चरणानुयोग के अनुसार प्रवर्तन करना चाहिए; उससे जो कार्य होता है, वह स्वयमेव हो जाता है।**

जैसे कोई कर्मादि के उपशमादि करना चाहेगा तो कैसे करेगा ? स्वयं तो तत्त्वादि का निश्चय करने का उद्यम करे; उससे उपशमादि सम्यक्त्व स्वयमेव हो जाता है। इसप्रकार करणानुयोग से जैसे का तैसा जान तो

लेना चाहिए; परन्तु प्रवृत्ति तो बुद्धि-गोचर जैसे अपना भला हो, वैसी करना चाहिए।

कहीं-कहीं उपदेश की मुख्यता सहित व्याख्यान भी करणानुयोग में होता है; परन्तु उसे सर्वथा उसीप्रकार नहीं मानना चाहिए। जैसे छुड़ाने के अभिप्राय से हिंसादि के उपाय को कुमतिज्ञान कहा; अन्य मतादि संबंधी शास्त्रों के अभ्यास को कुश्रुतज्ञान कहा; बुरा दिखने, भला न दिखने को विभंगज्ञान कहा है इत्यादि। वास्तव में तो मिथ्यादृष्टि का समस्त ज्ञान कुज्ञान और सम्यग्दृष्टि का सम्पूर्ण ज्ञान सुज्ञान है।

इसीप्रकार स्थूलता और मुख्यता से किए गए अन्य कथनों को भी सर्वथा वैसा ही नहीं मान लेना चाहिए।

इत्यादि प्रकार से इसकी कथन-पद्धति में विविधता है; अतः इसे गम्भीरतापूर्वक समझकर करणानुयोग का अभ्यास करना चाहिए।

प्रश्न १६ : चरणानुयोग के व्याख्यान का विधान क्या है ?

उत्तर : चरणानुयोग में जिसप्रकार जीवों के अपनी बुद्धिगोचर धर्म का आचरण हो, वैसा उपदेश दिया जाता है। यद्यपि वीतरागतामय निश्चयरूप मोक्षमार्ग ही वास्तविक धर्म है; शेष व्रत, शील, संयम आदि साधनादि तो उपचार से व्यवहार धर्म हैं; परन्तु वास्तविक धर्म में ग्रहण-त्याग का कुछ भी विकल्प नहीं होने से यहाँ व्यवहारनय की मुख्यता से ही कथन किया जाता है। इस अपेक्षा इसमें दो प्रकार से उपदेश दिया जाता है – १. मात्र व्यवहार का और २. निश्चयसहित व्यवहार का।

मात्र व्यवहार के उपदेश में तो बाह्य क्रियाओं की ही प्रधानता होती है; उनके उपदेश से जीव पाप-क्रिया छोड़कर पुण्य-क्रियाओं में प्रवृत्ति करते हैं। उससे किन्हीं के क्रिया के अनुसार परिणाम भी तीव्र कषाय से मन्द कषाय रूप हो जाते हैं। किन्हीं के परिणाम नहीं सुधरें तो नहीं भी सुधरें; परन्तु **श्रीगुरु तो परिणाम सुधारने के लिए ही बाह्य क्रियाओं का उपदेश देते हैं।**

निश्चय सहित व्यवहार के उपदेश में परिणामों की ही प्रधानता होती है। उसके उपदेश से तत्त्वज्ञान के अभ्यास द्वारा व वैराग्यभावना द्वारा परिणाम सुधरने पर परिणामानुसार बाह्य क्रिया भी सुधर जाती है।

जिन जीवों को निश्चय का ज्ञान नहीं है तथा उपदेश देने पर होने की

सम्भावना भी नहीं है, उन जीवों को तो मात्र व्यवहार का ही उपदेश देते हैं; तथा जिन जीवों को निश्चय-व्यवहार का ज्ञान है अथवा उपदेश देने पर होना सम्भव है, उन **सम्यग्दृष्टि या सम्यक्त्वसन्मुख मिथ्यादृष्टि जीवों को निश्चयसहित व्यवहार का उपदेश देते हैं।**

मात्र व्यवहार के उपदेश में सम्यग्दर्शन के लिए अरहन्त देव, निर्ग्रन्थ गुरु, दयामयी धर्म को ही मानना, अन्य को नहीं; कहे गए जीवादि तत्त्वों के व्यवहारस्वरूप का श्रद्धान करना, शंकादि पच्चीस दोष नहीं लगाना, नि:शंकित आदि अंग और संवेगादि गुणों का पालन करना इत्यादि उपदेश देते हैं। सम्यग्ज्ञान के लिए जिनवाणी का स्वाध्याय करना, अर्थ-व्यंजन आदि ज्ञान के आठ अंगों का साधन करना इत्यादि उपदेश देते हैं। सम्यक्चारित्र के लिए एकदेश या सर्वदेश हिंसादि पापों का त्याग करना, व्रतादि अंगों का पालन करना इत्यादि उपदेश देते हैं।

निश्चयसहित व्यवहार के उपदेश में सम्यग्दर्शन के लिए निश्चय-व्यवहार शैली द्वारा जीवादि तत्त्वों का यथार्थ स्वरूप समझाकर, स्व-पर के भेदज्ञानपूर्वक परद्रव्य में रागादि छोड़ने के प्रयोजनसहित उन तत्त्वों के श्रद्धान का उपदेश देते हैं। इससे अरहंतादि के सिवाय अन्य देवादि मिथ्या भासित होने पर स्वयमेव उन्हें मानना छूट जाने से उनका भी निरूपण करते हैं।

सम्यग्ज्ञान के लिए संशयादि से रहित हो उन्हीं तत्त्वों को उसीप्रकार जानने का उपदेश देते हैं। जिनवाणी का अभ्यास इसमें कारणभूत होने से इस प्रयोजन के लिए उसमें स्वयमेव प्रवृत्ति होने के कारण इसका भी निरूपण करते हैं।

सम्यक्चारित्र के लिए रागादि दूर करने का उपदेश देते हैं। वहाँ एकदेश या सर्वदेश तीव्र रागादि का अभाव होने पर, उनके निमित्त से होनेवाली एकदेश व सर्वदेश पापक्रिया भी सहज छूट जाती है; मंदराग से श्रावक-मुनि के व्रतों में प्रवृत्ति होती है और मन्दराग का भी अभाव होने पर शुद्धोपयोगरूप प्रवृत्ति होती है; अत: उसका भी निरूपण करते हैं।

इस अनुयोग की एक यह भी पद्धति है कि यद्यपि कषाय करना बुरा ही है; तथापि सर्व कषाय छूटते न जानकर, जितने कषाय घटें, उतना ही भला

होगा – इस प्रयोजन से मन्दकषायरूप कार्य करने का उपदेश देते हैं। जिन जीवों के आरम्भादि करने की इच्छा दूर नहीं हुई है; उन्हें चैत्यालय आदि बनवाने, पूजा-प्रभावना आदि करने का उपदेश देते हैं।

इसीप्रकार जिनके आरम्भादि करने की इच्छा दूर हुई है; उन्हें पूर्वोक्त पूजादि कार्य और सभी पापकार्य छुड़ाकर महाव्रतादिरूप क्रियाओं का उपदेश देते हैं। जिनके किंचित् रागादि छूट गए हैं; उन्हें दया, धर्मोपदेश, प्रतिक्रमण आदि कार्य करने का उपदेश देते हैं। जिनके समस्त राग नष्ट हो गया है; उन्हें करने के लिए कुछ भी कार्य शेष नहीं होने से, उन्हें कुछ उपदेश भी नहीं है।

इस अनुयोग की एक यह भी पद्धति है कि इसमें कषायी जीवों को कषाय उत्पन्न कराके भी पाप छुड़ाकर धर्म में लगाते हैं; जैसे पाप के फल में नरकादि के दु:ख दिखाकर, भय कषाय उत्पन्न कर पाप छुड़ाकर; पुण्य के फल में स्वर्गादि के सुख दिखाकर, लोभ कषाय उत्पन्न कर धर्म कार्यों में लगाते हैं।

यह जीव इन्द्रिय-विषय, शरीर, पुत्र, धनादि के अनुराग से पाप करता है; धर्म से पराङ्मुख रहता है। इस अनुयोग में इन्द्रिय-विषयों को मरण, क्लेश आदि का कारण बतलाकर, उनके प्रति अरति कषाय भी कराते हैं; शरीर को अशुचि बताकर, उसके प्रति जुगुप्सा कषाय भी कराते हैं; पुत्रादि को धनादि का ग्राहक बताकर उनके प्रति द्वेष भी कराते हैं; धनादि को मरण, क्लेश आदि का कारण बताकर उनके प्रति अनिष्ट बुद्धि भी कराते हैं इत्यादि उपायों द्वारा विषयादि में तीव्र राग दूर होने से, उनके पापक्रिया छूटकर धर्म में प्रवृत्ति होती है।

इसीप्रकार नामस्मरण, स्तुतिकरण, पूजा, दान, शीलादि से इस लोक में भी दरिद्रता आदि कष्ट दूर होते हैं; पुत्र-धनादि की प्राप्ति होती है इत्यादि निरूपण द्वारा लोभ उत्पन्न कराके भी धर्म कार्यों में लगाते हैं।

इस अनुयोग की एक यह भी पद्धति है कि इसमें लौकिक दृष्टान्त, युक्ति, उदाहरण, न्यायवृत्ति आदि द्वारा समझाकर तथा अन्यमत के भी उदाहरण आदि देकर जीव जैसे पाप छोड़कर धर्म में लगे, वैसा अनेक युक्तिओं द्वारा वर्णन करते हैं।

इसमें छद्मस्थ के बुद्धिगोचर, स्थूलता से लोक-प्रवृत्ति की मुख्यता सहित उपदेश देते हैं; जैसे अणुव्रती के त्रस-हिंसा का त्याग कहा; वहाँ लोक में जिसका नाम त्रस-घात है, उसे नहीं करता है – इस अपेक्षा समझना; केवलज्ञान-गोचर सूक्ष्म-अपेक्षा नहीं समझना। इसीप्रकार मुनिराजों के स्थावर-हिंसा आदि का त्याग समझना चाहिए।

इस अनुयोग के नामादि भी व्यवहार लोकप्रवृत्ति की अपेक्षा ही समझना; जैसे सम्यक्त्वी को पात्र और मिथ्यादृष्टि को अपात्र कहा है। इसमें दानादि चरणानुयोग के अनुसार होने से सम्यक्त्व, मिथ्यात्व भी चरणानुयोग के ही ग्रहण करना; करणानुयोग या द्रव्यानुयोग के नहीं; क्योंकि इनके अनुसार उनका निर्णय हो पाना कठिन है; अत: यहाँ जिसके जिनदेवादि का श्रद्धान है, वह सम्यक्त्वी और जिसके उनका श्रद्धान नहीं है, उसे मिथ्यात्वी जानना चाहिए।

इसप्रकार गहराई से चरणानुयोग की प्रतिपादन-शैली समझकर, उसका यथार्थ श्रद्धान करना चाहिए।

प्रश्न १७ : द्रव्यानुयोग के व्याख्यान का विधान क्या है ?

उत्तर : द्रव्यानुयोग में जीवों को जीवादि तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान जैसे हो, उसप्रकार विशेष युक्ति, हेतु, दृष्टान्तादि द्वारा वर्णन करते हैं; क्योंकि इसमें यथार्थ श्रद्धान कराने का प्रयोजन है। जीवादि वस्तु अभेद होने पर भी भेद-कल्पना द्वारा व्यवहार से द्रव्य-गुण-पर्यायादि भेदों का निरूपण करते हैं। प्रतीति कराने के लिए प्रमाण-नयात्मक अनेकानेक युक्तिओं द्वारा उपदेश देते हैं। वस्तु का अनुमान-प्रत्यभिज्ञान आदि कराने के लिए हेतु-दृष्टान्त आदि देते हैं। मोक्षमार्ग का श्रद्धान कराने के लिए जीवादि तत्त्वों का विशेष युक्ति, हेतु, दृष्टान्त आदि द्वारा निरूपण करते हैं। स्व-पर का भेदविज्ञान जैसे हो, वैसे जीव-अजीव का; वीतराग भाव जैसे हो, वैसे आस्रवादि का वर्णन करते हैं।

इसमें निश्चय अध्यात्म उपदेश को मुख्यकर ज्ञान-वैराग्य के कारणभूत आत्मानुभव आदि की महिमा गाते हैं तथा व्यवहार कार्य का निषेध करते हैं। जो जीव आत्मानुभव का उपाय नहीं करते हैं, बाह्य क्रियाकाण्ड में ही मग्न हैं; उन्हें वहाँ से उदास कर आत्मानुभव आदि में लगाने के लिए व्रत,

शील, संयम आदि का हीनपना भी प्रगट करते हैं; परन्तु इसका प्रयोजन अशुभ में लगाना नहीं है; वरन् शुद्धोपयोग में लगाने के लिए शुभोपयोग का निषेध किया गया है; क्योंकि बन्ध-कारण की अपेक्षा अशुभ-शुभ – दोनों ही समान होने पर भी अशुभ की अपेक्षा शुभ कुछ भला है। वह तीव्र कषायरूप है, यह मन्द कषायरूप है; अतः **शुभ को छोड़कर अशुभ में लगना तो किसी भी अपेक्षा, किसी को भी उचित नहीं है।**

इस अनुयोग की एक यह भी पद्धति है कि इसमें जो जीव जिन-बिम्ब आदि के प्रति भक्ति आदि कार्यों में ही मग्न हैं, उन्हें आत्मश्रद्धान आदि कराने के लिए 'देह में देव है, मंदिर में नहीं' – इत्यादि उपदेश देते हैं; परन्तु इससे ऐसा नहीं समझना कि भक्ति आदि छोड़कर, भोजन आदि से अपने को सुखी करना। इसीप्रकार अन्य व्यवहार क्रियाओं का निषेध सुनकर प्रमादी नहीं होना; क्योंकि व्यवहार-साधन में ही मग्न जीवों को निश्चय की रुचि कराने के लिए ऐसा उपदेश दिया गया है; अशुभ-प्रवर्तन के लिए नहीं।

इसीप्रकार सम्यग्दर्शन की महिमा बताने के लिए इसमें सम्यग्दृष्टि के विषय-भोगादि को बंध का कारण न कहकर, निर्जरा का कारण कहा है। उसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि भोगादि के भाव से तीव्र बंध होता है; परन्तु श्रद्धा-शक्ति के बल से तीव्र आसक्ति/उनमें सुख-बुद्धि आदि रूप विपरीत मान्यता आदि का अभाव हो जाने के कारण भाव की मन्दता से होनेवाले मंद बंध को गौण करके नहीं गिना तथा मिथ्यात्व का अभाव हो जाने से प्रतिसमय होनेवाली संवरपूर्वक निर्जरा को मुख्य कर, भोगों को भी बंध का कारण न कहकर, उपचार से निर्जरा का कारण कह दिया है।

इसमें वास्तविकता तो यह है कि भोग का भाव निर्जरा का कारण नहीं है; मिथ्यात्व और कषाय-शक्ति का अभाव निर्जरा का कारण है। यदि भोग निर्जरा के कारण होते तो सम्यग्दृष्टि उन्हें छोड़कर मुनिपद धारण क्यों करते? अतः इस कथन का इतना ही प्रयोजन समझना कि देखो सम्यक्त्व की महिमा ! जिसके बल से भोग-भाव भी अपना कार्य करने में शिथिल हो गए हैं।

इस द्रव्यानुयोग में भी चरणानुयोग के समान ग्रहण-त्याग कराने का प्रयोजन होने से छद्मस्थ के बुद्धिगोचर परिणामों की अपेक्षा ही कथन करते हैं। अन्तर मात्र इतना है कि **चरणानुयोग में बाह्य क्रिया की मुख्यता से वर्णन करते हैं और द्रव्यानुयोग में आत्मपरिणामों की मुख्यता से वर्णन करते हैं; परन्तु करणानुयोग के समान सूक्ष्म वर्णन नहीं करते हैं।**

जैसे उपयोग के शुभ, अशुभ, शुद्ध भेद छद्मस्थ के बुद्धिगोचर परिणामों की अपेक्षा किए हैं। जिस समय छद्मस्थ जीव बुद्धिगोचर भक्ति आदि और हिंसा आदि कार्यरूप परिणामों को छोड़कर आत्मानुभव आदि कार्यों में प्रवर्तता है, उस समय उसे शुद्धोपयोगी कह देते हैं, पर वास्तव में पूर्ण शुद्धोपयोग तो यथाख्यात चारित्र में होता है; यहाँ तो मात्र बुद्धिगोचर रागादि का अभाव होने से शुद्धोपयोग कहा है।

इसप्रकार **द्रव्यानुयोग के कथन की पद्धति स्थूल होने से सर्वत्र करणानुयोग से मिल नहीं पाती है।**

द्रव्यानुयोग में अन्यमत प्ररूपित तत्त्वादि को असत्य बतलाने के लिए उनका निषेध करते हैं। यहाँ इसमें कुछ द्वेष बुद्धिवश ऐसा नहीं करते हैं; वरन् उन्हें असत्य बतलाकर सत्य का श्रद्धान कराने के लिए ऐसा करते हैं।

इसप्रकार द्रव्यानुयोग के व्याख्यान का विधान गहराई से समझकर उससे हमें अपने आत्मानुभव का प्रयोजन सिद्ध करना चाहिए।

प्रश्न १८ : चारों अनुयोगों की कथन-पद्धति पृथक्-पृथक् होने पर भी सभी का मूल प्रयोजन क्या है ?

उत्तर : चारों अनुयोगों की कथन-पद्धति पृथक्-पृथक् होने पर भी सभी का प्रयोजन एकमात्र वीतरागता का पोषण करना है। प्रसंगानुसार कहीं पर बहुत रागादि छुड़ाकर अल्प रागादि करने का प्रयोजन पुष्ट किया गया है तथा कहीं पर सम्पूर्ण रागादि छोड़ने का प्रयोजन पुष्ट किया गया है; परन्तु रागादि बढ़ाने का प्रयोजन कहीं पर भी पुष्ट नहीं किया जाता है; अतः अधिक क्या कहें! इतना समझ लेना कि जिसप्रकार से रागादि मिटाने का श्रद्धान हो, वही श्रद्धान सम्यग्दर्शन है; जिसप्रकार से रागादि मिटाने का

जानना हो, वही जानना सम्यग्ज्ञान है तथा जिसप्रकार से रागादि मिटें, वही आचरण सम्यक्चारित्र है।

इसप्रकार चारों अनुयोगों में सर्वत्र एक वीतरागता का ही प्रयोजन पुष्ट किया जाता है।

प्रश्न ११ : शास्त्रों का अध्ययन करते समय यदि कहीं परस्पर विरोध भासित हो तो क्या करें ?

उत्तर : वास्तव में तो समस्त ही जिनवाणी एकमात्र वीतरागता की पोषक होने से उसमें परस्पर विरोधी कथन होते ही नहीं हैं। हमें अपेक्षाओं का सही ज्ञान नहीं होने से विरोध भासित होता है। जिनवाणी में समस्त कथन अपेक्षा से किया गया है। कहीं स्थूल-सूक्ष्म की अपेक्षा कथन है तो कहीं मुख्य-गौण की अपेक्षा कथन है; कहीं वास्तविक कथन है तो कहीं औप-चारिक; कहीं असंयोगी वस्तु का कथन है तो कहीं संयोगी वस्तु का; कहीं द्रव्य की मुख्यता से कथन है तो कहीं पर्याय की मुख्यता से; कहीं प्रमाण -दृष्टि से कथन है तो कहीं नय-दृष्टि से इत्यादि रूप में विविध दृष्टिकोणों से कथन है।

जो जीव स्यात् पद की सापेक्षता सहित शास्त्रों का अर्थ समझने की पद्धति को हृदयंगम कर यथार्थ प्रयोजन पहिचानते हुए जिनवाणी के अभ्यास से अपने हित-अहित का निर्णय करते हैं; वे अवश्य ही सुख-शान्ति को प्राप्त करते हैं। मोक्षमार्ग में पहला उपाय आगम-ज्ञान कहा है। आगम-ज्ञान बिना धर्म का साधन नहीं हो सकता है; अतः हमें यथार्थ बुद्धि द्वारा अपने परिणामों की अवस्था देखकर धर्म में प्रवृत्ति बढ़ाते हुए स्यादाद शैली पूर्वक जिनवाणी का सतत अभ्यास करना चाहिए। ○

आचरणीय मध्यस्थ वृत्ति

व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः ॥पु.सि.उ.८॥

जो तत्त्व से व्यवहार-निश्चय को जानकर मध्यस्थ होता है, वही शिष्य देशना के अविकल फल को प्राप्त करता है।

पाठ ३ : पुण्य और पाप

प्रश्न १ : पुण्य और पाप का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : पुण्य और पाप दोनों आत्मा की विकारी अन्तर्वृत्तिआँ हैं। देवपूजा, गुरूपासना, दया, दान, व्रत, शील, संयम आदि रूप प्रशस्त परिणाम/शुभभाव, पुण्यभाव कहलाते हैं; इनका फल लौकिक अनुकूलताओं की प्राप्ति है। हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह-संचय आदि रूप अप्रशस्त परिणाम/अशुभभाव, पापभाव कहलाते हैं; इनका फल लौकिक प्रतिकूलताओं की प्राप्ति है।

जिसके बंध में विशुद्ध भावों से विशेषता आती है, वह पुण्य कर्म है और जिसके बंध में संक्लिष्ट भावों से विशेषता आती है, वह पाप कर्म है। प्रशस्त राग, अनुकम्पा, कलुषता रहित भाव, अरहन्त आदि पंचपरमेष्ठिओं के प्रति भक्ति-भाव, व्रत, शील, संयम, दान, मंदकषाय आदि विशुद्ध भाव पुण्यबंध के कारण हैं और साता वेदनीय, शुभ आयु, उच्चगोत्र, देव गति आदि शुभ नाम पुण्य कर्म हैं।

प्रमाद सहित प्रवृत्ति, चित्त की कलुषता, विषयों की लोलुपता, दूसरों को संताप देना, दूसरों का अपवाद करना, आहार-भय-मैथुन-परिग्रह आदि संज्ञाएँ, तीनों कुज्ञान, आर्त-रौद्रध्यान, मिथ्यात्व, अप्रशस्त राग, द्वेष, अव्रत, असंयम, बहुत आरम्भ-परिग्रह के भाव, दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, योगवक्रता, आत्मप्रशंसा, मूढ़ता, अनायतन, तीव्र कषाय आदि संक्लिष्ट भाव पापबंध के कारण हैं और ज्ञानावरण, दर्शनावरण, असाता वेदनीय, मोहनीय, नरकायु, तिर्यंच गति आदि अशुभ नाम, नीच गोत्र, अन्तराय पाप कर्म हैं।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव अपने प्रवचनसार ग्रंथ की १८१वीं गाथा के पूर्वार्ध में पुण्य-पाप का स्वरूप इसप्रकार लिखते हैं –

"**सुहपरिणामो पुण्णं, असुहो पावं ति भणियमण्णेसु।**

पर के प्रति शुभ परिणाम पुण्य है और अशुभ परिणाम पाप है।"

वे ही अष्टपाहुड़, भावपाहुड़ की ८३वीं गाथा के पूर्वार्ध में पुण्य का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखते हैं –

"पूयादिसु वयसहियं, पुण्णं हि जिणेहिं सासणे भणियं।

पूजा आदि, व्रत सहित प्रवृत्ति आदि को जिनशासन में पुण्य कहा है।"

कविवर पण्डित बनारसीदासजी नाटक समयसार की उत्थानिका में पुण्य-पाप का स्वरूप इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"जो विशुद्ध भावनि बँधे, अरु उरधमुख होइ।
जो सुखदायक जगत में, पुण्य पदारथ सोइ ॥२८॥

जो विशुद्ध/शुभभावों से बँधता है, स्वर्गादि के सम्मुख होता है और लौकिक सुख देनेवाला है, वह पुण्य पदार्थ है।"

"संक्लेश भावनि बँधे, सहज अधोमुख होइ।
दुखदायक संसार में, पाप पदारथ सोइ ॥२९॥

जो संक्लेश/अशुभभावों से बँधता है, सहज/अपने आप नीचे गिरता है और संसार में दुःख देनेवाला है, वह पापपदार्थ है।"

यहीं पुण्य-पाप के पर्यायवाची नाम बताते हुए वे लिखते हैं –

"पुण्य सुकृत ऊरधवदन, अकररोग शुभकर्म।
सुखदायक संसारफल, भाग बहिर्मुख धर्म ॥४०॥

पुण्य, सुकृत, ऊर्ध्ववदन, अकररोग (अकड़रोग), शुभकर्म, सुख-दायक, संसार फल, भाग्य, बहिर्मुख, धर्म – ये पुण्य के नाम हैं।"

"पाप अधोमुख, एन, अघ, कंपरोग दुखधाम।
कलिल कलुस किल्विस दुरित, असुभ करम के नाम ॥४१॥

पाप, अधोमुख, एन, अघ, कंपरोग, दुखधाम, कलिल, कलुष, किल्विष, दुरित – ये अशुभ कर्म के नाम हैं।"

संक्षेप में कहा जा सकता है कि आत्मा की विभाव परिणति को पुण्य-पाप कहते हैं।

प्रश्न २ : पुण्य और पाप में कारण आदि भेदों को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : पुण्य और पाप आस्रव-बन्धतत्त्व के ही विशेष होने पर भी इनमें

पारस्परिक कुछ अन्तर है। जिसे कविवर पण्डित बनारसीदासजी ने नाटक समयसार के पुण्य-पाप एकत्वद्वार में इसप्रकार स्पष्ट किया है –

"कोऊ सिष्य कहै गुरु पाँहीं, पाप पुण्य दोऊ सम नाँही।
कारण रस सुभाव फल न्यारे, एक अनिष्ट लगैं इक प्यारे ॥४॥

श्रीगुरु के समीप कोई शिष्य कहता है कि पाप-पुण्य दोनों समान नहीं हैं। दोनों के कारण, रस, स्वभाव और फल पृथक्-पृथक् होने से एक अनिष्ट/अप्रिय तथा दूसरा इष्ट/प्रिय लगता है।"

इसका ही विस्तार करते हुए वे वहाँ ही लिखते हैं –

"संकलेस परिनामनि सौं पाप बंध होई,
विसुद्ध सौं पुण्य बंध हेतुभेद मानिए।
पाप के उदै असाता ताकौ है कटुक स्वाद,
पुन्न उदै साता मिष्ट रस भेद जानिए॥
पाप संकलेसरूप पुन्न है विसुद्धरूप,
दुहु को सुभाव भिन्न भेद यों बखानिए।
पाप सौं कुगति होइ पुन्न सौं सुगति होइ,
ऐसो फलभेद परतच्छि परमानिए॥५॥

संक्लेश परिणामों से पाप बंध होता है और विशुद्ध परिणामों से पुण्य बंध होता है – इसप्रकार दोनों में कारण-भेद विद्यमान है। पाप के उदय में असाता होती है, जिसका स्वाद कटुक है और पुण्य के उदय में साता होती है, जिसका स्वाद मधुर है – इसप्रकार दोनों में रस-भेद पाया जाता है। पाप परिणाम स्वयं संक्लेशरूप है और पुण्य परिणाम विशुद्धरूप है – इस प्रकार दोनों में स्वभाव-भेद पाया जाता है। पाप से नरकादि कुगतिओं में जाना पड़ता है और पुण्य से देवादि सुगतिओं की प्राप्ति होती है – इसप्रकार दोनों में फल-भेद भी प्रत्यक्ष दिखाई देता है। इन चार तथ्यों से यह स्पष्ट है कि पुण्य-पाप दोनों पृथक्-पृथक् हैं।"

ये ही कविवर पण्डित बनारसीदासजी "उपादान-निमित्त की चिट्ठी" में संक्लेशरूप चारित्र और विशुद्धरूप चारित्रमय चारित्रगुण की दो अव-स्थाएँ बताकर, स्थिरतारूप परिणाम को विशुद्धता कहकर, विशुद्धता में

शुद्धता/ऊर्ध्वता करनेवाली गर्भित शुद्धता के रूप में पाप-पुण्य का भेद स्पष्ट करते हैं।

पुण्य-पाप को पृथक्-पृथक् बताते हुए आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी मोक्ष-मार्ग-प्रकाशक के नवमें अधिकार में लिखते हैं –

"**पुण्य-पाप का श्रद्धान होने पर पुण्य को मोक्षमार्ग न माने या स्वच्छन्दी होकर पापरूप न प्रवर्ते इसलिए मोक्षमार्ग में इनका श्रद्धान भी उपकारी जानकर दो तत्त्व, विशेष के विशेष मिलाकर नव पदार्थ कहे।**"

इसप्रकार लौकिक दृष्टि से, नव पदार्थों की दृष्टि से पुण्य-पाप में अन्तर है। पुण्य में आकुलता कम और पाप में आकुलता अधिक होने से पाप की अपेक्षा पुण्य को अच्छा भी कहते हैं। शुद्ध दशा होने के पूर्व नियम से शुभभाव होने के कारण तथा शुद्धदशा का निमित्त या सहचारी होने के कारण शुभभाव को उपचार से जिनागम में व्यवहारधर्म भी कहा गया है। संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन आदि की अपेक्षा भी इनमें अन्तर है।

प्रश्न ३ : पुण्य-पाप – दोनों में सयुक्तिक एकत्व सिद्ध कीजिए।

उत्तर : वास्तव में पुण्य-पाप – दोनों ही बंधनमय, बंध के कारण, कर्म के उदय में होनेवाले पराधीन, विकृत, आकुलतामय परिणाम होने से एक आस्रव-बंधरूप ही हैं। आचार्य कुन्दकुन्ददेव अपने समयसार नामक ग्रन्थ के पुण्य-पाप अधिकार में इसे इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"**कम्ममसुहं कुसीलं, सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं।**
कह तं होदि सुसीलं, जं संसारं पवेसेदि ॥४५॥
सोवण्णियं पि णियलं, बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं।
बंधदि एवं जीवं, सुहमसुहं वा कदं कम्मं ॥४६॥
तम्हा दु कुसीलेहिं य, रायं मा कुणह मा व संसग्गं।
साहीणो हि विणासो, कुसीलसंसग्गरायेण ॥४७॥

अशुभकर्म कुशील है और शुभकर्म सुशील है – ऐसा तुम जानते हो; परन्तु जो शुभकर्म जीव का प्रवेश संसार में कराता है, वह सुशील कैसे हो सकता है ?

जैसे लोहे की बेड़ी के समान सोने की बेड़ी भी पुरुष को बाँधती है; उसीप्रकार अशुभकर्म के समान शुभकर्म भी जीव को बाँधता ही है।

इसलिए इन दोनों पुण्य-पापरूप कुशीलों के साथ राग व संसर्ग मत करो; क्योंकि कुशील के साथ संसर्ग व राग करने से स्वाधीनता का नाश होता है।''

वास्तव में दोनों ही भाव बंध के कारण होने से समान ही हैं, मुक्त दशा तो दोनों के त्याग में ही व्यक्त होती है – ऐसा भाव व्यक्त करते हुए मुनिश्री योगीन्दुदेव 'योगसार' में लिखते हैं –

''पुण्णिं पावइ सग्ग जिउ, पावएँ णरयणिवासु।
बे छंडिवि अप्पा मुणई, तो लब्भई सिववासु ।।३२।।

पुण्य से जीव स्वर्ग और पाप से नरक के निवास को प्राप्त करता है। इन दोनों को छोड़कर जो आत्मा को जानता है, वह शिववास मोक्षदशा को प्राप्त करता है।''

कविवर पं. बनारसीदासजी नाटक समयसार के पुण्य-पाप एकत्वद्वार में दोनों को एक समान बताते हुए लिखते हैं –

''जैसे काहू चंडाली जुगलपुत्र जनें तिनि,
एक दियौ बाँभन कैं एक घर राख्यौ है।
बाँभन कहायौ तिनि मद्य माँस त्याग कीनौ,
चंडाल कहायौ तिनि मद्य माँस चाख्यौ है।।
तैसें एक वेदनी करम के जुगल पुत्र,
एक पाप एक पुन्न नाम भिन्न भाख्यौ है।
दुहूँ माँहि दौर धूप दोऊ कर्मबंधरूप,
यातैं ग्यानवंत नहिं कोउ अभिलाख्यौ है ।।३।।

जैसे किसी चांडालनी के युगल/जुड़वा पुत्र हुए। उसने उनमें से एक पुत्र ब्राम्हण को दे दिया और दूसरा अपने घर में रखा। ब्राम्हण को दिया गया पुत्र ब्राम्हण कहलाने के कारण मद्य-माँस का त्यागी हुआ और घर में रहनेवाला पुत्र चांडाल कहलाने के कारण मद्य-माँसभक्षी हुआ; उसीप्रकार एक वेदनीय कर्म के पुण्य और पाप – ये दो भिन्न-भिन्न नामवाले युगल पुत्र हैं। दोनों में ही संसार का परिभ्रमण है, दोनों ही कर्मबंध की परंपरा को बढ़ाते हैं; अत: ज्ञानीजन दोनों की ही अभिलाषा नहीं करते हैं।''

पुण्य-पाप की एकता को स्पष्ट करते हुए वहीं वे आगे लिखते हैं –

''पाप बंध पुन्न बंध दुहूँ में मुकति नाँहि।
कटुक मधुर स्वाद पुग्गल कौ पेखिए।।
संकलेस विसुद्ध सहज दोऊ कर्मचाल।
कुगति सुगति जगजाल में विसेखिए।।
कारनादि भेद तोहि सूझत मिथ्यात माँहि।
ऐसौ द्वैत भाव ग्यान दृष्टि में न लेखिए।।
दोऊ महा अंधकूप दोऊ कर्मबंधरूप।
दुहूँ कौ विनास मोख मारग में देखिए।।७।।

पापबंध और पुण्यबंध दोनों ही मुक्ति के मार्ग में बाधक होने से दोनों समान हैं। कटुक और मधुर स्वाद भी पुद्गलजन्य होने से तथा ये संक्लेश और विशुद्ध भाव – दोनों ही विभाव होने से दोनों समान हैं। कुगति और सुगति दोनों चतुर्गति रूप संसार में ही होने के कारण इनमें फल-भेद भी नहीं है। वस्तुत: पुण्य-पाप में कारण, रस, स्वभाव, फल आदि का भेद है ही नहीं; मिथ्यात्व के कारण ही अज्ञानी जीव को ऐसा दिखाई देता है। ज्ञान-दृष्टि में/ज्ञानी को ऐसे भेद दिखाई नहीं देते हैं। पुण्य और पाप – दोनों ही अन्धकूप हैं, दोनों ही कर्मबंधरूप हैं, मोक्षमार्ग में दोनों का ही अभाव देखा जाता है।''

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी मोक्ष-मार्ग-प्रकाशक के सातवें अध्याय में पुण्य-पाप की एकता को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''यह जीव आस्रव तत्त्व में से हिंसादिरूप पापास्रव को तो हेय जानता है, पर अहिंसादि रूप पुण्यास्रव को उपादेय मानता है; जबकि वास्तविकता यह है कि दोनों कर्मबंध के कारण हैं; इनमें उपादेयपना मानना ही मिथ्यादृष्टि है। ये सभी अध्यवसाय होने से त्याज्य ही हैं।''

पुण्य-पाप के एकत्व को स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्ददेव प्रवचन-सार में लिखते हैं –

''णरणारयतिरियसुरा, भजंति जदि देहसंभवं दुक्खं।
किह सो सुहो व असुहो, उवओगो हवदि जीवाणं।।७२।।

मनुष्य, नारकी, तिर्यंच और देव – सभी संसारी जीव यदि देहोत्पन्न दुःख का ही अनुभव करते हैं तो जीवों का वह उपयोग शुभ और अशुभ – दो प्रकार का कैसे है ? अर्थात् नहीं है।''

पुण्य-पाप के एकत्व को स्पष्ट करनेवाली, आचार्य अमृतचन्द्रदेव द्वारा लिखी गई इसकी उत्थानिका का हिन्दी अनुवाद इसप्रकार है –

''इसप्रकार युक्तिपूर्वक इन्द्रिय-सुख को दुःखरूप प्रगट करके, अब इन्द्रिय-सुख के साधनभूत पुण्य को उत्पन्न करनेवाले शुभोपयोग की दुःख के साधनभूत पाप को उत्पन्न करनेवाले अशुभोपयोग से अविशेषता/समानता प्रगट करते हैं'' –

इसके बाद ७३, ७४, ७५, ७६ गाथाओं की उत्थानिकाओं-टीकाओं में उन्होंने इसी तथ्य को अनेकानेक तर्क-युक्ति देकर स्पष्ट किया है।

इसी ग्रन्थ में इस प्रकरण का समापन करते हुए आचार्य कुन्दकुन्ददेव तो यहाँ तक लिखते हैं –

''ण हि मण्णदि जो एवं, णत्थि विसेसोत्ति पुण्णपावाणं।
हिंडदि घोरमपारं, संसारं मोहसंछण्णो ॥७७॥

इसप्रकार 'पुण्य और पाप में अन्तर नहीं है, दोनों एक समान हैं' – ऐसा जो नहीं मानता है, वह मोहाच्छादित होता हुआ घोर-अपार संसार में परिभ्रमण करता है।''

आचार्य नेमिचंद्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती अपने गोम्मटसार कर्मकाण्ड ग्रन्थ में लिखते हैं – ''**कम्मत्तणेण एक्कं**...। – कर्म कर्मपने से एक है॥'' गाथा ६, प्रथम चरण॥

पण्डित दौलतरामजी अपनी लोकप्रिय कृति छहढाला चौथी ढाल, छंद ९ के पूर्वार्ध में पुण्य-पाप की एकता स्पष्ट करते हुए लिखते हैं –

''पुण्य-पाप फल माँहि, हरख-बिलखौ मत भाई।
यह पुद्गल परजाय, उपजि विनसै थिर थाई॥

हे भाई ! पुण्य और पाप के फल में हर्ष और विषाद मत करो। ये दोनों पुद्गल की पर्यायें हैं, उत्पन्न होकर नष्ट हो जाती हैं – यह सुस्थिर तथ्य है।''

सुख की प्राप्ति किन्हें होती है ? – इसे स्पष्ट करते हुए वे वहीं, पाँचवी

ढाल में लिखते हैं –

"जिन पुण्य-पाप नहिं कीना, आतम अनुभव चित दीना।
तिन ही विधि आवत रोके, संवर लहि सुख अवलोके ॥१०॥

जिन्होंने पुण्य-पाप नहीं किया, आत्मा के अनुभव में ही अपने चित्त को लगाया है; उन्होंने ही आते हुए कर्मों को रोककर संवर प्राप्त कर सुख की प्राप्ति की है।"

इत्यादि आगम-उद्धरणों और तर्कों से यह सिद्ध है कि आस्रव-बंध की अपेक्षा पुण्य और पाप – दोनों समान हैं।

प्रश्न ४ : मुक्ति के मार्ग में पुण्य का क्या स्थान है ?

उत्तर : वास्तव में संसार दुःख का ही पर्यायवाची है। चार गति, चौरासी लाख योनिआँ अपने अपराधों का फल भोगने के स्थान होने से दुःख रूप ही हैं। समस्त जिनागम में चार गति रूप संसार के दुःखों का वर्णन है। वैराग्यभावना में तो पण्डित भूधरदासजी स्पष्ट लिखते हैं –

"जो संसार विषैं सुख हो तो, तीर्थंकर क्यों त्यागें।
काहे कौं शिवसाधन करते, संजम सों अनुरागें ॥"

पुण्य-पाप – दोनों प्रकार के परिणाम संसाररूप, संसार के कारण, बंधमय, बंध के कारण, आकुलतामय, आकुलता के कारण, पराधीनता-मय, पराधीनता के कारण होने से तथा मोक्ष इससे विपरीत मुक्तिमय, निर्बंधमय, निराकुलतामय, स्वतन्त्रता-स्वरूप होने के कारण वास्तव में मुक्ति के मार्ग में पुण्य-पाप का स्थान अभावात्मक ही है।

कविवर पण्डित द्यानतरायजी सोलहकारण पूजन की जयमाला प्रारम्भ करते हुए लिखते हैं कि –

"सोलहकारण गुण करै, हरै चतुर्गति वास।
पाप पुण्य सब नाशकैं, ज्ञानभानु परकास ॥"

कविवर पण्डित दौलतरामजी छहढाला ग्रन्थ की पाँचवीं ढाल में संवर भावना का स्वरूप बताते हुए लिखते हैं –

"जिन पुण्य पाप नहीं कीना, आतम अनुभव चित दीना।
तिनहीं विधि आवत रोके, संवर लहि सुख अवलोके ॥१०॥

जिन्होंने न पुण्य किया और न पाप किया है; वरन् आत्मा के अनुभव में अपने मन को लगाया है; उन्होंने ही आते हुए कर्मों को रोका है और संवर प्रगट करके सुख प्राप्त किया है।''

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी मोक्ष-मार्ग-प्रकाशक के सातवें अधिकार में लिखते हैं – ''**सभी मिथ्याध्यवसाय त्याज्य हैं; अत: हिंसादिवत् अहिंसादि को भी बंध का कारण जानकर हेय ही मानना ... । जहाँ वीतराग होकर दृष्टा-ज्ञाता रूप प्रवर्ते, वहाँ निर्बंध है, वही उपादेय है।**''

कविवर पण्डित बनारसीदासजी मुक्ति के मार्ग में पुण्य के स्थान को नाटक समयसार के पुण्य-पाप एकत्व द्वार में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''सील तप संजम, विरति दान पूजादिक,
अथवा असंजम, कषाय विषैभोग है।
कोऊ सुभरूप, कोऊ असुभ स्वरूपमूल,
वस्तु के विचारत, दुविध कर्मरोग है।।
ऐसी बंध पद्धति, बखानी वीतरागदेव,
आतमधरम में करम त्याग जोग है।
भौजल तरैया, राग-द्वेष को हरैया महा,
मोख को करैया, एक सुद्ध उपयोग है।।७।।

शील, तप, संयम, व्रत, दान, पूजा आदि अथवा असंयम, कषाय, विषय-भोग आदि – इनमें कोई शुभरूप हैं और कोई अशुभरूप हैं; परन्तु मूल वस्तु का विचार करने पर यह दोनों प्रकार का कर्म-रोग ही है। भगवान वीतरागदेव ने ऐसी ही बंध की पद्धति कही है। पुण्य-पाप दोनों को बंध रूप व बंध का कारण कहा है; अत: आत्मधर्म/आत्मा का हित करनेवाले धर्म में तो सम्पूर्ण शुभ-अशुभ कर्म त्याग करने-योग्य हैं। संसार-समुद्र से पार उतारने वाला, राग-द्वेष को समाप्त करने वाला और मोक्ष को प्राप्त करानेवाला तो एकमात्र शुद्धोपयोग ही है।''

इसी को पुन: स्पष्ट करते हुए वे, वहीं लिखते हैं –

"मुकति के साधक कौं बाधक करम सब,
आतमा अनादि कौ करम माँहि लुक्यो है।
एते पर कहे जो कि पाप बुरौ पुन्न भलौ,
सोई महा मूढ़ मोखमारग सौं चुक्यौ है।।
सम्यक सुभाउ लिए हिए में प्रगट्यौ ग्यान,
ऊरध उमंगि चल्यौ काहूपै न रुक्यौ है।
आरसी सौं उज्जल बनारसी कहत आपु,
कारन सरूप ह्वै कै कारज कौं ढुक्यौ है।।१३।।

मुक्ति के साधक आत्मा को सब कर्म बाधक हैं, आत्मा अनादिकाल से कर्मों में छुपा हुआ है। इतने पर भी जो पाप को बुरा और पुण्य को भला कहता है, वही महामूर्ख मोक्षमार्ग से विमुख है। जब जीव को सम्यग्दर्शन सहित ज्ञान प्रगट होता है, तब वह अनिवार्य उन्नति करता है। पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं कि दर्पण के समान उज्ज्वल वह ज्ञान स्वयं कारण स्वरूप होकर कार्य में परिणत होता है अर्थात् सिद्ध पद प्राप्त करता है।"

मोक्ष की प्राप्ति मात्र अन्तर्दृष्टि से होती है, बाह्य-दृष्टि से मोक्ष नहीं है; इसे वे, वहीं इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"अन्तर दृष्टि लखाउ, निज सरूप कौ आचरन।
ए परमातम भाउ, सिव कारन येई सदा।।१०।।

अंतरंग ज्ञान, दृष्टि और आत्म-स्वरूप में स्थिरता – यह परमात्मा का स्वभाव है और यही परमेश्वर बनने का उपाय है।"

"करम सुभासुभ दोइ, पुद्गलपिंड विभावमल।
इनसौं मुकति न होइ, नहिं केवल पद पाइए।।११।।

शुभ और अशुभ – ये दोनों कर्ममल हैं, पुद्गल पिण्ड हैं, आत्मा के विभाव हैं, इनसे मोक्ष नहीं होता है, केवलज्ञान भी प्राप्त नहीं होता है।"

मुक्तिमार्ग में पाप-पुण्य के स्थान को प्रश्नोत्तर शैली द्वारा स्पष्ट करते हुए वे, वहीं आगे लिखते हैं –

"कोऊ शिष्य कहे स्वामी ! असुभक्रिया असुद्ध,
सुभ क्रिया सुद्ध तुम ऐसी क्यों न वरनी।

गुरु कहै जबलौं क्रिया के परिनाम रहें,
तबलौं चपल उपजोग जोग धरनी ॥
थिरता न आवै तौलौं सुद्ध अनुभौ न होइ,
यातैं दोऊ क्रिया मोखपंथ की कतरनी।
बंध की करैया दोऊ दुहूमें न भली कोऊ,
बाधक विचारि में निसिद्ध कीनी करनी ॥१२॥

कोई शिष्य पूछता है कि हे स्वामी ! आपने अशुभ क्रिया को अशुद्ध और शुभ क्रिया को शुद्ध – ऐसा क्यों नहीं कहा ? इस पर श्रीगुरु कहते हैं कि जब तक शुभ-अशुभ क्रिया के परिणाम रहते हैं, तब तक ज्ञान-दर्शन रूप उपयोग और मन-वचन-कायमय योग चंचल रहते हैं। जब तक ये स्थिर नहीं होते हैं, तब तक शुद्ध अनुभव नहीं होता है; अत: दोनों ही क्रियाएँ मोक्षमार्ग में बाधक ही हैं, दोनों मोक्षमार्ग को काटने के लिए कैंची के समान हैं, दोनों ही बंध को करनेवाली हैं, दोनों में से कोई भी अच्छी नहीं हैं। मैंने मोक्षमार्ग में बाधक जानकर ही दोनों का निषेध किया है।''

पुण्य-पाप – दोनों ही क्रियाओं का निषेध कर देने पर भी मोक्षमार्गी जीव आश्रय विहीन/असहाय नहीं होते हैं; इसे स्पष्ट करते हुए वे, वहीं लिखते हैं –

''शिष्य कहै, स्वामी तुम करनी असुभ सुभ,
कीनी है निषेध मेरे संसै मन माँही है।
मोख के सधैया ग्याता देसबिरती मुनीस,
तिनकी अवस्था तो निरावलम्ब नाँही है ॥
कहै गुरु करम कौ नास अनुभौ अभ्यास,
ऐसौ अवलंब उनही कौ उन पाँही है।
निरुपाधि आतम समाधि सोई सिवरूप,
और दौर धूप पुद्गल परछाहीं है ॥८॥

शिष्य कहता है कि हे स्वामी ! आपने शुभ और अशुभ दोनों को समान बताकर इनका निषेध कर दिया है; इससे मेरे मन में एक संशय उत्पन्न हो गया है कि मोक्षमार्ग की साधना करने वाले अविरत सम्यग्दृष्टि, अणुव्रती और महाव्रती जीवों की अवस्था बिना अवलम्बन के तो रहती नहीं है;

उन्हें व्रत, शील, संयम आदि का अवलम्बन तो चाहिए ही। आप इनका निषेध क्यों करते हैं ?

इसका उत्तर देते हुए गुरु कहते हैं कि हे भाई ! ऐसा नहीं है। क्या मोक्ष-मार्ग के पथिक जीवों का अवलम्बन पुण्य-पापरूप है ? अरे, उनका अवलम्बन तो उनका ज्ञानानन्द-स्वभावी भगवान आत्मा है, जो सदा विद्यमान है। कर्मों का अभाव तो आत्मानुभव और उसके अभ्यास से होता है; अतः उनके निरावलम्ब होने का कोई प्रश्न ही नहीं है। मोह, राग, द्वेष रहित आत्मा में समाधि लगाना ही मुक्ति का कारण और मोक्ष स्वरूप है; व्रतादि के विकल्प और जड़ की क्रिया तो पुद्गल परछाईं/पुद्गल जनित हैं।''

अन्तरात्मामय साधक अवस्था में दोनों की विद्यमानता होने पर भी दोनों के वास्तविक स्वरूप का विश्लेषण करते हुए वे, वहीं लिखते हैं–

''जौलौं अष्ट कर्म कौ विनास नाँही सरवथा,
तौलौं अन्तरात्मा में धारा दोइ वरनी।
एक ग्यानधारा एक सुभासुभ कर्मधारा,
दुहूँ की प्रकृति न्यारी न्यारी न्यारी धरनी ॥
इतनौ विसेस जु करमधारा बंधरूप,
पराधीन सकति विविध बंध करनी।
ग्यानधारा मोखरूप मोख की करनहार,
दोख की हरनहार भौ समुद्रतरनी ॥१४॥

जब तक आठों कर्म पूर्णतया नष्ट नहीं हो जाते हैं, तब तक अन्तरात्मा में ज्ञानधारा और शुभाशुभरूप कर्मधारा – दोनों विद्यमान रहती हैं। दोनों धाराओं का पृथक्-पृथक् स्वभाव है, पृथक्-पृथक् सत्ता है। विशेष भेद इतना है कि कर्मधारा बंधरूप है, आत्मशक्ति को पराधीन करती है, अनेक प्रकार से बंध बढ़ाती है और ज्ञानधारा मोक्ष-स्वरूप है, मोक्ष की दाता है, दोषों को हटाती है, संसार-सागर से पार होने के लिए नौका के समान है।''

मुनिराज योगीन्दुदेव मोक्षमार्ग में पुण्य का स्थान स्पष्ट करते हुए 'योगसार' में लिखते हैं –

''पुण्णिं पावइ सग्ग जिउ, पावएँ णरयणिवासु।
वे छंडिवि अप्पा मुणई, तो लब्भई सिववासु ॥३२॥

पुण्य से जीव स्वर्ग पाता है, पाप से नरक का निवास पाता है। इन दोनों को छोड़कर जो आत्मा को जानता है, वह मोक्ष को प्राप्त करता है।''

आचार्य पूज्यपादस्वामी समाधितंत्र में इसे इसप्रकार व्यक्त करते हैं–

''अपुण्यमव्रतैः पुण्यं व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्ययः।
अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजेत्॥८३॥

अव्रतों से अपुण्य/पाप और व्रतों से पुण्य होता है; इन दोनों के व्यय से मोक्ष होता है; अतः मोक्षार्थी को अव्रतों के समान व्रतों को भी छोड़ देना चाहिए।''

मोक्षमार्ग में पुण्य का स्थान बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी 'पंचास्तिकाय-संग्रह' नामक ग्रन्थ में लिखते हैं –

''अरहंत-सिद्ध-चेदियपवयणगणणाणभत्तिसंपण्णो।
बंधदि पुण्णं बहुसो ण हु सो कम्मक्खयं कुणदि॥१६६॥

अरहंत, सिद्ध, चैत्य/अर्हंतादि की प्रतिमा, प्रवचन/शास्त्र, मुनिगण, ज्ञान के प्रति भक्ति-सम्पन्न जीव पुण्य तो बहुत बाँधता है; पर वास्तव में वह कर्म का क्षय नहीं कर पाता है।

इसे ही और भी स्पष्ट करते हुए वे, वहीं आगे लिखते हैं –

''धरिदुं जस्स ण सक्कं, चित्तुब्भामं बिणा दु अप्पाणं।
रोधो तस्स ण विज्जदि, सुहासुहकदस्स कम्मस्स॥१६८॥

जो राग के सद्भाव के कारण अपने चित्त को भ्रमण से रहित नहीं रख पाता है, उसके शुभाशुभ कर्मों का निरोध नहीं हो पाता है।''

इसलिए निष्कर्षरूप में वे, वहीं आगे लिखते हैं –

''तम्हा णिव्वुदिकामो, रागं सव्वत्थ कुणदु मा किंचि।
सो तेण वीदरागो, भविओ भवसायरं तरदि॥१७२॥

इसलिए मोक्षाभिलाषी सर्वत्र किंचित् भी राग मत करो। ऐसा करने से वह भव्य जीव वीतराग होकर भवसागर को पार कर लेता है।''

निष्कर्षरूप में सम्पूर्ण कथन का सार यही है कि यद्यपि मोक्षमार्गी साधक जीव के भूमिकानुसार पुण्य-पाप परिणाम, तन्निमित्तक पुण्य-पाप का बंध और पुण्य-पाप का उदय होता तो अवश्य है; तथापि उससे मोक्षमार्ग में कुछ सहयोग नहीं मिलता है; वरन् जब तक वे रहते हैं, तब

तक परिपूर्ण मुक्ति प्राप्त नहीं हो पाती है; अतः मोक्षमार्ग में पुण्य-पाप का स्थान अभावात्मक ही है।

प्रश्न ५ : आपने मुक्ति के मार्ग में पुण्य का स्थान अभावात्मक है – यह सिद्ध किया; पर साथ में यह भी बताया कि साधक दशा में ज्ञानधारा के साथ शुभाशुभ कर्मधारा होती अवश्य है – इसका क्या तात्पर्य है ?

उत्तर : अपने स्वरूप को अपनत्वरूप से जानकर, उसमें क्षणिक लीनता के बाद भी तत्समय की योग्यता और अनादिकालीन पर-लक्षी संस्कार के कारण जबतक यह जीव पूर्ण स्वरूप-लीन नहीं रह पाता है, तबतक उसमें ज्ञानधारा और कर्मधारा – ये दो धाराएँ चलती रहती हैं। भूमिका के अनुसार कषाय के अभावरूप शुद्ध-परिणति और शुद्धोपयोग ज्ञानधारा है तथा शेष रहीं कषायों के कारण होनेवाले राग-द्वेष रूप पर-लक्षी परिणाम कर्मधारा हैं। इन दोनों के एकसाथ रहने में कोई विरोध नहीं है; इसे स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचंद्रदेव समयसार की आत्मख्याति टीका के कलश ११०वें में लिखते हैं –

"यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा,
कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः।
किन्त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म बंधाय तन्,
मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः ॥

जब तक ज्ञान की कर्मविरति भली-भाँति परिपूर्णता को प्राप्त नहीं होती है; तब तक कर्म और ज्ञान का एकत्रितपना शास्त्र में कहा गया है। उनके एकत्रित रहने में कोई भी क्षति या विरोध नहीं है; किन्तु यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि आत्मा में अवशपने जो कर्म प्रगट होता है, वह तो बन्ध का कारण है और जो एक, स्वतः-विमुक्त (त्रिकाल परद्रव्य-भावों से भिन्न) परम-ज्ञान में स्थिति है, वह एक ही मोक्ष का कारण है।"

निष्कर्ष यह है कि साधक दशा में ये दोनों धाराएं एक साथ रहती हैं। इतना ही नहीं; कितने ही पुण्य परिणाम तो ऐसे हैं, जो विराधक दशा में होते ही नहीं हैं, साधक दशा में ही होते हैं; जैसे तीर्थंकर और आहारकद्विक के बंध में निमित्त होने वाले पुण्य परिणाम। इसीप्रकार इसमें यद्यपि पुण्य-

पापरूप किन्हीं भी कर्म प्रकृतिओं की स्थिति अंत: कोड़ाकोड़ी सागर से अधिक नहीं होती है; तथापि उनमें से पुण्य प्रकृतिओं का प्रकृति, प्रदेश और अनुभाग बन्ध उत्तरोत्तर अधिक होता है।

पुण्य का उदय भी यथायोग्य चलता रहता है। तेरहवें गुणस्थानवर्ती तीर्थंकर केवली के पुण्य का उदय सर्वाधिक होता है। उससे गुणस्थानानुसार शुद्धता में तो कोई बाधा नहीं आती है; तथापि गुणस्थान की वृद्धि और साक्षात् मोक्ष दशा में ये बाधक ही हैं; अत: मोक्षमार्ग में इनका स्थान अभावात्मक कहा गया है।

इसप्रकार ये पुण्य-पाप मोक्षमार्ग में कुछ भी सहयोग नहीं करते हैं; वरन् इनकी विद्यमानता पर्यन्त संसार में ही रहना पड़ता है; जीव सिद्ध नहीं हो पाता; अव्याबाध सुख, अमूर्तिकता आदि गुण प्रगट नहीं कर पाता है; अत: मोक्षमार्ग में इनका निषेध किया गया है। ○

पुण्णेण होइ विहवो विहवेण मओ मएण मइ-मोहो।
मइ-मोहेण य पावं ता पुण्णं अम्ह मा होउ॥प.प्र.२-६०॥

पुण्य से वैभव; वैभव से मद/घमण्ड; मद से मतिमोह/बुद्धि में भ्रम/अविवेक; मति मोह से पाप होता है; अत: ऐसे पुण्य हमारे नहीं हों।

परिणति सब जीवन की...

परिणति सब जीवन की, तीन भाँति वरनी।
एक पुण्य एक पाप, एक राग हरनी॥टेक।
तामें शुभ अशुभ अंध, दोय करें कर्म बंध।
वीतराग परिनति ही, भवसमुद्र तरनी॥१॥
जावत शुद्धोपयोग, पावत नाहीं मनोग।
तावत ही करन जोग, कही पुण्य करनी॥२॥
त्याग शुभ क्रिया कलाप, करो मत कदाच पाप।
शुभ में न मगन होय, शुद्धता विसरनी॥३॥
ऊँच ऊँच दशा धारि, चित प्रमाद को विडारि।
ऊँचली दशातें मति, गिरो अधो धरनी॥४॥
'भागचन्द' या प्रकार, जीव लहै सुख अपार।
याके निरधार स्याद्-वाद की उचरनी॥५॥

पाठ ४ : उपादान–निमित्त

प्रश्न १ : विश्व का स्वरूप क्या है ?

उत्तर : जाति की अपेक्षा जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल – इन छह तथा संख्या की अपेक्षा जीव अनन्त, पुद्गल अनंतानंत, धर्म-अधर्म-आकाश एक-एक और कालद्रव्य लोकाकाश प्रमाण असंख्यात – इन अनंतानंत द्रव्यों के समूह को विश्व कहते हैं। स्थाई रहकर परिणमन करना, परिणमन करते हुए स्थाई रहना, विश्व के प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव है। परिणमन को पर्याय या कार्य कहते हैं।

प्रत्येक द्रव्य स्वयं अनंत शक्ति-सम्पन्न होने से उसे अपने परिणमन/कार्य में किसी अन्य के सहयोग की आवश्यकता नहीं होती है। "**न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते।...न हि वस्तुशक्त्यः परमपेक्षंते** – वस्तु में जो शक्ति स्वयं नहीं होती है, उसे अन्य के द्वारा किया जाना सम्भव नहीं है।...वस्तु की शक्तिआँ अन्य की अपेक्षा नहीं रखती हैं। (समयसार, गाथा ११६-१२० की आत्मख्याति टीका)।" – वस्तु-स्वरूप की इस विशेषता के अनुसार वस्तु उसे ही कहते हैं, जिसे अपना कार्य करने के लिए अन्य का सहयोग नहीं लेना पड़ता है। वस्तु के द्रव्य-गुण या ध्रौव्य अंश स्थाई रहकर जो कार्य करते हैं, उसे पर्याय या उत्पाद-व्यय कहते हैं।

प्रश्न २ : कार्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : "**कारणानुविधायीनि कार्याणि** – कारण का अनुसरण कर होनेवाले परिणाम को कार्य कहते हैं।" अर्थात् वस्तु में होनेवाले प्रति-समयवर्ती परिणमन को कार्य कहते हैं।

प्रश्न ३ : कार्य के पर्यायवाची नाम लिखिए।

उत्तर : कार्य के काम, कर्म, अवस्था, हालत, दशा, परिणाम, परिणति, परिणमन, पर्याय, उत्पाद-व्यय, उपादेय, नैमित्तिक इत्यादि अनेक पर्याय-वाची नाम हैं।

प्रश्न ४ : कार्य कैसे उत्पन्न होता है ?

उत्तर : प्रत्येक कार्य अपने सुनिश्चित अंतरंग-बहिरंग कारणों की उपस्थिति में ही उत्पन्न होता है। कारण के बिना कभी भी कोई भी कार्य उत्पन्न नहीं होता है। स्व-पर कारण पूर्वक ही कार्य उत्पन्न होता है।

प्रश्न ५ : कारण किसे कहते हैं ?

उत्तर : कार्य की उत्पादक सामग्री को कारण कहते हैं। कार्य जिस सामग्री के सांनिध्य में उत्पन्न होता है, उसे कारण कहते हैं। कार्य होने से पूर्व जिसका नियम से सद्भाव हो और जो किसी विशिष्ट कार्य के अतिरिक्त अन्य कार्य को उत्पन्न नहीं करे, उसे कारण कहते हैं। तात्पर्य यह है कि सहकारीकारण सापेक्ष विशिष्ट पर्यायशक्ति से सहित द्रव्य-शक्ति को कारण कहते हैं।

प्रश्न ६ : कारण के पर्यायवाची लिखते हुए उसके भेद लिखिए।

उत्तर : प्रत्यय, निमित्त, साधन, हेतु इत्यादि कारण के पर्यायवाची नाम हैं।

इसके दो भेद हैं – उपादान कारण और निमित्त कारण। जिनागम में 'निमित्त' शब्द कहीं-कहीं कारणमात्र अर्थात् दोनों कारणों के अर्थ में आता है और कहीं-कहीं मात्र कारण के एक भेद निमित्त कारण के अर्थ में आता है; अत: प्रसंग देखकर अर्थ करना चाहिए। कहीं-कहीं उपादान कारण को अंतरंग कारण और निमित्त कारण को बहिरंग कारण भी कहा गया है।

प्रश्न ७ : उपादान कारण किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो स्वयं कार्यरूप परिणमित होता है, उसे उपादान कारण कहते हैं। प्रत्येक पदार्थ द्रव्य, गुण, पर्यायात्मक या उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक होने से वह प्रतिसमय नवीन-नवीन कार्यरूप परिणमित होता रहता है; वह उसका उपादान कारण कहलाता है। जो स्वयं समर्पित होकर कार्यरूप परिणत होता है, उसे उपादान कारण कहते हैं।

प्रश्न ८ : निमित्त कारण किसे कहते हैं ?

उत्तर : अपने में स्वयं सतत परिणमित होने पर भी जो उपादान संबंधी किसी विवक्षित विशिष्ट कार्यरूप परिणमित तो नहीं होता है; परन्तु उपादान संबंधी उस विवक्षित कार्य की उत्पत्ति के समय जिस पर

अनुकूलता का आरोप आता है, उसे निमित्त कारण कहते हैं। जिसके बिना वह विवक्षित कार्य नहीं होने पर भी जो स्वयं उस कार्यरूप नहीं होता है, उसे निमित्त कारण कहते हैं।

प्रश्न ९ : उपादान-निमित्त को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए उपादान - उपादेय और निमित्त-नैमित्तिक को भी उदाहरण द्वारा स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : मिट्टी के घड़ेरूप स्वयं मिट्टी परिणमित हुई है; अतः मिट्टी घड़े की उपादान कारण है। जिस समय मिट्टी घड़ेरूप परिणमित हो रही थी; उस समय चक्र, दण्ड, कुम्हार आदि अपने-अपने में परिणमित होते हुए भी घड़ेरूप परिणमित नहीं हो रहे थे; तथापि घड़े की उत्पत्ति के समय उन पर घड़े की उत्पत्ति में अनुकूल होने का आरोप आता है; अतः वे उसके निमित्त कारण कहलाते हैं।

मिट्टीरूप उपादान कारण की अपेक्षा घड़ेरूप कार्य को उपादेय तथा चक्र, दण्ड, कुम्हार आदि निमित्त कारणों की अपेक्षा घड़ेरूप कार्य को नैमित्तिक कहते हैं।

यहाँ 'उपादेय' शब्द का प्रयोग 'ग्रहण करने-योग्य' – इस अर्थ में नहीं हुआ है; वरन् उत्पन्न हुए कार्य को उपादान की ओर से देखे जाने पर उसे यह नाम मिला है। इसप्रकार **एक ही कार्य उपादान कारण की अपेक्षा उपादेय और निमित्त कारण की अपेक्षा नैमित्तिक कहलाता है।**

सम्यग्दर्शनरूप कार्य पर ये इसप्रकार घटित होंगे – आत्मद्रव्य या श्रद्धागुण स्वयं सम्यग्दर्शनरूप से परिणमित होने के कारण, वे इसके उपादान कारण हैं तथा मिथ्यात्वादि कर्म का अभाव, सद्गुरु का उपदेश आदि स्वयं अपने में परिणमन करते हुए भी सम्यग्दर्शनरूप से परिणमित नहीं हुए हैं; तथापि सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के समय उन पर सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में अनुकूल होने का आरोप आता है; अतः वे उसके निमित्त कारण कहलाते हैं। आत्मा या श्रद्धा-गुणरूप उपादान कारण की अपेक्षा सम्यग्दर्शनरूप कार्य उपादेय तथा मिथ्यात्वादि का अभाव, सद्गुरु का उपदेश आदि निमित्त कारण की अपेक्षा सम्यग्दर्शनरूप कार्य नैमित्तिक कहलाता है।

इसप्रकार उपादान और निमित्त, कारण के भेद होने से प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति के समय नियम से होते हैं तथा उपादान-उपादेय संबंध और निमित्त-

नैमित्तिक संबंध कारण-कार्य संबंध के ही रूप होने से प्रत्येक कारण-कार्य संबंध पर अनिवार्यरूप से घटित होते हैं। प्रत्येक कार्य नियम से उपादान की अपेक्षा उपादेय और निमित्त की अपेक्षा नैमित्तिक कहलाता है।

प्रश्न १० : उपादान कारण के पर्यायवाची नाम लिखते हुए भेद-प्रभेद स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : उपादान कारण के स्वद्रव्य, निजशक्ति, कारक-कारण इत्यादि पर्यायवाची नाम हैं। इस उपादान कारण के मूल में दो भेद हैं – १. त्रिकाली उपादान कारण और २. क्षणिक उपादान कारण।

कार्यरूप परिणमित होने की त्रिकाल योग्यता-सम्पन्न वस्तु/द्रव्य-गुणमय या ध्रौव्यात्मक वस्तु त्रिकाली उपादान कारण कहलाती है। जब भी कार्य होगा तब इसमें ही होगा – यह व्यवस्था त्रिकाली उपादान कारण करता है।

कार्य होने की क्षणिक योग्यता को क्षणिक उपादान कारण कहते हैं। इसके दो भेद हैं – १. अनन्तर पूर्व क्षणवर्ती पर्याय से विशिष्ट/संयुक्त द्रव्य और २. तत्समय की योग्यतारूप क्षणिक उपादान कारण।

प्रत्येक वस्तु उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक होने से उसमें सदा स्थाईत्व के साथ अनादि-अनन्त सुव्यवस्थित पर्यायों का प्रवाहक्रम भी चलता रहता है। प्रतिसमय पूर्व पर्याय का व्यय, उत्तर पर्याय का उत्पाद और पदार्थरूप से ध्रौव्य – इसप्रकार तीनों विद्यमान हैं। अनन्तर पूर्व क्षणवर्ती पर्याय का व्यय ही अनन्तर उत्तर क्षणवर्ती पर्याय के उत्पाद का नियामक कारण होने से उस व्ययरूप पर्याय को क्षणिक उपादान कारण तथा उस उत्पादरूप पर्याय को कार्य कहते हैं। 'आचार्य समंतभद्रस्वामी' अपने 'आप्तमीमांसा' नामक ग्रन्थ में इसे इसप्रकार व्यक्त करते हैं –

"कार्योत्पादः क्षयो हेतुर्नियमाल्लक्षणात्पृथक्।
न तौ जात्याद्यवस्थानादनपेक्षाः खपुष्पवत् ॥५८॥

हेतु (क्षणिक उपादान कारण) का क्षय नियम से कार्य का उत्पाद है। वे हेतु/व्यय और उत्पाद अपने-अपने लक्षण से पृथक्-पृथक् हैं। वे दोनों जाति आदि के अवस्थान से भिन्न नहीं हैं, कथंचित् अभिन्नरूप हैं। उनके सर्वथा भिन्न होने पर वे आकाश-कुसुम के समान अवस्तु सिद्ध होंगे।"

श्रीमद्कार्तिकेय स्वामी अपने 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' ग्रन्थ में इसे इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"पुव्वपरिणामजुत्तं, कारणभावेण वट्टदे दव्वं।
उत्तरपरिणामजुदं, तं चिय कज्जं हवे णियमा ॥२३०॥

पूर्व परिणाम से युक्त द्रव्य कारणरूप से परिणमित होता है और उत्तर परिणाम से युक्त वही द्रव्य नियम से कार्य होता है।"

उपर्युक्त विवक्षा में अनन्तर पूर्व क्षणवर्ती पर्याय से युक्त द्रव्य को कारण और अनन्तर उत्तर क्षणवर्ती पर्याय के उत्पाद से युक्त द्रव्य को कार्य कहा गया है।

इस पर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि जो कारण स्वयं ही नष्ट हो गया है, वह कार्य का उत्पादक कैसे हो सकता है ? इसी प्रश्न के उत्तररूप में क्षणिक उपादान की दूसरी विवक्षा प्रस्तुत है। नयचक्रकार 'माइल्ल धवल' अपने 'द्रव्य-स्वभाव-प्रकाशक नयचक्र' में इसे इसप्रकार व्यक्त करते हैं –

"उप्पज्जंतो कज्जं, कारणमप्पा णियं तु जणयंतो।
तम्हा इह ण विरुद्धं, एकस्स वि कारणं कज्जं ॥३६५॥

उत्पद्यमान पर्याय कार्य है, उसे उत्पन्न करनेवाला आत्मा कारण है; अत: एक ही द्रव्य में कारण-कार्य का भेद विरुद्ध नहीं है।"

इसे ही स्पष्ट करते हुए 'भट्ट अकलंक स्वामी' 'तत्त्वार्थराजवार्तिक' में लिखते हैं –

"पर्याय एवार्थ: कार्यमस्य न द्रव्यम्। अतीतानागतयोर्विनष्टा-नुत्पन्नत्वेन व्यवहाराभावात्, स एवैक: कार्यकारणव्यपदेशमार्गात् पर्यायार्थिक:।

इसका पर्याय ही अर्थ, कार्य है; द्रव्य नहीं। विनष्ट और अनुत्पन्न होने से अतीत और अनागत पर्यायों के व्यवहार का अभाव होने के कारण इस पर्यायार्थिक की अपेक्षा एक वर्तमान पर्याय में ही कार्य- कारण का व्यपदेश होता है।"

इस अपेक्षा कथन करने पर उस समयवर्ती पर्याय की उसीसमय होने रूप योग्यता क्षणिक उपादान कारण है और वह पर्याय कार्य है।

इसप्रकार क्षणिक उपादान के अनन्तर पूर्व क्षणवर्ती पर्याय युक्त द्रव्य क्षणिक उपादान कारण और तत्समय की योग्यतारूप क्षणिक उपादान कारण – ये दो भेद हो जाते हैं। इन्हें संक्षेप में अनन्तर पूर्व क्षणवर्ती पर्याय और तत्समय की योग्यता भी कहते हैं।

उपादान कारण के उक्त भेद-प्रभेदों को चार्ट द्वारा इसप्रकार स्पष्ट कर सकते हैं –

उपादान कारण

त्रिकाली उपादान — क्षणिक उपादान

अनन्तरपूर्वक्षणवर्ती पर्याय युक्त द्रव्य — तत्समय की योग्यता

प्रश्न ११ : इन तीनों उपादान कारणों के पर्यायवाची नाम लिखिए।

उत्तर : इन तीनों उपादान कारणों में से त्रिकाली उपादान के ध्रुव, नित्य, द्रव्य-शक्ति, स्वभाव का नियामक, असमर्थ उपादान कारण, भिन्नकारण, सहज-शक्ति, मूल स्वभाव, पारिणामिक भाव इत्यादि अनेक पर्यायवाची नाम हैं।

क्षणिक उपादान कारणों में से अनन्तर पूर्व क्षणवर्ती पर्यायविशिष्ट द्रव्यरूप पहले क्षणिक उपादान कारण के पर्याय-शक्ति, समर्थ उपादान कारण, पुरुषार्थ का नियामक, अनित्य, भिन्न-कारण इत्यादि अनेक पर्यायवाची नाम हैं।

तत्समय की योग्यतारूप दूसरे क्षणिक उपादान कारण के सामर्थ्य, शक्ति, पात्रता, काललब्धि, भवितव्यता, काल का नियामक, अभिन्न-कारण इत्यादि अनेक पर्यायवाची नाम हैं।

प्रश्न १२ : कार्य के कारणों में त्रिकाली उपादान को कारणरूप में बताने का प्रयोजन क्या है ?

उत्तर : कार्य के कारणों में त्रिकाली उपादान को कारणरूप में बताने के कुछ मुख्य प्रयोजन निम्नलिखित हैं –

१. कार्यरूप परिणमित होनेवाले द्रव्य-स्वभाव का ज्ञान कराना ही इस त्रिकाली उपादान को कारणरूप से बताने का मुख्य प्रयोजन है। विवक्षित कार्य जब भी होगा तब इस द्रव्य या इस गुण में ही होगा; अन्य द्रव्यों या

अन्य गुणों में कभी भी नहीं होगा; अतः अन्य द्रव्यों या गुणों से अपना लक्ष्य हटा लेने के लिए इस त्रिकाली उपादान कारण का ज्ञान कराया जाता है।

२. अनन्त शक्ति-सम्पन्न त्रैकालिक द्रव्य को उस कार्य की भी अपेक्षा नहीं है; वह तो उस कार्य के व्यक्त हुए बिना भी वैसी योग्यता से सदा सम्पन्न है – यह ज्ञात हो जाने पर उस कार्य के व्यक्त नहीं होने पर भी उस त्रैकालिक योग्यता की स्वीकृति के बल पर दीनता, हीनता, पामरता आदि विकृत भावों का अभाव हो जाता है।

३. अन्य को भी विवक्षित कार्य की व्यक्तता के अभाव में भी उसकी इसी त्रैकालिक योग्यता की स्वीकृति के बल पर दीन, हीन, पामर, तुच्छ रूप में देखने का भाव समाप्त होकर जीवन में सहज समता भाव व्यक्त हो जाता है।

४. कार्य के कारणों में द्रव्य-शक्ति की अनिवार्यता सिद्ध करना भी इसे बताने का प्रयोजन है। यदि द्रव्य में उस कार्यरूप परिणमित होने की शक्ति ही नहीं होगी तो द्रव्य में वह कार्य कभी भी नहीं हो सकता है; अतः प्रयास करने के बाद भी सफलता नहीं मिलने पर द्रव्य-शक्ति का निर्णय कर जीवन में सहज समता व्यक्त हो जाती है।

५. सर्वथा असत् का कभी भी उत्पाद नहीं होता है तथा सत् का कभी भी नाश नहीं होता है – यह ज्ञान कराना भी इस कारण को बताने का प्रयोजन है। त्रिकाली उपादान कारण समझ में आ जाने से तत्संबंधी विपरीत मान्यताएं नष्ट हो जाती हैं।

६. निज शक्ति के बिना द्रव्य में कभी भी कार्य नहीं हो सकता है –यह ज्ञात हो जाने पर परमुखापेक्षी वृत्ति नष्ट हो जाती है।

७. भाव-भाव शक्ति की स्वीकृति हो जाने से निमित्ताधीन, पराधीनदृष्टि नष्ट होकर दृष्टि स्वसन्मुख हो जाने के कारण जीवन निराकुल, अतीन्द्रिय आनन्दमय हो जाता है।

इत्यादि प्रयोजन से कार्य के कारणों में त्रिकाली उपादान कारण को बताया गया है।

प्रश्न १३ : कार्य के कारणों में अनन्तर पूर्व क्षणवर्ती पर्याय विशिष्ट द्रव्य रूप क्षणिक उपादान को कारणरूप में बताने का प्रयोजन क्या है?

उत्तर : कार्य के कारणों में अनन्तर पूर्व क्षणवर्ती पर्याय विशिष्ट द्रव्यरूप क्षणिक उपादान को कारणरूप में बताने के कुछ मुख्य प्रयोजन इसप्रकार हैं–

१. उत्पाद-व्ययरूप क्षणिक सत् की स्वतन्त्र कार्य-क्षमता का ज्ञान कराने के लिए इस उपादान कारण को बताया जाता है, जिससे पर्यायशक्ति की स्वीकृति हो जाने पर उसमें परिवर्तन करने की बुद्धि समाप्त होकर उसे सहज स्वीकार करने का भाव जागृत होता है।

२. नित्य द्रव्य, अनित्य पर्याय का कारण नहीं है। नित्य को अनित्य का कारण मानने पर नित्य निरन्तर विद्यमान होने से कार्य के भी निरन्तर होते रहने का प्रसंग प्राप्त होगा; जो कि वस्तु-व्यवस्था के विरुद्ध है। अनित्य कार्य का कारण भी अनित्य ही होना चाहिए; अतः अनन्तर पूर्व क्षण-वर्ती पर्याय को अनन्तर उत्तर क्षणवर्ती पर्याय का कारण कहा जाता है।

३. प्रत्येक द्रव्य में भाव-अभाव शक्ति और अभाव-भावशक्ति विद्य-मान होने से उसमें सतत भाव/विद्यमान पर्याय का अभाव/व्यय ही अभाव के भावरूप नवीन पर्याय का उत्पाद है अर्थात् पूर्व पर्यायरूप कारण का व्यय ही उत्तर पर्यायरूप कार्य का उत्पाद/उत्पन्न होना है। अनन्तर पूर्व पर्याय के अभावपूर्वक ही अनन्तर उत्तर पर्याय (कार्य) उत्पन्न होती है। वस्तु की अनादि-अनन्त इस व्यय-उत्पादरूप नियामक परिणमन-व्यवस्था का ज्ञान कराने के लिए अनन्तर पूर्व क्षणवर्ती पर्याय विशिष्ट द्रव्य को कारण कहा जाता है।

४. कार्य किस विधि/पुरुषार्थ से होता है; कार्य के एक समय पूर्व कारण कैसा होता है ? इसका ज्ञान कराने के लिए इस क्षणिक उपादान को कारण कहा जाता है।

५. कार्य के पूर्व ऐसा कारण अवश्य होना चाहिए, जिसका अभाव होकर कार्य उत्पन्न होता है अर्थात् व्यय-उत्पाद सापेक्ष पर्याय विशिष्ट द्रव्य में कारण-कार्यपने की सिद्धि होती है; यह बताने के लिए अनन्तर पूर्व क्षणवर्ती पर्याय विशिष्ट द्रव्य को कारण कहा गया है।

६. इससे द्रव्य की क्रम नियमित सुनिश्चित परिणमन-व्यवस्था का भी

बोध होता है। जिससे उनमें इच्छानुसार परिवर्तन करने का भाव नष्ट होकर उन्हें सहज स्वीकार करने का भाव जागृत होता है। पर्यायमात्र से दृष्टि हटकर दृष्टि ध्रुव-स्वभाव पर केन्द्रित हो जाने से जीवन सहज सुखमय निश्चिन्त, निर्भारमय हो जाता है; यह ज्ञान कराने के लिए इस क्षणिक उपादान का कथन किया जाता है।

७. भिन्न समयवर्ती क्षणिक कारण-कार्य व्यवस्था का ज्ञान कराना भी इसका प्रयोजन है।

इत्यादि अनेक प्रयोजनों की सिद्धि के लिए कार्य के कारणों में अनन्तर पूर्व क्षणवर्ती पर्याय विशिष्ट द्रव्यरूप क्षणिक उपादान को कारण रूप में बताया जाता है।

प्रश्न १४ : कार्य के कारणों में तत्समय की योग्यतारूप क्षणिक उपादान को कारणरूप में बताने का प्रयोजन क्या है ?

उत्तर : कार्य के कारणों में तत्समय की योग्यतारूप क्षणिक उपादान को कारणरूप में बताने के कुछ मुख्य प्रयोजन इसप्रकार हैं –

१. एक समयवर्ती पर्याय संबंधी षट्कारकीय चरम स्वतंत्रता, स्वाधीनता का ज्ञान कराने के लिए इस उपादान को बताया जाता है।

२. अकारण पारिणामिकभावरूप भवितव्यता और काललब्धि को कार्य और काल का नियामक कारण बताने के लिए इस कारण का कथन किया जाता है; अर्थात् जिस समय जिस कार्य का होना स्वत:सिद्ध है, उस समय वही होगा; उसे किसी भी प्रयास से किसी के द्वारा भी रोका नहीं जा सकता है – ऐसी अकृत्रिम सुदृढ़ सुव्यवस्थित परिणमन व्यवस्था का बोध कराने के लिए इस कारण का कथन किया जाता है।

३. अभिन्न समयवर्ती कारण-कार्य संबंध का ज्ञान भी इससे हो जाता है।

४. "**उपादानकारणसदृशं हि कार्यं भवति** – उपादान कारण के समान ही कार्य होता है।" – जिनागम का यह कथन वास्तव में तत्समय की योग्यतारूप इस क्षणिक उपादान की अपेक्षा ही किया जाता है; अन्य की अपेक्षा से नहीं।

५. अभाव में से भाव नहीं होता है। वास्तव में प्रत्येक द्रव्यगत भाव-

भावशक्ति के कारण ही भाव/पर्याय का, भाव/उत्पाद होता है – यह ज्ञान कराने के लिए इस उपादान का कथन किया जाता है।

६. द्रव्य-गुण त्रिकाल शुद्ध होने पर भी पर्याय अशुद्ध हो सकती है – इसका ज्ञान भी इस उपादान कारण से हो जाता है।

७. एक समयवर्ती प्रत्येक पर्याय भी एक समयवर्ती सत्, अहेतुक, पर से पूर्ण निरपेक्ष, स्वतंत्र है; उसे बदलने में किसी का, किसी भी प्रकार का प्रयास, कभी भी सफल नहीं हो सकता है; अत: पर्यायमात्र से दृष्टि हटाकर दृष्टि अपने ध्रुव स्वभाव पर केन्द्रित करना – यह ज्ञान कराने के लिए इस तत्समय की योग्यतारूप क्षणिक उपादान का कथन किया जाता है।

इत्यादि अनेक प्रयोजनों की सिद्धि के लिए कार्य के कारणों में तत्समय की योग्यतारूप क्षणिक उपादान कारण को बताया गया है।

प्रश्न १५ : निमित्त कारण के पर्यायवाची शब्द लिखते हुए, उसके भेद-प्रभेद लिखिए।

उत्तर : निमित्त कारण के कारण, प्रत्यय, हेतु, साधन, सहकारी, उपकारी, उपग्राहक, संयोगरूप कारण, ज्ञापक कारण, आश्रय, आलम्बन, अनुग्राहक, उत्पादक, हेतुकर्ता, हेतुमान, अभिव्यंजक इत्यादि अनेक पर्यायवाची नाम हैं।

वस्तु की स्वरूपगत विविध विशेषताओं के कारण निमित्तों के अनेक भेद हो जाते हैं; जैसे – उदासीन और प्रेरक, अंतरंग और बहिरंग, नियामक और अनियामक, बलाधान और प्रतिबंधक, सद्भावरूप और अभावरूप इत्यादि।

इच्छा शक्ति और क्रिया शक्ति से रहित द्रव्यों की निमित्तता उदासीन निमित्त कहलाती है; जैसे सिद्ध भगवान, धर्मादि द्रव्य आदि। इच्छावान, क्रियावान द्रव्यों की निमित्तता प्रेरक निमित्त कहलाती है; जैसे विद्यार्थी की पढ़ाई में अध्यापक, दण्ड आदि; ध्वजा के फड़कने में वायु आदि।

इन्द्रिय आदि से ज्ञात नहीं होने वाले पदार्थों की नियामक निमित्तता अंतरंग निमित्त है; जैसे असमानजातीय मनुष्य आदि पर्यायों के रहने में मनुष्य नामक आयुष्क कर्म का उदय आदि। दिखाई देने वाले पदार्थों की निमित्तता बहिरंग निमित्त कहलाती है; जैसे मनुष्य आदि पर्यायों के रहने

में सात्त्विक भोजन-पान का सेवन आदि।

कार्य की उत्पत्ति के साथ अबिनाभाव संबंध रखने वाले पदार्थों की निमित्तता नियामक निमित्त है; जैसे क्रोध की उत्पत्ति के समय क्रोध कषाय नामक चारित्र मोहनीय कर्म का उदय आदि। कार्य की उत्पत्ति के साथ अबिनाभावी संबंध नहीं रखने वाले पदार्थों की निमित्तता अनियामक निमित्त है; जैसे क्रोध की उत्पत्ति में गाली आदि का सुनना इत्यादि।

निष्क्रिय होने पर भी जिनका क्रिया-हेतुत्व नष्ट नहीं होता है, उन पदार्थों की निमित्तता को बलाधान निमित्त कहते हैं; जैसे अपने पैरों के बल पर चलनेवाले व्यक्ति को यष्टि/लाठी का अवलम्बन इत्यादि। रुकावट करने वाली या बाधक निमित्तता को प्रतिबंधक निमित्त कहते हैं; जैसे सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में मिथ्यात्व कर्म का उदय या अज्ञानी-गुरु आदि का मिलना इत्यादि।

विद्यमान पदार्थों की निमित्तता को सद्भावरूप निमित्त कहते हैं; जैसे जल की तरंगित दशा में वायु का चलना, तत्त्वोपलब्धि में सत्संग का मिलना इत्यादि। अविद्यमान पदार्थों की निमित्तता को अभावरूप निमित्त कहते हैं; जैसे जल की निस्तरंग दशा में वायु का नहीं चलना, तत्त्वोपलब्धि में दर्शनमोहनीय आदि कर्मों का उदय नहीं होना इत्यादि।

इत्यादि रूपों में निमित्तकारण के अनेक भेद हो जाते हैं।

प्रश्न १६ : कारण के भेद-प्रभेदों को चार्ट द्वारा स्पष्ट कीजिए।

उत्तर :

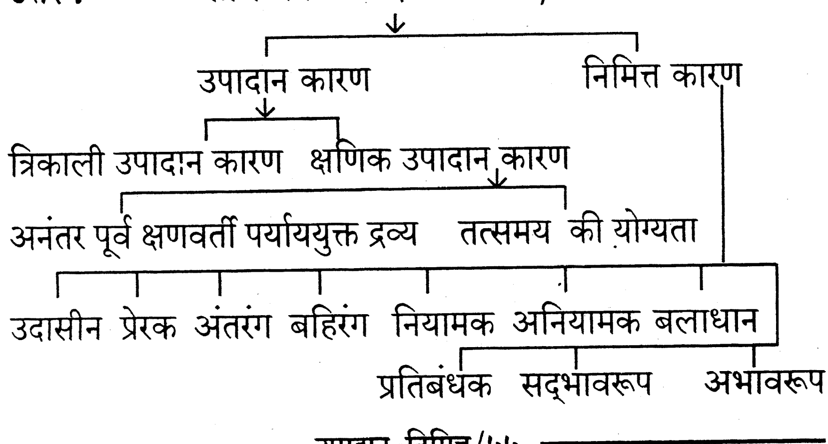

प्रश्न १७ : कार्य की उत्पत्ति के समय इन कारणों में से कौन सा कारण किसका नियामक है ?

उत्तर : प्रत्येक वस्तु में प्रतिसमय होने वाला प्रत्येक कार्य स्वभाव, पुरुषार्थ/विधि, काललब्धि, भवितव्य और निमित्त – इन पाँच समवायों के सांनिध्य में होता है। उक्त कारणों में से त्रिकाली उपादान स्वभाव का, अनन्तर पूर्व क्षणवर्ती पर्याय से युक्त द्रव्य पुरुषार्थ/विधि का, तत्समय की योग्यता काललब्धि और भवितव्य का तथा शेष उदासीन आदि पदार्थों की निमित्तता निमित्त कारण के नियामक हैं। प्रत्येक कार्य इन पाँचों की उपस्थिति में ही होता है।

प्रश्न १८ : प्रत्येक कार्य में निमित्त-उपादान की क्या स्थिति है ?

उत्तर : प्रत्येक पदार्थ द्रव्य-शक्ति और पर्याय-शक्ति – इन दो शक्तिओं से सहित है। द्रव्य-शक्ति/व्यापक नित्य और पर्याय-शक्ति व्याप्य/अनित्य होती है। मात्र द्रव्य-शक्ति के आधार पर कार्य की उत्पत्ति मानने से कार्य के नित्यत्व का प्रसंग आता है; अतः पर्याय-शक्ति युक्त द्रव्य-शक्ति को ही कार्य का नियामक कारण स्वीकार किया गया है।

यद्यपि प्रत्येक पदार्थ में कार्य होने के लिए पर्याय-शक्ति से युक्त द्रव्य-शक्ति ही पर्याप्त है; अन्य द्रव्यों की उसमें किंचित् भी आवश्यकता नहीं है; तथापि एकसाथ एक ही लोकाकाश में रहनेवाले अनन्तानन्त द्रव्य सतत परिणमनशील होने के कारण किसी एक परिणमन का किसी दूसरे परिणमन पर अनुकूलता का आरोप आ जाता है। जिस परिणमन पर, जिसकी अनुकूलता का आरोप आता है, उसे उस कार्य का निमित्त कह दिया जाता है। कार्य के होने में उपादान सदैव अनुरूप और निमित्त सदैव अनुकूल होता है; अतः सहकारी कारण सापेक्ष विशिष्ट पर्याय-शक्ति से युक्त द्रव्य-शक्ति ही कार्य की उत्पत्ति की कारण है। इसे ही भैया भगवतीदासजी अपने उपादान-निमित्त संवाद में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

> **"उपादान निजशक्ति है, जिय को मूल स्वभाव।**
> **है निमित्त परयोग तैं, बन्यो अनादि बनाव ॥३॥"**

कार्य की उत्पत्ति के पूर्व किसी पर अनुकूल होने का आरोप आना भी

सम्भव नहीं होने से वास्तव में निमित्त-उपादान संबंध एकसमयवर्ती कार्य की उत्पत्ति के समय ही घटित होता है। कार्य सदा उपादान कारण के अनुरूप होता है तथा कार्य के अनुसार निमित्त कहा जाता है; परन्तु कार्य कभी भी निमित्तों के अनुसार नहीं होता है। इसप्रकार **कार्य की उत्पत्ति में निमित्त की उपस्थिति का निषेध नहीं है; उपादान में निमित्त के कर्तृत्व का निषेध है।**

निष्कर्ष यह है कि अपनी उपादानगत योग्यतानुसार कार्य होते समय निमित्त होता अवश्य है। वह उस समय भी अपने लिए उपादान होने के कारण अपने में अपना कार्य भी कर रहा है; परन्तु विवक्षित उपादानगत कार्य में वह कुछ भी हस्तक्षेप, सहयोग आदि नहीं करता है।

प्रश्न १९ : निमित्त-उपादानगत कार्य में कुछ भी नहीं करता है, इसे सप्रमाण उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नहीं कर सकता है; इसे स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्ददेव समयसार में लिखते हैं –

''जो जम्हि गुणे दव्वे, सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं ॥१०३॥

जो जिस गुण या द्रव्य में रहता है, वह उससे भिन्न अन्य द्रव्य में परिणमन को प्राप्त नहीं होता है। अन्यरूप से परिणमन को प्राप्त नहीं होता हुआ वह अन्य द्रव्य को कैसे परिणमित करा सकता है ?''

निमित्त, उपादानगत कार्य में कुछ भी नहीं करता है – इसे स्पष्ट करते हुए आचार्य पूज्यपाद स्वामी, इष्टोपदेश ग्रन्थ में लिखते हैं –

''नाज्ञो विज्ञत्वमायाति, विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति।
निमित्तमात्रमन्यस्तु, गतेर्धर्मास्तिकायवत् ॥३५॥

अज्ञ को उपदेश आदि निमित्तों द्वारा विज्ञ नहीं किया जा सकता है और न ही विज्ञ को अज्ञ कर सकते हैं। जैसे स्वयं चलते हुए जीव-पुद्गलों की गति में धर्मास्तिकाय निमित्त होता है; उसीप्रकार परपदार्थ तो निमित्त मात्र हैं।''

इसकी ही संस्कृत टीका में पण्डित आशाधरजी उपादानगत कार्य में

निमित्त के अकर्तृत्व को शंका-समाधान की शैली में स्पष्ट करते हैं। जिसका हिन्दी अनुवाद इसप्रकार है –

"ऐसा स्वीकार करने पर तो बाह्य निमित्तों का निराकरण ही हो जाएगा? इसका उत्तर इसप्रकार है कि अन्य गुरु आदि या शत्रु आदि तो प्रकृत कार्य के उत्पादन या विध्वंसन में केवल निमित्त मात्र हैं। वास्तव में तो किसी कार्य के होने या बिगड़ने में उसकी योग्यता ही साक्षात् साधक होती है।"

आचार्य अमृतचंद्रदेव पुरुषार्थसिद्धि-उपाय ग्रन्थ में कर्म और जीव पर इसे इसप्रकार घटित करते हैं –

"जीवकृतं परिणामं, निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥१२॥
परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः।
भवति हि निमित्तमात्रं, पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥१३॥

जीवकृत परिणाम का निमित्तमात्र पाकर जीव से अन्य पृथक् पुद्गल स्कन्ध अपने आप ही ज्ञानावरण आदि कर्मरूप से परिणमित हो जाते हैं। रागादि भावरूप से स्वयं परिणमन करते हुए जीव को भी पौद्गलिक कर्म केवल निमित्तमात्र होते हैं।"

पर के साथ कारकता के संबंध का निषेध करते हुए वे ही प्रवचनसार की १६वीं गाथा की तत्त्वप्रदीपिका टीका में लिखते हैं –

"अतो न निश्चयतः परेण सहात्मनः कारकत्वसंबंधोऽस्ति, यतः शुद्धात्मस्वभावलाभाय सामग्रीमार्गणव्यग्रतया परतंत्रैर्भूयते।

इसलिए निश्चय से पर के साथ आत्मा के कारकता का कोई संबंध नहीं है; तथापि शुद्धात्म-स्वभावलाभ के लिए जीव न जाने क्यों सामग्री खोजने की व्यग्रता से परतंत्र होते हैं ?"

इसीप्रकार का भाव जीव के विकृत परिणमन के संदर्भ में उन्होंने पंचास्तिकाय संग्रह ६२वीं गाथा की समयव्याख्या टीका में भी स्पष्ट किया है।

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी मोक्ष-मार्ग-प्रकाशक ग्रन्थ में इसे इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"परद्रव्य कोई जबरन तो बिगाड़ता नहीं है, अपने भाव बिगड़ें तब वह भी बाह्य निमित्त है तथा इसके निमित्त बिना भी भाव बिगड़ते हैं, इसलिए

नियमरूप से निमित्त भी नहीं है।

इसप्रकार परद्रव्य का दोष देखना मिथ्याभाव है।"

निमित्त न तो उपादान में बलात् कुछ करता है और न ही उपादान किन्हीं निमित्तों को बलात लाता या मिलाता है। दोनों का सहज ही संबंध होता है। निमित्त-नैमित्तिक संबंध की सहजता वे वहीं इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

"यदि कर्म स्वयं कर्ता होकर उद्यम से जीव के स्वभाव का घात करे, बाह्य सामग्री को मिलाए, तब तो कर्म के चेतनपना भी चाहिए और बल-वानपना भी चाहिए; सो तो है नहीं; सहज ही निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। जब उन कर्मों का उदयकाल हो, उस काल में आत्मा स्वयं ही स्व-भावरूप परिणमन नहीं करता है, विभावरूप परिणमन करता है तथा जो अन्य द्रव्य हैं, वे वैसे ही संबंधरूप होकर परिणमित होते हैं।

जिसप्रकार सूर्य के उदयकाल में चकवा-चकविओं का संयोग होता है। वहाँ रात्रि में किसी ने उन्हें द्वेष-बुद्धि पूर्वक बलजवरी से पृथक् नहीं किया है, दिन में किसी ने करुणा बुद्धि से लाकर मिलाया नहीं है। सूर्यास्त का निमित्त पाकर वे स्वयं ही बिछुड़ते हैं और सूर्योदय का निमित्त पाकर स्वयं ही मिलते हैं। ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक बन रहा है; उसीप्रकार कर्म का भी निमित्त-नैमित्तिक भाव जानना।"

उपादानगत कार्य में निमित्त के अकर्तृत्व को भट्ट अकलंक स्वामी तत्त्वार्थराजवार्तिक में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं – "**धर्माधर्माकाशपुद्-गलाः इति बहुवचनं स्वातन्त्र्यप्रतिपत्त्यर्थं द्रष्टव्यम्। किं पुनः स्वा-तन्त्र्यं ? धर्मादयो गत्याद्युपग्रहान् प्रति वर्तमानाः स्वयमेव तथा परि-णमन्ते न परप्रत्ययाधीना तेषां प्रवृत्तिः इत्येतदत्र विवक्षितं स्वा-तन्त्र्यम्। ननु च बाह्यद्रव्यादिनिमित्तवशात् परिणामिनां परिणामः उपलभ्यते, स च स्वातन्त्र्ये सति विरुध्यते इति ? नैष दोषः; बाह्यस्य निमित्तमात्रत्वात्।**

धर्माधर्माकाशपुद्गलाः – इसमें बहुवचन स्वातन्त्र्य की प्रतिपत्ति के लिए है।

प्रश्न : वह स्वातन्त्र्य क्या है ?

उत्तर : इनका यही स्वातन्त्र्य है कि ये स्वयं गति या स्थिति रूप से

परिणत जीव-पुद्गलों की गति या स्थिति में स्वयं निमित्त होते हैं; जीव-पुद्गल इन्हें प्रेरित नहीं करते हैं। इनकी प्रवृत्ति पराधीन नहीं है।

प्रश्न : 'बाह्य द्रव्यादि के निमित्त से परिणामिओं के परिणाम उपलब्ध होते हैं' – यह इस स्वातन्त्र्य के मानने पर विरोध को प्राप्त होता है?

उत्तर : यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि बाह्य वस्तुएं निमित्तमात्र होती हैं, परिणामक नहीं।"

आचार्य वीरसेनस्वामी षट्खण्डागम की धवला टीका में इसे इसप्रकार व्यक्त करते हैं –

"**तम्हा कम्हि वि अंतरंगकारणादो चेव कज्जुप्पत्ती होदि त्ति णिच्छओ कायव्वो** – इसलिए कहीं भी अंतरंग कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है – ऐसा निश्चय करना चाहिए।"

इत्यादि प्रकार से आगम के अनेकानेक प्रमाणों और उदाहरणों से स्पष्ट है कि निमित्त अपने में अपना कार्य करता होने पर भी उपादानगत कार्य में कुछ भी नहीं करता है।

प्रश्न २० : यदि निमित्त उपादानगत कार्य में कुछ भी नहीं करता है तो कुछ निमित्तों का नाम 'प्रेरक निमित्त' क्यों पड़ा ?

उत्तर : उपादानगत कार्य में कुछ भी करने की दृष्टि से तो सभी निमित्त एक समान धर्मास्तिकायवत उदासीन ही हैं; परन्तु निमित्त-निमित्त की पारस्परिक विशेषता को स्पष्ट करने के लिए निमित्त के भेद किए गए हैं। यद्यपि प्रेरक शब्द का अर्थ व्याकरण में प्रेरणा देने वाला होता है; तथापि कारण-कार्य मीमांसा में निमित्त के सन्दर्भ में प्रेरक का अर्थ इच्छावान, क्रियावान द्रव्य है। जो द्रव्य मात्र इच्छावान हैं, जो द्रव्य मात्र क्रियावान हैं अथवा जो द्रव्य इच्छावान और क्रियावान दोनों विशेषताओं से सहित हैं; उन पर कोई कार्य होते समय अनुकूल होने का आरोप आने पर वे प्रेरक निमित्त कहलाते हैं।

जैसे एक विद्यार्थी के अध्ययनरूप कार्य के समय उसकी अशिक्षित माँ मात्र इच्छावान होने से, अध्यापक का दण्ड मात्र क्रियावान होने से

तथा अध्यापक इच्छा और क्रिया – दोनों सम्पन्न होने से प्रेरक निमित्त कहलाते हैं। पुस्तक, प्रकाश आदि इन दोनों से रहित होने के कारण उदासीन निमित्त कहलाते हैं।

निमित्त-निमित्त में अन्तर डालने की अपेक्षा तो यह तथ्य यथार्थ है; पर जब हम उपादानगत अध्ययनरूप कार्य की अपेक्षा इन निमित्तों को देखते हैं तो सभी एक ही समान दिखाई देते हैं। जैसे पुस्तक और प्रकाश ने उदासीन निमित्त होने के कारण विद्यार्थी को प्रेरित नहीं किया है; उसीप्रकार माँ, दण्ड और अध्यापक ने भी प्रेरक निमित्त होने पर भी उसे प्रेरित नहीं किया है। यद्यपि अध्यापक आदि का सक्रिय योगदान अध्ययनरूपी कार्य में दिखाई देता है; तथापि उन्होंने विद्यार्थी के अध्ययन कार्य में कुछ भी नहीं किया है। यदि किया होता तो सभी विद्यार्थिओं का एक समान अध्ययन होता; परन्तु सभी का अध्ययन उनकी अपनी-अपनी योग्यता-नुसार ही होता है, अध्यापक आदि के अनुसार नहीं।

अध्यापक आदि तो सभी विद्यार्थिओं को प्रेरित करते हैं, कमजोर विद्यार्थिओं को तो और अधिक प्रेरित करते हैं; परन्तु उनकी प्रेरणा के अनुसार कार्य नहीं होता है, विद्यार्थिओं की अपनी योग्यता के अनुसार ही कार्य होता है। इससे स्पष्ट है कि प्रेरक निमित्त भी उपादानगत कार्य में कुछ भी नहीं करते हैं।

प्रश्न २१ : वास्तव में निमित्त-नैमित्तिक संबंध या निमित्त-उपादान संबंध कब, किसमें होता है ?

उत्तर : वास्तव में निमित्त-नैमित्तिक संबंध या निमित्त-उपादान संबंध एक समयवर्ती दो पर्यायों के बीच होता है। उनके द्रव्य, गुणों या विभिन्न समयवर्ती पर्यायों के बीच नहीं होता है; परन्तु पर्यायें द्रव्य और गुणों से कथंचित् अभिन्न होने के कारण द्रव्य या गुणों के बीच भी ये संबंध होते हैं – ऐसा उपचार से कहा जाता है। आचार्य कुन्दकुन्ददेव समयसार ग्रन्थ में इसे इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

“जदि सो परदव्वाणि य, करेज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज।
जम्हा ण तम्मओ तेण, सो ण तेसिं हवदि कत्ता॥९९॥

जीवो ण करेदि घडं, णेव पडं णेव सेसगे दव्वे।
जोगुवओगा उप्पादगा य तेसिं हवदि कत्ता ॥१००॥

यदि आत्मा परद्रव्यों को करे तो वह नियम से तन्मय अर्थात् परद्रव्यमय हो जाए; परंतु तन्मय नहीं है; इसलिए वह उनका (उपादान) कर्ता नहीं है।

जीव घट को नहीं करता, पट को नहीं करता, शेष किसी द्रव्य को नहीं करता है; परन्तु जीव के योग और उपयोग उनके उत्पादक हैं; वे दोनों उनके (निमित्त) कर्ता हैं।''

आचार्य अमृतचंद्र स्वामी ने इनकी आत्मख्याति टीका में इनके भाव को जिसप्रकार स्पष्ट किया है; उसका हिन्दी अनुवाद इसप्रकार है –

''यदि निश्चय से यह आत्मा परद्रव्यरूप कर्म को करे तो अन्य किसी प्रकार से परिणाम-परिणामी भाव न बन सकने से वह (आत्मा) नियम से तन्मय (परद्रव्यमय) हो जाए; परन्तु वह तन्मय नहीं है; क्योंकि कोई द्रव्य अन्य द्रव्यमय हो जाए तो उस द्रव्य के नाश की आपत्ति आ जाए; इसलिए आत्मा व्याप्य-व्यापक भाव से परद्रव्य स्वरूप कर्म का कर्ता नहीं है।

वास्तव में जो घटादि या क्रोधादिमय परद्रव्य स्वरूप कर्म हैं, उन्हें आत्मा व्याप्य-व्यापक भाव से नहीं करता है; क्योंकि यदि ऐसा करे तो तन्मयता का प्रसंग आ जाएगा। वह निमित्त-नैमित्तिक भाव से भी उन्हें नहीं करता है; क्योंकि यदि ऐसा करे तो नित्य-कर्तृत्व का प्रसंग आ जाएगा; अत: अनित्य योग-उपयोग ही निमित्तरूप से उनके कर्ता हैं। अपने विकल्प को और अपने व्यापार को कदाचित् अज्ञान से करने के कारण योग-उपयोग का कर्ता आत्मा भले हो; परन्तु परद्रव्य स्वरूप कर्म का कर्ता तो वह कभी भी नहीं है।''

निमित्त-उपादान या निमित्त-नैमित्तिक संबंध की क्षणिकता को कषाय पाहुड में आचार्य यतिवृषभदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''...**पागभावो कारणं। पागभावस्स विणासो वि दव्वखेत्त-कालभवावेक्खाए जायदे; तदो ण सव्वद्धं दव्वकम्माइं सगफलं कुणंति त्ति सिद्धम्।**

...प्रागभाव का विनाश हुए बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। प्रागभाव का विनाश द्रव्य, क्षेत्र, काल और भव की अपेक्षा लेकर होता

है; इसलिए द्रव्य-कर्म सर्वदा अपने कार्य को उत्पन्न नहीं करते हैं – यह सिद्ध हुआ।''

उपादानगत कार्य की उत्पत्ति के समय अनुकूल होने वाले अन्य परिणमन को निमित्त कहते हैं। कार्य पर्याय होने के कारण सदा एक समयवर्ती होता है; अत: उसके प्रति अनुकूलता भी उसके ही समान एक समयवर्ती होती है।

इसप्रकार वास्तव में निमित्त-उपादान संबंध या निमित्त-नैमित्तिक संबंध एक समयवर्ती विभिन्न पर्यायों में ही घटित होता है। द्रव्य, गुण या भिन्न समयवर्ती पर्यायों में इन्हें घटित करना अत्यन्त औपचारिक व्यवहार समझना चाहिए; वास्तविक नहीं। वास्तव में उपादानगत कार्य की उत्पत्ति के पूर्व किसी को उसका निमित्त कहना सम्भव ही नहीं है।

प्रश्न २२ : यदि निमित्त-उपादान या निमित्त-नैमित्तिक संबंध मात्र एक समयवर्ती होता है तो बुरे निमित्तों से हटकर, सद्-निमित्तों में रहना चाहिए – इस उपदेश की क्या सार्थकता है ?

उत्तर : वास्तव में तो एक-एक समयवर्ती प्रत्येक कार्य पाँच समवायात्मक निमित्त-उपादान की सन्निधि में ही उत्पन्न होने के कारण उसका निमित्त सुनिश्चित ही है; अत: बुरे निमित्तों से हटकर, सद्-निमित्तों में रहना चाहिए – यह जिनवाणी का स्थूल, औपचारिक कथन है। वास्तव में तो किसी को 'निमित्त' – यह नाम कार्योत्पत्ति के समय ही मिलता है; तथापि कुछ पदार्थ अधिकांशतया किसी विशिष्ट प्रकार के कार्य के निमित्त होने के कारण उन्हें सामान्यरूप में सदा-सदा के लिए ही उस कार्य के निमित्तरूप में स्वीकृत कर लिया जाता है।

जैसे सच्चे देव-शास्त्र-गुरु आदि सम्यक् रत्नत्रय के निमित्त कहलाते हैं; चोर, जार (गुप्तप्रेमी), शराबी, वेश्या आदि दुर्व्यसनों के निमित्त कहलाते हैं। इसी आधार पर यह कहा जाता है कि बुरे निमित्तों से हटकर, सद्-निमित्तों में रहना चाहिए। इसमें यद्यपि उनका 'निमित्त' यह नाम तो हममें सद्कार्य होने पर ही होता है; तथापि उनके समागम में रहने की रुचि हमारे वर्तमान परिणामों की निर्मलता और उज्ज्वल भविष्य

की सूचक अवश्य है; वे इसके निमित्त तो हैं ही। इसप्रकार यह उपदेश भी सार्थक ही है।

वास्तव में तो अपने लिए अपना त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा ही वास्तविक सत् है। उसके समागम अर्थात् सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र से ही सत्समागम का लाभ/आत्मानुभूतिमय अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट होता है; अत: हमें उसके समागम का/उसमें ही लीनता का सतत प्रयास करना चाहिए।

प्रश्न २३ : जब प्रत्येक कार्य उपादान और निमित्त – दोनों की उपस्थिति में होता है तो निमित्त जुटाने की व्यग्रता का, निमित्ताधीन दृष्टि रखने का निषेध क्यों किया जाता है ? मात्र उपादान का आश्रय लेने की बात क्यों की जाती है ?

उत्तर : प्रत्येक कार्य उपादान और निमित्त दोनों की उपस्थिति में होने पर भी एकमात्र उपादान ही उस कार्यरूप से परिणमित होता है; निमित्त नहीं। निमित्त पर तो अनुकूल होने का मात्र आरोप आता है। कार्य की उत्पत्ति के पूर्व किसी पर आरोप करना सम्भव नहीं होने से निमित्त जुटाने की व्यग्रता का निषेध किया जाता है। इसके साथ ही निमित्त, उपादान से भिन्न पर ही होता है। पर की ओर दृष्टि करने से पराधीनता होती है। पराधीनता स्वयं दु:ख और दु:ख की कारण है। सुखार्थी के लिए तो एकमात्र स्वाधीनता ही श्रेयस्कर है; अत: निमित्ताधीन दृष्टि का निषेध किया जाता है।

वास्तव में तो निमित्त की सत्ता निमित्ताधीन दृष्टि छोड़ने में ही सुरक्षित रहती है। निमित्त को कर्ता मानने वाला ही निमित्ताधीन दृष्टि रखता है। उसकी दृष्टि में निमित्त ही उपादानगत कार्य का कर्ता हो जाने से उपादान हो जाएगा; तब निमित्त की सत्ता कहाँ रहेगी ? इसप्रकार निमित्त-रूप में निमित्त की सत्ता सुरक्षित रखने के लिए ही निमित्त जुटाने की व्यग्रता का, निमित्ताधीन दृष्टि रखने का निषेध किया जाता है।

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक क्षणिक और त्रैकालिक शक्ति-संपन्न उपादान ही स्वयं स्वत: कार्यरूप से परिणमित होने के कारण कार्य की उत्पत्ति के लिए सदा उसका ही आश्रय लेने की बात की जाती है।

प्रश्न २४ : जब उपादानगत कार्य के समय निमित्त की उपस्थिति अनिवार्य

है, तब फिर निमित्त को उपादानगत कार्य का वास्तविक कर्ता मान लेने में हानि क्या है ?

उत्तर : उपादानगत कार्य के समय निमित्त की उपस्थिति अनिवार्य होने पर भी; क्योंकि वह उपादानगत कार्य का वास्तविक कर्ता नहीं है; अत: उसे उसका वास्तविक कर्ता नहीं माना जा सकता है। यदि कोई अपनी अज्ञानतावश उसे उपादानगत कार्य का वास्तविक कर्ता मानने का दुराग्रह करता है, तो उसे निम्नलिखित समस्याओं का सामना करना पड़ेगा –

१. व्याप्य-व्यापक भाव की विद्यमानता में ही वास्तविक कर्ताकर्म संबंध स्थापित होता है। यह भाव एक पदार्थगत द्रव्य, गुण, पर्यायों में ही घटित होता है; पृथक् पदार्थों में नहीं। निमित्त उपादान से पृथक् होने के कारण उसमें व्याप्य-व्यापक भाव विद्यमान नहीं होने से वह उपादानगत कार्य का वास्तविक कर्ता कैसे हो सकता है ?

२. "**स्वतंत्र: कर्ता** – कर्ता स्वतंत्र होता है।" "**य: परिणमति स: कर्ता** – जो उस कार्यरूप परिणमित होता है, वह कर्ता है।"

इन परिभाषाओं के अनुसार कर्ता स्वयं कार्यरूप से परिणमित होता है। निमित्त उपादानगत कार्यरूप से परिणमित नहीं होता है, तब फिर वह उसका वास्तविक कर्ता कैसे हो सकता है ?

३. निमित्त को उपादानगत कार्य का वास्तविक कर्ता मान लेने पर–

"जो जम्हि गुणे दव्वे, सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे।
सो अण्णमसकंतो कह तं परिणामए दव्वं॥

– समयसार गाथा १०३

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गला: कर्मभावेन॥१२॥
परिणममानस्य चितश्चिदात्मकै: स्वयमपि स्वकैर्भावै:।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि॥१३॥

– पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

सधै वस्तु असहाय जहाँ, तहाँ निमित्त है कौन ?
ज्यों जहाज परवाह में, तिरै सहज बिन पौन॥

– निमित्त-उपादान दोहे

अनादिनिधन सभी वस्तुएँ भिन्न-भिन्न अपनी-अपनी मर्यादा सहित परिणमित होती हैं। कोई किसी के अधीन नहीं हैं। कोई किसी के परिणमित कराने से परिणमित नहीं होती हैं। —मोक्षमार्गप्रकाशक

न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते।... न हि वस्तु-शक्तय: परमपेक्षन्ते॥ —समयसार, ११६ से १२० गाथा पर्यंत की आत्मख्याति टीका के वाक्यांश

इत्यादि आगम वाक्यों की सत्यता सिद्ध नहीं हो सकेगी।

४. निमित्त अनियत स्वभावी होने से किसी भी विवक्षित कार्य का नियत पुरुषार्थ सम्भव नहीं हो सकेगा।

५. निमित्त के समान कार्य नहीं होने से सदा निमित्तों पर आरोप-प्रत्यारोप होते रहने की स्थिति में वातावरण सदा अशांत, क्षुब्ध रहेगा।

६. परमुखापेक्षिता नष्ट नहीं होने से पुरुषार्थ करने का भाव जागृत नहीं हो सकेगा।

इत्यादि अनेक कारणों से निमित्त को वास्तविक कर्ता मानना उचित नहीं है।

प्रश्न २५ : उपादान-निमित्त के इस प्रकरण को समझने से क्या लाभ है?

उत्तर : उपादान-निमित्त के इस प्रकरण को समझने से सदा-सदा के लिए हानिओं की हानि होकर (हानिआँ नष्ट होकर) लाभ ही लाभ प्राप्त होते हैं। जिनमें से कुछ प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं –

१. छद्मस्थ प्राणी सदा अनुकूल संयोगों की चाह करते रहते हैं। उन्हें पाने के लिए वे दीन-हीन बनकर दूसरों के सामने हाथ फैलाते रहते हैं, किसी के भी गुलाम बने रहते हैं। प्रस्तुत प्रकरण समझ में आ जाने पर उन्हें यह समझ में आ जाएगा कि प्रत्येक प्राणी को अनुकूल संयोग स्वयं की उपादानगत योग्यता और शुभकर्मों के उदय की निमित्तता में प्राप्त होते हैं; तब यह दीन-हीन, पराधीन भिखारी वृत्तिओं को छोड़कर सद्भाव और सत्कर्म में प्रवृत्त होगा। जिससे जीवन सहज ही अन्याय, अनीति, असदाचार, अभक्ष्य-भक्षण आदि के त्यागमय न्याय, नीति, सदाचार-सम्पन्न, स्वस्थ, निराकुल हो जाएगा।

२. इसी आधार पर पर के कर्तृत्व का अहंकार और पर से भयभीत होने का भाव नष्ट होकर लौकिक सुख-शान्ति प्राप्त हो जाती है।

३. इसी आधार पर पर के कर्तृत्व संबंधी विकल्पों के शमन से आत्म-हितकारी कार्यों के लिए समय भी सहजरूप में उपलब्ध हो जाता है।

४. प्रत्येक द्रव्य की स्वतंत्रता का भान होने पर स्वावलम्बन का भाव जागृत होता है।

५. पर पदार्थों के सहयोग की आकांक्षा से होने वाली व्यग्रता का अभाव होकर सहज शान्त दशा प्रगट होती है।

६. इसी आधार पर स्वयंकृत अपराधों का कर्तृत्व दूसरों पर न थोपते हुए स्व-दोष-दर्शन और आत्म-निरीक्षण करने का भाव जागृत होता है।

७. निमित्त-उपादान का स्वरूप समझने से यह तथ्य अत्यन्त स्पष्टरूप से समझ में आ जाता है कि प्रत्येक पदार्थ स्वयं के परिणमन का ही कर्ता है। अन्य के परिणमन में तो वह मात्र निमित्त होता है, कर्ता-धर्ता कुछ भी नहीं है – इस समझ के बल पर मिथ्या कर्तृत्व का अनन्त भार उतर जाने के कारण जीवन निर्भार, निश्चिन्त हो जाता है।

८. कोई मेरा भला-बुरा कर सकता है – यह मिथ्यात्वमय परिणाम इसी समझ से नष्ट हो जाने के कारण जीवन सहज तत्त्वाभ्यासमय, सम्यक् रत्नत्रय-युक्त, आत्मानुभूति-सम्पन्न, निराकुल हो जाता है।

इत्यादि लाभ ही लाभ इस प्रकरण को समझने से प्राप्त होते हैं। ○

शान्ति विधायक मन्त्र

अणु-अणु की सत्ता स्वतंत्र है, द्रव्यमात्र स्वाधीन सभी।
सबकी सीमा न्यारी नहिं, आदान-प्रदान विधान कभी॥
सबको अपनी सीमा प्यारी, अपना घर ही प्यारा है।
अरे विश्व का शान्ति विधायक, यह सिद्धांत निराला है॥
यही वस्तु की मर्यादा है, यही वस्तु की शान भी।
इससे तड़क-तड़क गिर पड़ती, कर्मों की सन्तान भी॥
है स्वभाव यह सहज वस्तु का सदा अकेला एक है।
यह ही उसकी सुन्दरता है, वह पर से निरपेक्ष है॥

पाठ ५ : आत्मानुभूति और तत्त्व-विचार

प्रश्न १ : आत्मानुभूति का स्वरूप अर्थात् आत्मानुभवमय दशा का सर्वांगीण वर्णन कीजिए।

उत्तर : 'आत्मानुभूति' पद तीन शब्दों से मिलकर बना है – आत्मा, अनु और भूति। आत्मा=ज्ञानानन्द-स्वभावी अपना जीव तत्त्व, अनु=अनुसरण करके, भूति=होनेवाली। ज्ञानानन्द-स्वभावी अपने भगवान आत्मा का अनुसरण करके प्रगट होनेवाली पर्याय आत्मानुभूति कहलाती है। अन्त-रोन्मुखी वृत्ति द्वारा आत्म-साक्षात्कार/आत्मा के प्रत्यक्ष संवेदन की स्थिति आत्मानुभूति है। अपने प्रगट वर्तमान ज्ञान को मुख्य कर अपनी वर्तमान-कालीन समस्त पर्यायों का पर से हटकर अपने त्रिकाली ध्रुव आत्मतत्त्व में लग जाना ही आत्मानुभूति है।

इसे आत्मानुभव, स्वसंवेदन, आत्मा का प्रत्यक्ष वेदन, शुद्धोपयोग, स्वरूपलीनता, आत्मलीनता, आत्मस्थिरता, निर्विकल्प सम्यक् रत्नत्रय इत्यादि नामों से भी जाना जाता है।

कविवर पण्डित बनारसीदासजी नाटक-समयसार की उत्थानिका में इसे इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"वस्तु विचारत ध्यावतैं, मन पावै विश्राम।
रसस्वादत सुख ऊपजै, अनुभौ याकौ नाम ।।१७।।

वस्तुस्वरूप का/आत्मतत्त्व का विचार और ध्यान करने से मन विश्राम पा जाता है/स्थिर हो जाता है तथा आत्मिक रस का स्वाद लेने से सुख उत्पन्न होता है, उसे अनुभव कहते हैं।"

कविवर पण्डित दौलतरामजी छहढाला की छठवीं ढाल में आत्मा-नुभूति की प्रक्रिया, स्वरूप इत्यादि को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"जिन परम पैनी सुबुधि छैनी, डारि अन्तर भेदिया।
वरणादि अरु रागादि तैं, निज भाव को न्यारा किया ।।
निजमाँहि निज के हेतु निजकर आपको आपै गह्यौ।
गुण-गुणी ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय, मँझार कछु भेद न रह्यौ ।।८।।

जहँ ध्यान ध्याता ध्येय कौ, न विकल्प बचभेद न जहाँ।
चिद्भाव कर्म चिदेश कर्ता, चेतना किरिया तहाँ॥
तीनों अभिन्न अखिन्न सुध उपयोग की निश्चल दसा।
प्रगटी जहाँ दृग ज्ञान व्रत ये, तीनधा एकै लसा॥९॥
परमाण नय निक्षेप कौ, न उद्योत अनुभव में दिखै।
दृग ज्ञान सुख बलमय सदा, नहिं आन भाव जु मो विखैं॥
मैं साध्य साधक मैं अबाधक, कर्म अरु तसु फलनितैं।
चित्पिण्ड चण्ड अखण्ड सुगुण करण्ड च्युति पुनि कलनि तैं॥१०॥
यौं चिंत्य निज में थिर भये, तिन अकथ जो आनन्द लह्यौ।
सो इन्द्र नाग नरेन्द्र वा अहमिन्द्र कै नाहीं कह्यौ॥११॥

जिन्होंने अत्यन्त तीक्ष्ण सुबुद्धि/प्रज्ञारूपी छैनी को अन्दर/आत्मा में डालकर वर्ण आदि सम्पन्न पुद्गल आदि से और रागादि भावों से अपने भाव को/ज्ञानानन्द-स्वभावी ध्रुवतत्त्व को पृथक् किया है; अपने में ही, अपने लिए, अपने द्वारा, अपने को, अपनत्वरूप से ग्रहण किया है; जिसमें गुण-गुणी, ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय, ध्यान-ध्याता-ध्येय इत्यादि किसी भी प्रकार का भेद नहीं रह गया है; जहाँ किसी भी प्रकार का विकल्प या वचन-भेद भी नहीं है; जिसमें चैतन्यभाव कर्म, चिदेश आत्मा कर्ता, चेतना क्रिया इत्यादि भेद भी नष्ट होकर तीनों अभिन्न हो गए हैं; अत: किसी भी प्रकार की खेद-खिन्नता नहीं रह गई है; यही शुद्धोपयोगमय निश्चल दशा है; इसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र – ये तीन भेद व्यक्त हो जाने पर भी जो एक अखण्डरूप से सुशोभित है; यही आत्मानुभव की दशा है।

इस आत्मानुभवमय निर्विकल्प दशा में प्रमाण, नय, निक्षेप का प्रकाश /भेद दिखाई नहीं देता है। दर्शन, ज्ञान, सुख, बल आदि अनन्त गुणों के अखण्ड पिण्ड आत्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ भी उस समय मुझमें दिखाई नहीं देते हैं। मैं साध्य हूँ, मैं साधक हूँ, मैं कर्म और उसके फलों से बाधा रहित हूँ; मैं चैतन्य का पिण्ड, प्रचण्ड/दैदीप्यमान, अखण्ड, सुगुणों का करण्ड/पिटारा/समूह हूँ; मैं शरीर आदि से पूर्णतया पृथक् हूँ – ऐसा विचारकर जो अपने आत्मा में स्थिर हुए; उन्होंने वचन-अगोचर, इन्द्र, धरणेन्द्र, नरेन्द्र, अहमिन्द्र आदि को भी दुर्लभ अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त किया।''

छहढाला का उक्त सम्पूर्ण कथन आत्मानुभूति का मार्ग प्रशस्त करने वाले समयसार आदि शास्त्रों का सरल, सुबोध हिन्दी भाषा में संक्षिप्त सार है। विस्तार के लिए समयसार गाथा ६, १४, ३८, ७३, १८१, १८२, १८३, २०६ आदि; समयसार कलश ९, १०, १२, १३, ३१, १२६, १२७, १२८, १३२ इत्यादि का अध्ययन करना चाहिए।

आत्मानुभूति की महिमा बताते हुए कविवर पण्डित बनारसीदासजी नाटक-समयसार की उत्थानिका में लिखते हैं –

"अनुभव चिंतामनि रतन, अनुभव है रसकूप।
अनुभव मारग मोख को, अनुभव मोख सरूप ॥१८॥

अनुभव चिंतामणि रत्न है। अनुभव शान्त रस का कुँआ है। अनुभव मोक्ष का मार्ग है। अनुभव स्वयं मोक्ष स्वरूप है।"

"अनुभौ के रसकौं रसायन कहत जग,
अनुभौ अभ्यास यहु तीरथ की ठौर है।
अनुभौ की जो रसा कहावै सोई पोरसा सु,
अनुभौ अधोरसासौं ऊरध की दौर है॥
अनुभौ की केली यहै कामधेनु चित्रावेलि,
अनुभौ कौ स्वाद पंच अमृत कौ कौर है।
अनुभौ करम तोरै परम सौं प्रीति जोरै,
अनुभौ समान न धरम कोऊ और है॥१९॥

जगत के ज्ञानीजन अनुभव के रस को रसायन कहते हैं; अनुभव का अभ्यास एक तीर्थभूमि है। अनुभव की भूमि सकल सुख को उत्पन्न करने वाली उपजाऊ भूमि है; अनुभव नरकादि अधोगतिओं से निकालकर ऊर्ध्वगतिओं में ले जाता है। अनुभव का आनन्द कामधेनु और चित्रावेलि के समान अद्‌भुत है; इसका स्वाद पंचामृत भोजन के समान है। अनुभव कर्म का क्षय करता है, परम पद से प्रीति जोड़ता है; अनुभव के समान अन्य कोई धर्म नहीं है।"

इसप्रकार रंग, राग और भेद से भिन्न अपने ज्ञानानन्द-स्वभावी भगवान आत्मा में निर्विकल्प स्थिरता ही आत्मानुभूति है। यह ज्ञानानन्दमय

वचनातीत दशा ही आत्मा का धर्म है, करने-योग्य कार्य है, आत्मार्थी साधक का एकमात्र इष्ट है।

प्रश्न २ : आत्मानुभूति प्रगट करने का उपाय क्या है ?

उत्तर : जैसे लोक में अपनी वस्तु का उपयोग करने के लिए पैसा आदि खर्च नहीं करना पड़ता है, अन्य की अपेक्षा/आवश्यकता नहीं होती है; उसी प्रकार **आत्मानुभूति प्रगट करने के लिए बाह्य साधनों की अपेक्षा/ आवश्यकता नहीं होती है। आत्मानुभूति में पर के सहयोग का विकल्प मात्र भी बाधक ही है, साधक नहीं है।** आत्मानुभूतिमय दशा में पर संबंधी विकल्पमात्र भी इसकी एकरसता को छिन्न-भिन्न कर नष्ट कर देता है; अत: आत्म-साधना में पर के सहयोग की आकांक्षा से व्यग्र रहनेवाले साधक को आत्मानुभूति नहीं होती है। यही कारण है कि आत्मानुभव के अभिलाषी मुमुक्षु पर के सहयोग की कल्पना में आकुलित नहीं होते हैं।

आत्मानुभूति प्रगट करने की प्रक्रिया निरन्तर तत्त्व-मंथन की प्रक्रिया है; परन्तु तत्त्व-मंथनरूप विकल्पों से आत्मानुभूति प्रगट नहीं होती है। आत्मानुभूति अपनी पूर्व भूमिका तत्त्व-मंथन का भी अभाव करती हुई उदित होती है; क्योंकि तत्त्व-मंथन विकल्पात्मक है और आत्मा निर्विकल्प स्व-संवेद्य तत्त्व होने से आत्मानुभूति निर्विकल्प स्व-संवेदनमय है। आत्मानुभूति प्रगट करने के लिए अपने आत्मा से भिन्न शरीर-कर्म आदि समस्त जड़ पदार्थ, अन्य चेतन पदार्थ तथा आत्मा में उत्पन्न होने वाली समस्त विकारी-अविकारी पर्यायों को पर मानकर, उनसे दृष्टि हटाकर दृष्टि को आत्मसन्मुख करना होता है। यह कार्य कर्तृत्व के बोझ से रहित, आत्मरुचि की तीव्रता के बल पर सहज ही सम्पन्न हो जाता है। अपने ज्ञानानन्द-स्वभावी ध्रुव आत्मतत्त्व में अपना सर्वस्व समर्पण ही आत्मानुभूति प्रगट करने का उपाय है।

आत्मानुभूति प्रगट करने में अधिक विकसित ज्ञान का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। सैनी पंचेन्द्रिय, पर्याप्तक, जागृत विवेक-सम्पन्न, स्वस्थ मस्तिष्क व्यक्ति को उपलब्ध ज्ञान आत्मानुभव के लिए पर्याप्त है। प्रयोजनभूत तत्त्वों का विकल्पात्मक सच्चा निर्णय हो जाने के बाद अप्रयोजनभूत

बहिर्लक्षी ज्ञान की हीनाधिकता से आत्मानुभूति में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता है। आत्मानुभव के लिए एकमात्र ज्ञान की एकाग्रता/आत्मनिष्ठता आवश्यक है। अपने प्रगट वर्तमान ज्ञान को सब ओर से समेट कर पूर्णतया अपने ज्ञानानन्द-स्वभावी ध्रुव आत्मतत्त्व में केन्द्रित कर देना ही आत्मानुभूति प्रगट करने की प्रक्रिया है।

प्रश्न ३ : रंग, राग और भेद से भिन्न आत्मा है – इसका भाव स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : यहाँ रंग, राग और भेद – ये तीनों पद उपलक्षण हैं अर्थात् इनमें अनेकानेक भाव गर्भित हैं। 'रंग' पुद्गल का विशेष गुण होने से यद्यपि वह मात्र पुद्गल को बताता है; परन्तु यहाँ वह उपलक्षण होने से रंग में पुद्गल आदि सम्पूर्ण पर पदार्थ गर्भित समझना चाहिए। आत्मा रंग से भिन्न है अर्थात् आत्मा अपने को छोड़कर अन्य सभी जीव, पुद्गल आदि सम्पूर्ण पर-पदार्थों से/अजीव तत्त्व से पूर्णतया पृथक् है।

'राग' भी यहाँ मात्र राग का सूचक नहीं है; अपितु रागादि समस्त विकारी भावों का सूचक है। आत्मा राग से भिन्न है अर्थात् आत्मा में उत्पन्न होने वाले मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग आदि समस्त शुभाशुभ विकारी भावों से/आस्रव, बंध, पुण्य, पाप तत्त्व से आत्मा पूर्णतया पृथक् है।

'भेद' भी यहाँ मात्र भेद का सूचक नहीं है; अपितु स्वभावगत भिन्नता और स्वाभाविक पर्यायों का सूचक है। आत्मा भेद से भिन्न है अर्थात् आत्मा गुण-गुणी भेद, पर्याय-पर्यायी भेद, प्रदेश-प्रदेशी/प्रदेशवान भेद, भाव-भाववान भेद, ज्ञानादि गुणों के विकास संबंधी तारतम्यरूप भेद से संवर, निर्जरा, मोक्ष तत्त्व से पूर्णतया पृथक् है।

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि ज्ञानानन्द-स्वभावी निज भगवान आत्मा अपने से भिन्न सम्पूर्ण पर पदार्थों, समस्त भेदभावों, विकारी, अविकारी, अल्प-विकसित, अर्ध-विकसित, पूर्ण-विकसित समस्त पर्यायों से पूर्णतया पृथक्; अखण्ड, एकरूप रहनेवाला ध्रुव तत्त्व है।

प्रश्न ४ : तत्त्व-विचार का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : आत्मानुभूति प्रगट करने के लिए जिन वास्तविकताओं की जान-

कारी अति आवश्यक होती है, उन्हें प्रयोजनभूत तत्त्व कहते हैं तथा उनके संबंध में किया गया विकल्पात्मक विचार ही तत्त्व-विचार कहलाता है। इसका विषय सुनिश्चित करते हुए कविवर पण्डित भागचन्दजी लिखते हैं–

"आकुलरहित होय इम निशदिन, कीजे तत्त्वविचारा हो।
को मैं कहा रूप है मेरो, पर है कौन प्रकार हो॥
को भव कारण बंध कहा, को आस्रव रोकनहारा हो।
खिपत कर्म बंधन काहे सौं, थानक कौन हमारा हो॥
इमि अभ्यास किए पावत है, परमानन्द अपारा हो।
भागचंद यह सार जानकरि, कीजे बारंबारा हो॥ आकुल..॥"

अर्थात् निराकुल होकर सात तत्त्वों के विकल्पात्मक विचार की प्रक्रिया ही तत्त्व-विचार है। मैं कौन हूँ ? मेरा क्या स्वरूप है ? मैं अनादि से किनके संयोग में रह रहा हूँ ? मैं दुःखी क्यों हूँ ? वास्तव में दुःख क्या है? मैं सुखी कैसे हो सकता हूँ ? परिपूर्ण सुखमय दशा क्या है ? आत्माभिलाषी मुमुक्षु के मन में इन प्रश्नों के उत्तर रूप में सतत मंथन चलता रहता है।

इस युग के शतावधानी श्रीमद् रायचन्द्रजी ने भी 'अमूल्य तत्त्वविचार' में तत्त्व-विचार के विषय और महत्त्व को अति संक्षिप्त, सुबोध शैली में व्यक्त किया है। जिसका हिन्दी अनुवाद इसप्रकार है –

"मैं कौन हूँ आया कहाँ से, और मेरा रूप क्या ?
संबंध दुखमय कौन है, स्वीकृत करूँ परिहार क्या ?
इसका विचार विवेक पूर्वक, शान्त होकर कीजिए।
तो सर्व आत्मिक ज्ञान के, सिद्धान्त का रस पीजिए॥

मैं कौन हूँ ? कहाँ से आया हूँ ? मेरा रूप/स्वभाव क्या है ? किसका/कौन सा/किसप्रकार का संबंध दुःखमय है ? मुझे किसे/क्या स्वीकार करना है, किसे/क्या छोड़ना है ? इत्यादि प्रश्नों के उत्तर का शान्त-मन से विवेक पूर्वक यदि विचार किया जाता है तो सम्पूर्ण आत्मिक ज्ञान के सिद्धान्त-रस को पीने/अनुभव करने का अवसर प्राप्त होता है।"

तत्त्व-विचार की प्रक्रिया बताते हुए कविवर पण्डित बनारसीदासजी नाटक-समयसार के बंध द्वार में लिखते हैं –

"प्रथम सुद्रिष्टिसौं सरीररूप कीजै भिन्न,
तामैं और सूच्छम सरीर भिन्न मानिये।
अष्टकर्मभाव की उपाधि सोऊ कीजै भिन्न,
ताहूमैं सुबुद्धि कौ विलास भिन्न जानिये ॥
तामैं प्रभु चेतन विराजत अखंडरूप,
वहै श्रुतग्यान के प्रवांन उर आनिये।
वाही कौ विचारकरि वाही में मगन हूजे,
वाकौ पद साधिवे कौं ऐसी विधि ठानिये ॥५५॥

सर्वप्रथम भेदविज्ञान द्वारा औदारिक आदि स्थूल शरीर को आत्मा से भिन्न जानना चाहिए। तत्पश्चात् तैजस आदि सूक्ष्म शरीर को आत्मा से भिन्न जानना चाहिए। तदनन्तर आठ कर्मों की उपाधि से उत्पन्न रागादि विकारी भावों को आत्मा से भिन्न जानना चाहिए। तदुपरान्त उस भेदविज्ञान को भी आत्मा से भिन्न जानना चाहिए। भेदविज्ञान के माध्यम से जिस अखण्ड शोभायमान चेतनप्रभु को पृथक् किया था, उसका श्रुतज्ञान प्रमाण से निश्चय करना चाहिए। इसके बाद उसी का विचार करते-करते उसी में मग्न हो जाना चाहिए। उसका पद साधने की/आत्मानुभव से लेकर मोक्ष पद पर्यन्त प्राप्त करने की सतत यही पद्धति है।"

निष्कर्ष यह है कि आत्माभिलाषी मुमुक्षु के मन में निरन्तर यह विचार चलता रहता है कि मैं अनादि-अनन्त ज्ञानानन्द-स्वभावी प्रभु परमात्मा हूँ। मुझसे पृथक् अनन्तानन्त जड़ सत्ताएं भी जगत में विद्यमान हैं। मैं अनादि से अपने स्वभाव को भूलकर, उनकी ओर आकर्षित हो रहा हूँ, जिससे मुझमें उनके प्रति मोह-राग-द्वेष उत्पन्न हो रहे हैं। इसकारण शुभाशुभ भावोंमय परिणमन में ही उलझ-उलझकर मैं अनन्त दुःख भोग रहा हूँ।

जब तक मैं अपने स्वभाव को पहिचानकर उसमें ही लीन नहीं हो जाता; तब तक मोह-राग-द्वेष की उत्पत्ति होती ही रहेगी। उनकी उत्पत्ति को रोकने का एकमात्र उपाय प्राप्त ज्ञान को आत्मकेन्द्रित करना है। इसी से शुभाशुभ भावों का अभाव और वीतरागभाव की उत्पत्ति होती है। आत्मस्वरूप में परिपूर्ण लीनता से शुभाशुभ भावों का पूर्णतया अभाव

होकर पूर्ण वीतराग-विज्ञानमय भाव प्रगट हो जाता है – इत्यादि रूप में सतत चलनेवाली वैचारिक प्रक्रिया ही तत्त्व-विचार है।

प्रश्न ५ : 'आत्मानुभूति और तत्त्व-विचार' इस विषय पर एक निबंध लिखिए।

उत्तर : सुख-शान्तिमय/धर्ममय जीवन की आदि-मध्य और परिपूर्णता की एकमात्र आधार आत्मानुभूति-सम्पन्न दशा का वाचक 'आत्मानुभूति' पद आत्मा, अनु और भूति – इन तीन पदों से मिलकर बना है; जिसका अर्थ है 'आत्मा का अनुसरण कर होना, परिणमित होना अर्थात् ज्ञानानन्द-स्वभावी, अनन्त गुणों के अखंड पिण्ड, अनादि-अनन्त अपने भगवान आत्मा को अपनत्वरूप से जानकर, पहिचानकर, उसमें ही स्थिरता/तन्मयता रूप परिणमन आत्मानुभूति है।

इसके आत्मानुभव, स्वसंवेदन, आत्मा का प्रत्यक्षवेदन, शुद्धोपयोग, स्वरूपलीनता, आत्मीयता, आत्म-स्थिरता, निर्विकल्प सम्यक् रत्नत्रय इत्यादि अनेकों पर्यायवाची नाम हैं।

कविवर पण्डित बनारसीदासजी अपनी आध्यात्मिक कृति नाटक समयसार में इस आत्मानुभूति को इसप्रकार परिभाषित करते हैं –

"वस्तु विचारत ध्यावतें, मन पावै विश्राम।
रस स्वादत सुख ऊपजै, अनुभौ याकौ नाम ।।७।।

वस्तु-स्वरूप/आत्मतत्त्व का विचार और ध्यान करने से मन विश्राम पा जाता है/स्थिर हो जाता है तथा आत्मिक रस का आस्वाद लेने से सुख उत्पन्न होता है, इसे अनुभव कहते हैं।"

इस आत्मानुभूतिमय दशा में ज्ञायक, ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञप्ति, कर्ता, कर्म, क्रिया, ध्याता, ध्यान, ध्येय आदि सभी कुछ अभेद, अखंड, एक ही हैं। अतीन्द्रिय ज्ञानानन्द-स्वभावी अपने ध्रुवतत्त्व पर अपनी सम्पूर्ण व्यक्त ज्ञान-शक्ति का केन्द्रित हो जाना ही आत्मानुभूति-सम्पन्न धर्ममय दशा है।

यह स्वयं अतीन्द्रिय ज्ञानानन्दमय सुख-शान्ति-सम्पन्न, निर्विकल्प, निराकुल दशा है; अत: यही एकमात्र करने-योग्य, इष्ट कार्य है। इसे प्राप्त करना ही साधक का मूल प्रयोजन है। भाव यह है कि उपलक्षणात्मक

'रंग' शब्द में गर्भित समस्त पुद्‌गल आदि पर पदार्थों, 'राग' शब्द में गर्भित आत्मा में उत्पन्न होनेवाले सभी शुभाशुभात्मक रागादि विकारी भावों और 'भेद' शब्द में गर्भित गुण-गुणी, प्रदेश-प्रदेशवान तथा ज्ञानादि गुणों के विकास संबंधी तारतम्यरूप भेदों; इन सभी से भिन्न एकमात्र आश्रय-योग्य ज्ञानानन्द-स्वभावी निज ध्रुव आत्मतत्त्व में वर्तमान प्रगट ज्ञानादि पर्यायों की सर्वस्व समर्पणमय स्थिरता ही आत्मानुभूति रूप दशा है।

यह आत्मानुभूतिमय दशा स्वयं आत्मा की होने से इसे व्यक्त करने में अन्य बाह्य साधनों की अपेक्षा नहीं है। आत्मानुभूति से पूर्व यद्यपि तत्त्व-विचार-मंथन की प्रक्रिया ज्ञान में घटित होती है; तथापि तत्त्व-मंथनरूप विकल्प से यह आत्मानुभूति व्यक्त नहीं होती है; क्योंकि आत्मा निर्विकल्प स्वसंवेद्य तत्त्व होने से यह आत्मानुभूति भी निर्विकल्प स्वसंवेदनमय है तथा तत्त्व-मंथन विकल्पात्मक है।

आत्मानुभूति प्रगट करने के लिए जिन वास्तविकताओं की जानकारी आवश्यक है, उन्हें प्रयोजनभूत तत्त्व कहते हैं तथा उनके सम्यक् निर्णय के लिए उनके संबंध में किया गया विकल्पात्मक प्रयत्न ही तत्त्व-विचार कहलाता है। मैं कौन हूँ ? (जीव तत्त्व), पूर्ण सुख क्या है ? (मोक्ष तत्त्व) इस वैचारिक प्रक्रिया के मूलभूत प्रश्न हैं।

मैं पर्याय में भी सुख कैसे प्राप्त कर लूँ ? अर्थात् आत्मा अतीन्द्रिय आनंदमय दशा को कैसे प्राप्त हो? जीव तत्त्व, मोक्ष तत्त्व रूप कैसे परिण-मित हो ? (संवर-निर्जरा तत्त्व) इत्यादि रूप में आत्माभिलाषी मुमुक्षु के मानस में सतत यह चिंतन चलता रहता है।

वह विचार करता है कि चेतन तत्त्व से भिन्न जड़ (अजीव तत्त्व) की सत्ता भी लोक में है; परन्तु मैं उससे दुखी नहीं हूँ। अपनी भूल से ही मुझमें उत्पन्न होने वाले मोह-राग-द्वेष आदि विकारों से मैं दुखी हूँ (आस्रव तत्त्व)। इस कारण ही मैं अनादि से शुभाशुभ भावों में उलझता आ रहा हूँ (बंध तत्त्व)। जब तक मैं अपने स्वभाव को अपनत्वरूप से पहिचान कर आत्मनिष्ठ नहीं हो जाता; तब तक मुख्यतया मोह-राग-द्वेष की उत्पत्ति होती ही रहेगी।

इनकी उत्पत्ति को रोकने का एकमात्र उपाय उपलब्ध ज्ञान का आत्म-केन्द्रित हो जाना है। इसी से शुभाशुभ भावों का अभाव होकर वीतराग दशा प्रगट होगी और एक समय वह होगा जब समस्त मोह-राग-द्वेष का अभाव होकर आत्मा वीतराग परिणति रूप परिणत हो जाएगा/पूर्ण ज्ञानानन्दमय अव्याबाध सुख-शांति रूप परिणमित हो जाएगा।

सैनी पंचेन्द्रिय, पर्याप्तक, जागरुक, विवेक-सम्पन्न प्रत्येक व्यक्ति यह कार्य करने में पूर्ण सक्षम है। भाव यह है कि आत्मानुभूति के लिए स्वस्थ मस्तिष्क वाले व्यक्ति को जितना ज्ञान प्राप्त है, वह पर्याप्त है। प्रयोजनभूत तत्त्वों का विकल्पात्मक सच्चा निर्णय हो जाने के बाद अप्रयोजनभूत बहिर्लक्षी ज्ञान की हीनाधिकता का इस पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है।

अपनी भूल से पर्याय में अनादि से ही उन्मार्गी रहने पर भी यद्यपि आत्म-स्वभाव कभी भी किंचित् भी नष्ट नहीं हुआ है; तथापि अपनी दृष्टि को समस्त परपदार्थों से हटाकर आत्मनिष्ठ किए बिना कभी भी आत्मा की वास्तविक अनुभूति प्रगट नहीं होती है; अत: आत्मानुभव के अभिलाषी मुमुक्षु को कभी भी पर के सहयोग की आकांक्षा से आकुलित नहीं होना चाहिए।

इसप्रकार प्रयोजनभूत तत्त्वों का निर्णय कर तत्त्व-विचार/मंथन की विकल्पात्मक प्रक्रिया से पार हो निर्विकल्प अतीन्द्रिय आनंदमय आत्मानुभूति को व्यक्त कर हम भी अनन्त सुख-शान्ति-सम्पन्न दशामय हों – यही सद्भावना है। ○

आतम अनुभव आवै...

आतम अनुभव आवै जब निज, आतम अनुभव आवै।
और कछू न सुहावै, जब निज आतम अनुभव आवै ।।टेक।।
रस नीरस हो जात ततच्छिन अक्ष विषय नहिं भावै ।।१।।
गोष्टी कथा कुतूहल विघटै, पुद्गल प्रीति नसावै।
राग दोष जुग चपल पक्षजुत मन पक्षी मर जावै ।।२।।
ज्ञानानन्द सुधारस उमगै, घट अन्तर न समावै।
'भागचन्द' ऐसे अनुभव को हाथ जोरि सिर नावै ।।३।।

आत्मानुभूति स्व-पर भेदविज्ञानमूलक है।

पाठ ६ : षट् कारक

प्रश्न १ : आचार्य कुन्दकुन्द का व्यक्तित्व-कर्तृत्व लिखिए।

उत्तर : वर्तमानयुगीन वीतरागी निर्ग्रन्थ दिगम्बर परम्परा के पर्यायवाची, द्वितीय-श्रुत-स्कन्ध के आद्य प्रणेता 'आचार्य कुन्दकुन्द' अध्यात्मजगत के सर्वोपरि आचार्य हैं। अपनी कृतिओं के माध्यम से आत्मार्थी-जनों के हृदय में गहराई से प्रविष्ट हो जाने पर भी आपका जीवन-परिचय अभी भी उत्कण्ठा और जिज्ञासा का केन्द्र बना हुआ है।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार के श्लोक ११८ में चार दानों में प्रसिद्ध व्यक्तिओं के अन्तर्गत शास्त्रदान-दाता के रूप में कौण्डेश की प्रसिद्धि वर्णित है। इसकी प्रभाचंद्रीय टीका में इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है –

गोविंद नामक ग्वाले ने कोटर में स्थित शास्त्र की महिमा से अभिभूत होकर बाल्यावस्था से ही उसकी सुरक्षा पूर्वक पूजा-भक्ति करते हुए अवसर पाकर एक मुनिराज को उसे प्रदान किया था; फलस्वरूप वह अगले भव में कौण्डेश नामक बहुश्रुतज्ञानी मुनि हुआ।

लगभग इस जैसी ही कथा 'पुण्यास्रव कथा कोश' और 'आराधना कथा कोश' में भी उपलब्ध होती है।

ऐसा घटित होना असम्भव भी प्रतीत नहीं होता है; क्योंकि करणा-नुयोग यह प्रतिपादित करता है कि पढ़ने, अर्थ समझने में असमर्थ होने पर भी जिनवाणी के प्रति विशिष्ट भक्ति, बहुमान, उसके माध्यम से कषायों की मंदता इत्यादि रूप परिणाम, ज्ञानावरणादि कर्मों के विशिष्ट क्षयोपशम में कारण होते हैं।

'ज्ञान-प्रबोध' के आधार पर उनके वर्तमान जीवन संबंधी कुछ उल्लेख इसप्रकार हैं –

मालवदेश वारापुर नगर के राजा 'कुमुदचंद्र' के राज्य में, अपनी धर्म-पत्नी 'कुंदलता' के साथ 'कुंद श्रेष्ठी' नामक एक वणिक रहता था। उनके माघ शुक्ला पंचमी/वसंत पंचमी के दिन एक 'कुन्दकुन्द' नामक पुत्ररत्न

उत्पन्न हुआ। जिसने 'जिनचंद्र' नामक आचार्य-मुनि के सदुपदेश से प्रभावित हो ११ वर्ष की अल्पवय में ही जिन-दीक्षा धारण कर ली। ४४ वर्ष की उम्र में इन्हीं 'जिनचंद्राचार्य' से ही आपको आचार्य पद प्राप्त हुआ। ९५ वर्ष, १० माह, १५ दिन पर्यंत आप आत्म-आराधना, रत्नत्रयसाधना में संलग्न रह इस भारत भू को अलंकृत करते रहे।

आप ईसा की प्रथम सदी के आचार्य माने जाते हैं।

'अभिधान राजेन्द्र कोश' के उल्लेखानुसार आप विक्रम संवत् ४९ में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए थे।

आप कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, गृद्धपिच्छाचार्य, एलाचार्य और पद्मनंदी – इन पाँच नामों से प्रसिद्ध हैं।

विक्रम संवत् ९९० में हुए श्री देवसेनाचार्य ने अपने 'दर्शनसार' ग्रन्थ में आपकी महिमा बताते हुए लिखा है कि –

"जइ पउमणंदिणाहो, सीमंधरसामिदिव्वणाणेण।
ण बिबोहइ तो समणा, कहं सुमग्गं पयाणंति ।।

श्री सीमंधर स्वामी से प्राप्त हुए दिव्यज्ञान द्वारा यदि श्री पद्मनंदीनाथ ने बोध नहीं दिया होता तो मुनिराज सच्चे मार्ग को कैसे जानते ?"

इससे उन्होंने विदेह क्षेत्र में विराजमान विद्यमान तीर्थंकर भगवान श्री सीमंधरनाथ के साक्षात् दर्शन किए थे–यह भी फलित होता है। १३वीं सदी के आचार्य जयसेन ने भी अपनी कृतिओं में इस कथन की पुष्टि की है।

शास्त्रीय दृष्टि से वस्तु-स्वरूप की विवेचना करते हुए आध्यात्मिक दृष्टि से नय विवेचना द्वारा शुद्धात्म-स्वरूप के दिग्दर्शन का प्रयास आपके व्यक्तित्व की प्रमुख विशेषता है।

आपकी कृति रूप से प्रसिद्ध साहित्य में पंच-परमागम सर्वमान्य हैं। १. समयसार (समयपाहुड), २. प्रवचनसार (पवयणसारो), ३. पंचास्तिकाय संग्रह (पंचत्थिकाय संगहो), ४. नियमसार (णियमसारो), ५. अष्टपाहुड़ (अट्ठपाहुड) – आचार्य कुन्दकुन्द के ये पाँच ग्रन्थ 'पंच-परमागम' रूप में प्रसिद्ध हैं। इनमें से प्रारम्भिक तीन ग्रन्थ प्राभृतत्रयी,

नाटकत्रयी, कुन्दकुन्दत्रयी, कुन्दकुन्द के तीन रत्न – इत्यादि नाम से भी प्रसिद्ध हैं।

इनके अतिरिक्त 'बारहाणुवेक्खा' और 'प्राकृत भक्ति' भी आपकी कृतिआँ मानी जाती हैं। कितने ही विद्वान 'रयणसार' और 'मूलाचार' को भी आपकी ही कृतिआँ मानते हैं। कुछ लोग 'कुरल काव्य' को भी आपकी कृति कहते हैं। यह भी कहा जाता है कि षट्खंडागम के प्रथम तीन खण्डों पर आपने परिकर्म नामक टीका भी लिखी थी; जो आज उपलब्ध नहीं है। आपकी सर्वमान्य कृतिओं का सामान्य परिचय इसप्रकार है –

समयसार – आचार्य अमृतचंद्र के अनुसार ४१५ और आचार्य जयसेन के अनुसार ४३७ गाथाओं में ग्रथित 'समयसार', अध्यात्म रस से ओत-प्रोत आपकी एक बेजोड़ कृति है। नव तत्त्वों (पदार्थों) में छिपी हुई एक चैतन्य ज्योति को बताना ही इसका मूल प्रतिपाद्य है। यही कारण है कि यहाँ नव तत्त्वों का वर्णन भी भेदविज्ञान की प्रधानता से ही करते हुए उनसे भिन्न त्रिकाली, ध्रुव, शुद्धात्मा, भगवान आत्मा को पक्षातिक्रान्त एकत्व-विभक्तरूप में दिखाया गया है।

प्रवचनसार – आचार्य अमृतचंद्र के अनुसार २७५ और आचार्य जयसेन के अनुसार ३११ गाथाओं में समाहित यह ग्रन्थ प्रमाण-प्रमेय की मीमांसा करनेवाली, दार्शनिक शैली में लिखी गई एक अद्वितीय कृति है। इसमें अतीन्द्रिय और इन्द्रिय ज्ञान के रूप में प्रमाण का विश्लेषण, अतीन्द्रियज्ञान/सर्वज्ञता-प्राप्ति का उपाय, सर्वज्ञता का विशद-स्वरूप विवेचित कर, इन्द्रियज्ञान-इन्द्रियसुख को हेय बताकर, सुखमय अतीन्द्रियज्ञान का प्ररूपण कर, उसके विषयभूत द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक पदार्थों का सामान्य-विशेषरूप से विशद-विवेचन कर, सर्वपदार्थों से पृथक् निजात्मतत्त्व का निरूपण करते हुए अंत में आत्म-आराधक मुनिवरों की अंतर्बाह्य दशा का विस्तार से वर्णन किया गया है।

पंचास्तिकाय संग्रह – आचार्य अमृतचंद्र के अनुसार १७३ और आचार्य जयसेन के अनुसार १८१ गाथाओं में निबद्ध यह ग्रन्थ शास्त्राभ्यासी के लिए संक्षेप में समग्र वस्तु-व्यवस्था का परिज्ञान कराने में पूर्ण सक्षम है।

यहाँ प्रारम्भ में पंचास्तिकाय, षड्द्रव्यों का संक्षिप्त विवेचन कर, बाद में स्वरूप-भेद-प्रभेद बताकर उनका विस्तार से वर्णन करते हुए सात तत्त्व, नौ पदार्थों का वर्णन किया है। अंत में निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग का निरूपणकर, अभेद रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग को संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट शैली में प्ररूपित किया गया है।

नियमसार - १८७ गाथाओं में लिखित, निज-भावना-निमित्त रचा गया यह ग्रन्थ शुद्धात्म-सेवी-साधुओं की अंतर्बाह्य परिणति को हस्तामलकवत् प्रदर्शित करने के लिए अद्वितीय है। प्रारम्भ में नियम, नियम-फल आदि की चर्चा करते हुए, छह द्रव्यों का सामान्य विवेचन कर, ध्येयभूत शुद्धात्म-तत्त्व की प्रकृष्ट प्ररूपणा कर व्यवहारचारित्र का वर्णन किया है। तदनन्तर निश्चयपरक षडावश्यक क्रियाओं की विशद विवेचना करते हुए परम समाधि और परम भक्ति को भी स्पष्ट किया है। अंत में केवली भगवान के स्व-पर प्रकाशकता सिद्ध करते हुए, उन्हें निर्बंध सिद्ध कर, सिद्ध भगवान का स्वरूप स्पष्ट किया गया है।

अष्टपाहुड़ - अनुशासन-प्रशासन की मुख्यता से ग्रथित इस ग्रन्थ में दर्शन पाहुड़, सूत्र पाहुड़, चारित्र पाहुड़, बोध पाहुड़, भाव पाहुड़, मोक्ष पाहुड़, लिंग पाहुड़ और शील पाहुड़ – इन आठ पाहुड़ों का संकलन है। इनके नाम ही प्रतिपाद्य-विषय के परिचायक हैं।

बारहाणुवेक्खा - इस ग्रन्थ में ९१ गाथाओं द्वारा अनित्य आदि बारह भावनाओं का वर्णन करते हुए, एकमात्र शुद्धोपयोगरूप ध्यान को संवर का कारण बताकर, परमार्थ नय से आत्मा को संवरादि से रहित विचारने की प्रेरणा दी गई है।

प्राकृत भक्ति - प्राकृत भाषा में लिखी गईं तीर्थंकर भक्ति, सिद्ध भक्ति, श्रुत भक्ति, चारित्र भक्ति, योगि भक्ति, आचार्य भक्ति, पंचगुरु भक्ति और निर्वाण भक्ति – ये आठ भक्तिआँ नामानुसार आराध्य के गुणानुवाद सहित अंत में गद्यरूप अंचलिका-युक्त हैं तथा नंदीश्वर भक्ति, शांति भक्ति, समाधि भक्ति और चैत्य भक्ति – ये चार भक्तिआँ मात्र गद्यरूप अंचलिका मय ही उपलब्ध हुई हैं।

इसप्रकार आपकी कृतिआँ क्रमशः भक्ति के माध्यम से पाठक की चित्तभूमि मृदु बनाकर, अष्ट पाहुड़ के माध्यम से देव-शास्त्र-गुरु का यथार्थ निर्णय कराती हुईं, पंचास्तिकाय संग्रह और प्रवचनसार के माध्यम से 'सन्मात्र वस्तु' का निर्णय कराके, समयसार के माध्यम से भेदज्ञान द्वारा 'चिन्मात्र वस्तु' की पृथक् प्रतीति कराती हुईं, बारहाणुवेक्खा के माध्यम से समस्त पर-द्रव्यों के प्रति उदासीनभाव लाकर, नियमसार के माध्यम से साधक दशा का विश्लेषण कर, पुनः-पुनः आत्म-भावना को प्रेरित कर विशेष स्वरूप-स्थिरता के माध्यम से शिव-सुखमय सिद्ध दशा को प्राप्त कराने में समर्थ निमित्त हैं। इनसे ही आपका व्यक्तित्व और लक्ष्य भी परि-लक्षित होता है।

प्रश्न २ : कारक किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो क्रिया के प्रति प्रयोजक होता है, क्रिया-निष्पत्ति में कार्यकारी होता है, जिसका क्रिया के साथ सीधा संबंध हो; उसे कारक कहते हैं। कृ धातु से ण्वुल् प्रत्यय लग कर कारक शब्द बनता है। "**करोति क्रियां प्रति निर्वर्तयति इति कारकः** – क्रिया व्यापार के प्रति प्रयोजक को कारक कहते हैं।"

प्रश्न ३ : कारक के कितने और कौन-कौन से भेद हैं ? तथा वे कार्य के निष्पन्न होने में कार्यकारी कैसे हैं ?

उत्तर : कारक के छह भेद हैं – कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण। कार्योत्पत्ति में इनकी कार्यकारिता इसप्रकार है –

किसी भी कार्य को देखते ही सबसे पहला प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि इसे **किसने किया ?** इसके उत्तर हेतु **कर्ता कारक** बताया गया।

उस कर्ता ने **क्या किया ?** इसके उत्तर में **कर्म कारक** बताया गया।

यह कार्य उसने **कैसे किया ?** इसके लिए **करण कारक** का ज्ञान कराया गया।

उसने यह कार्य **किसके लिए किया ?** इसके उत्तर हेतु **सम्प्रदान कारक** बताया गया।

यह कार्य उसने **किसमें से किया ?** इसके उत्तर में **अपादान कारक** बताया गया।

उसने यह कार्य **किस पर या किसमें किया ?** इसके लिए **अधिकरण कारक** का ज्ञान कराया है।

कार्य की उत्पत्ति को लेकर इनके अतिरिक्त अन्य कोई प्रश्न उत्पन्न नहीं होने के कारण, इन छह के अतिरिक्त अन्य कोई कारक नहीं होते हैं। इसीप्रकार इनसे ही कार्योत्पत्ति की समग्र जानकारी होती है; अत: इनसे कम भी कारक नहीं होते हैं।

इसप्रकार कार्योत्पत्ति में ये छह कारक ही कार्यकारी हैं।

प्रश्न ४ : कारक तो आठ होते हैं। उनमें से यहाँ छह ही क्यों बताए जा रहे हैं; संबंध और संबोधन को क्यों छोड़ा जा रहा है ?

उत्तर : वास्तव में कारक तो छह ही होते हैं। आठ तो विभक्तिआँ होती हैं; कारक नहीं। **कारक तो कहते ही उसे हैं, जिसका क्रिया से सीधा संबंध हो। संबंध और संबोधन का क्रिया से कोई सीधा संबंध ही नहीं है।** जैसे ऋषभदेव के पुत्र भरत का निर्वाण हुआ – इसमें निर्वाण होने रूप क्रिया के साथ ऋषभदेव का कोई/कुछ भी सीधा संबंध नहीं है। ऋषभदेव का संबंध तो भरत से है, निर्वाण होने से नहीं; अत: संबंध को कारकों में स्थान नहीं मिला।

इसीप्रकार जिसे संबोधित किया जाता है, उसका भी क्रिया के साथ कोई/कुछ भी संबंध नहीं होता है। जैसे हे अर्ककीर्ति ! भरत का निर्वाण हो गया है। इसमें निर्वाण होने रूप क्रिया का संबोधित किए गए अर्ककीर्ति के साथ कुछ भी संबंध नहीं है; अत: संबोधन को भी कारकों में स्थान नहीं मिल सका है।

इसप्रकार क्रिया के प्रति प्रयोजक कारक छह ही होते हैं।

प्रश्न ५ : कर्ता कारक का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : "**स्वतंत्र: कर्ता** – जो स्वतंत्र रूप से/स्वाधीनता पूर्वक कार्य करता है, उसे कर्ता कहते हैं।" अथवा "**य: परिणमति स: कर्ता** – जो उस कार्य रूप परिणमित होता है, उसे कर्ता कहते हैं।" अहेतुक, सुनिश्चित भवितव्यता आदि के अनुसार जो उस समय उस कार्य रूप हुआ-सा लगता है, उसमें व्यापक होता है अथवा उस कार्य के होते

समय तदनुकूल जिसका योग और उपयोग होता है, वह कर्ता कहलाता है। जैसे ज्ञान का कर्ता आत्मा या घड़े का कर्ता कुंभकार आदि।

प्रश्न ६ : कर्म कारक का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : "**कर्तुरीप्सिततमं कर्म** – कर्ता को जो अत्यन्त इष्ट होता है, वह कर्म है।" अथवा "**यः परिणामो भवेत्तु तत् कर्म** – कर्ता के परिणाम को कर्म कहते हैं।" अहेतुक, सुनिश्चित भवितव्यता आदि के अनुसार द्रव्य जिस समय जिस पर्यायरूप परिणमित होता है, उस समय उसके लिए वही पूर्णतया प्रयोजनभूत/सार्थक होता है; अतः वह उसका कर्म कहलाता है। जैसे आत्मा का कर्म ज्ञान या कुंभकार का कर्म घड़ा आदि।

प्रश्न ७ : करण कारक का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : "**साधकतमं करणं** – अतिशयवान साधन को करण कहते हैं। कर्ता जिस उत्कृष्टतम साधन/नियामक कारण/अबिनाभावी सामग्री से कार्य करता है, उसे करण कहते हैं। जैसे अनन्त शक्ति-सम्पन्न अपने परिणमन स्वभावरूप उत्कृष्ट साधन से ज्ञान होने के कारण, वह परिणमन स्वभाव करण है; चक्र, चीवर, दंड आदि साधनों से कुंभकार घड़ा बनाता है; अतः वे सभी करण हैं इत्यादि।

प्रश्न ८ : सम्प्रदान कारक का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : "**कर्मणा यमभिप्रेति स सम्प्रदानं** – कर्म जिसे अभिप्रेत होता है, उसे सम्प्रदान कहते हैं"; अथवा कार्य या परिणाम जिसे दिया जाता है, जिसके लिए किया जाता है, वह सम्प्रदान है। यह पद सम्, प्र और दान – इन तीन शब्दों से मिलकर बना है। सम्=भली-भाँति, प्र=प्रकृष्ट/विशेष रूप से, दान=देना; अर्थात् कार्य जिस विशिष्ट उद्देश्य से जिसके लिए किया गया है, जिससे समाश्रित है, वह सम्प्रदान है। जैसे ज्ञानरूप कार्य स्वयं आत्मा के लिए होने से आत्मा सम्प्रदान है; कुंभकार ने घड़ा, घड़ा के ग्राहक के लिए बनाया; अतः वह सम्प्रदान है, इत्यादि।

प्रश्न ९ : अपादान कारक का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : "**ध्रुवमपायेऽपादानं** – जिसमें से कार्य किया जाता है, वह किसी विशिष्ट पर्याय के व्यय-सम्पन्न ध्रुव वस्तु अपादान कारक है।"

जैसे वर्तमान नवीन ज्ञान पर्याय पूर्व ज्ञान पर्याय के व्यय युक्त ध्रुव ज्ञान में से हुई होने के कारण वह व्यय सहित ध्रुव ज्ञानस्वभाव अपादान कारक है; कुंभकार टोकनी में से पिंडरूप मिट्टी लेकर घड़ा बनाता है; अत: टोकनी की वह पिंडरूप मिट्टी अपादान कारक है, इत्यादि।

प्रश्न १० : अधिकरण कारक का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : "**आधारोऽधिकरणं** – क्रिया का आधार अधिकरण है अथवा जिसके आधार से कार्य होता है, वह अधिकरण कारक है।" जैसे ज्ञानरूप कार्य के होने में अनादि-अनन्त ध्रुव ज्ञानस्वभावी आत्मा; कुम्भकार द्वारा घड़ा बनाए जाने में पृथ्वी आदि ध्रुववस्तुएँ, इत्यादि।

प्रश्न ११ : निश्चय कारकों का स्वरूप समझाते हुए, उन्हें उदाहरण द्वारा स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : **वास्तव में प्रत्येक पदार्थ द्रव्य-गुण-पर्यायवाला, उत्पाद-व्यय-ध्रुवता सहित, स्थाईत्व के साथ परिणमनशील होने के कारण उसे अपना कार्य करने में अन्य की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं होती है; अत: किसी भी पर-पदार्थ का किसी अन्य पर-पदार्थ के साथ कभी भी कारकता का संबंध नहीं बनता है। प्रत्येक पदार्थ स्वयं अपनी ही षट्कारकीय योग्यता से अपना कार्य करता है। इसे ही निश्चय षट्-कारक या अभिन्न षट्कारक कहते हैं।**

इसमें छहों कारक उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक एक ही पदार्थ में घटित होते हैं। जैसे मिट्टी स्वतंत्रतया घड़े रूप कार्य को प्राप्त हुई होने से मिट्टी कर्ता और घड़ा कर्म है अथवा घड़ा मिट्टी से अभिन्न है; अत: मिट्टी स्वयं ही कर्म है। अपने परिणमन स्वभाव से स्वयं मिट्टी ने ही घड़ा बनाया है; अत: वह स्वयं करण है। मिट्टी ने घड़ारूप कार्य स्वयं अपने को ही दिया है; अत: वह स्वयं सम्प्रदान है। मिट्टी ने स्वयं अपनी पिंडरूप अवस्था को नष्टकर घड़ारूप कार्य किया है और स्वयं ध्रुव बनी रही; अत: वही अपादान है। मिट्टी ने अपने ही आधार से घड़ा बनाया है; अत: स्वयं अधिकरण है।

इसप्रकार निश्चय से छहों कारक एक ही द्रव्य में घटित हो जाते हैं।

शुद्धोपयोग में लीन आत्मा स्वयं ही षट्कारकरूप होकर केवलज्ञान प्रगट करता है। इसमें वे इसप्रकार घटित होते हैं –

यह अनन्त शक्ति-सम्पन्न आत्मा अपने ज्ञायक स्वभाव से स्वतंत्रतया केवलज्ञानरूप परिणमित हुआ है; अत: स्वयं कर्ता और केवलज्ञान कर्म है अथवा केवलज्ञान से अभिन्न होने के कारण स्वयं ही कर्म है। अपने अनन्त सामर्थ्य-सम्पन्न परिणमन स्वभावरूप उत्कृष्ट साधन से केवलज्ञान को प्रगट करता है; अत: स्वयं ही करण है। स्वयं को ही केवलज्ञान देता है; अत: स्वयं ही सम्प्रदान है। अपने में से मति-श्रुतादि अपूर्ण ज्ञान पर्याय का व्यय कर केवलज्ञान प्रगट करता होने पर भी स्वयं ध्रुव रहता है; अत: स्वयं अपादान है। अपने में अपने ही आधार से केवलज्ञान प्रगट करता है; अत: स्वयं अधिकरण है।

अशुद्धोपयोगी आत्मा स्वयं के ही षट्कारक से रागादि विकारीभावों रूप परिणमित होता है। इसमें वे इसप्रकार घटित होते हैं –

जीव स्वतंत्ररूप से जीव-भाव को करता होने से वह स्वयं ही कर्ता है। उस जीव-भाव को स्वयं प्राप्त करता/पहुँचता होने से जीव-भाव ही कर्म है अथवा उससे अभिन्न होने से जीव स्वयं ही कर्म है। स्वयं ही जीव-भाव रूप से परिणमित होने की शक्तिवाला होने से जीव स्वयं ही करण है। स्वयं को ही जीव-भाव देता होने से वह स्वयं सम्प्रदान है। अपने पूर्व भाव का व्यय कर नवीन जीव-भाव करता हुआ जीव द्रव्यरूप से ध्रुव रहने के कारण स्वयं ही अपादान है। अपने से अर्थात् अपने आधार पर जीव-भाव करता होने से वह स्वयं ही अधिकरण है।

इसप्रकार शुद्ध या अशुद्ध परिणमन के समय भी वास्तव में एक जीव-द्रव्य ही अपनी षट्कारकीय योग्यता से उसरूप परिणमित होता है। इसे ही अभिन्न या निश्चय षट्कारक कहते हैं।

वास्तव में व्याप्य-व्यापक संबंध प्रत्येक पदार्थ का अपने द्रव्य-गुण-पर्यायों के साथ ही होता है; अन्य के द्रव्य-गुण-पर्यायों के साथ नहीं। इस व्याप्य-व्यापक संबंध के बिना वास्तविक कर्ता-कर्म की स्थिति नहीं बन सकती है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी समयसार की १०३वीं गाथा में तो यहाँ तक लिखते हैं –

“जो जम्हि गुण दव्वे, सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे।
सो अण्णमसंकंतो, कह तं परिणामए दव्वं॥

जो वस्तु-विशेष जिस द्रव्य या गुण में है, वह अन्य द्रव्य या गुण रूप में संक्रमित नहीं हो सकती है। अन्यरूप संक्रमित नहीं होती हुई वह अन्य वस्तु-विशेष को परिणमित कैसे करा सकती है ? नहीं करा सकती है।''

इत्यादि कथनों से यह स्पष्ट है कि एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का वास्तविक कर्ता नहीं होने के कारण प्रत्येक द्रव्य में अपना-अपना प्रत्येक कार्य अपनी-अपनी षट्कारकीय योग्यतारूप निश्चय/अभिन्न षट्कारकों से ही होता है।

प्रश्न १२ : व्यवहार षट्कारकों का स्वरूप समझाते हुए उन्हें उदाहरण द्वारा स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : सभी द्रव्यों के बीच में पारस्परिक अत्यंताभाव होने के कारण एक द्रव्य का अन्य द्रव्य के साथ वास्तविक षट्कारकीय संबंध नहीं बनने पर भी एक ही क्षेत्र में सभी एकसाथ रहते होने से उनके बीच में बननेवाले निमित्त-नैमित्तिक संबंध की मुख्यता से उनके बीच में भी पारस्परिक षट्-कारकीय संबंध कहा जाता है। इसे ही व्यवहार या भिन्न षट्कारक कहते हैं। यह पूर्णतया औपचारिक असद्भूतव्यवहारनय का विषय है। इसमें ये कारक पृथक्-पृथक् पदार्थों में घटित होते हैं।

जैसे 'कुम्भकार ने घड़ा बनाया' – इस कथन में कुम्भकार कर्ता है; घड़ा कर्म है; दंड, चक्र, चीवर आदि उसमें साधन होने से करण हैं; जल आदि भरने के काम में लेनेवाले के लिए बनाया, अत: वे सम्प्रदान हैं; टोकनी में से मिट्टी लेकर बनाया, अत: वह अपादान है। पृथ्वी के आधार पर घड़ा बनाया; अत: वह अधिकरण है।

इसमें सभी सामग्री पृथक्-पृथक् होने से यह व्यवहार षट्कारक का उदाहरण है।

जीव की शुद्ध-अशुद्ध पर्यायों पर इसे इसप्रकार घटित कर सकते हैं–
शुद्धपर्याय पर : 'जीव ने अरहंतदशा प्राप्त की' – इसमें जीव कर्ता है; अरहंतदशा कर्म है, घाति कर्मों का क्षय होने से वह प्रगट हुई है; अत: वे करण हैं; इससे भव्यजीव लाभान्वित होंगे, अत: वे सम्प्रदान हैं; शुक्लध्यान आदि में से अरहंतदशा प्रगट हुई, अत: वे अपादान हैं; चौथा काल,

वज्रवृषभनाराच संहनन, पुरुष पर्याय आदि के आधार पर अरहंत दशा प्रगट हुई, अतः वे अधिकरण हैं।

अशुद्धपर्याय पर : 'जीव को क्रोध आया' – इसमें जीव कर्ता है; क्रोध कर्म है; गाली आदि सुनना कारण होने से वे करण हैं; दूसरों को पीटने आदि के लिए आया, अतः वे सम्प्रदान हैं; बुरा करने आदि के विचारों में से क्रोध आया, अतः वे अपादान हैं; गाली देनेवाले पर आया, अतः वह अधिकरण है।

इसप्रकार इनमें सभी सामग्री भिन्न-भिन्न हैं। परस्पर किसी का किसी के साथ अबिनाभाव संबंध भी नियामक नहीं है; औपचारिक है; अतः इन्हें व्यवहार या भिन्न षट्कारक कहते हैं।

प्रश्न १३ : यदि व्यवहार षट्कारक, निश्चय षट्कारक में कुछ भी नहीं करते हैं तो उन्हें कारक क्यों कहा जाता है ?

उत्तर : यद्यपि व्यवहार षट्कारक, निश्चय षट्कारक में कुछ भी नहीं करते हैं; तथापि इनके बीच में पारस्परिक निमित्त-नैमित्तिक संबंध स्वयमेव सहज घनिष्ठतम है; अतः इन्हें उपचार से कारक कहा जाता है।

जैसे यद्यपि कर्म का उदय जीव में विकार उत्पन्न नहीं कराता है; जीव भी कर्मों/कार्मण वर्गणा को कर्मरूप परिणमित नहीं कराता है। दोनों में अपनी-अपनी योग्यता से ही अपना-अपना कार्य होता है; तथापि निमित्त-नैमित्तिक संबंध भी घनिष्ठतम है; अतः जीव ने कर्म बाँधे, कर्म के उदय ने जीव को विकारी किया – ऐसा कहा जाता है। निमित्त-नैमित्तिक संबंध एक द्रव्य द्वारा अन्य द्रव्य में कुछ किए जाने का सूचक नहीं है; वरन् काल-प्रत्यासत्ति अर्थात् एक ही साथ अपनी-अपनी योग्यतानुसार कार्य हुआ है – इस तथ्य का विश्लेषक है। पंचास्तिकाय संग्रह गाथा ६६ की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने इसे अत्यंत स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है। जिसका सार इसप्रकार है –

"जिसप्रकार सूर्य-चंद्र की किरणों का निमित्त पाकर बादलों के रंग-बिरंगे रूप और इन्द्रधनुष आदि पुद्गलद्रव्यों की अनेकप्रकार की संरचना पर के द्वारा किए बिना स्वतः होती दिखाई देती है; उसीप्रकार द्रव्यकर्मों की बहुप्रकारता पर से अकृत है। जैसे द्रव्यकर्मों की विचित्र बहुप्रकारता

अन्य द्वारा नहीं की जाती है, पर से अकृत है; उसीप्रकार जीव का विकार भी कर्मकृत या परकृत नहीं है।"

वस्तु-स्वातंत्र्य को सुरक्षित रखते हुए पारस्परिक बननेवाले निमित्त-नैमित्तिक संबंधों का उल्लेख जिनागम में बहुलता से उपलब्ध है; लोक-व्यवहार में भी ऐसे विविध उल्लेख प्रचलित हैं। इसी अपेक्षा व्यवहार षट्-कारकों को कारक नाम दे दिया जाता है।

प्रश्न १४ : प्रत्येक द्रव्य में कार्य पाँच समवाय या निमित्त-उपादान की सन्निधि में होता है अथवा षट्कारक से होता है।

उत्तर : वास्तव में ये तीन कारण पृथक्-पृथक् नहीं हैं; वरन् पर्यायवाची हैं; अत: प्रत्येक कार्य के समय उसमें तीनोंप्रकार के कारणों की मीमांसा की जाती है। वह इसप्रकार है –

पाँच समवायवाली प्रथम शैली में जिसे स्वभाव कहते हैं; निमित्त-उपादानवाली द्वितीय शैली में जिसे त्रिकाली उपादान कहते हैं; षट्-कारक वाली तृतीय शैली में उसे अधिकरण और कर्ताकारक कहते हैं। प्रथम शैली में जिसे पुरुषार्थ कहते हैं; द्वितीय शैली में जिसे अनंतर पूर्व क्षणवर्ती पर्याययुक्त द्रव्य कहते हैं; इस तृतीय शैली में उसे अपादान कारक कहते हैं। प्रथम शैली में जिसे काललब्धि और भवितव्य कहते हैं; द्वितीय शैली में जिसे उत्तर क्षणवर्ती पर्याययुक्त द्रव्य और तत्समय की योग्यता कहते हैं; इस तृतीय शैली में उसे करण, सम्प्रदान और कर्मकारक कहते हैं। प्रथम और द्वितीय शैली में जिसे निमित्त कहते हैं; इस तृतीय शैली में उसे व्यवहार षट्कारक कहते हैं।

इसप्रकार प्रत्येक कार्य में ये कार्योत्पादक सभी कारण होते ही हैं। इनमें भावगत भिन्नता नहीं है; मात्र शब्दगत/विवक्षागत/विवेचनगत भिन्नता है।

प्रत्येक कार्य स्व-पर प्रत्यय सापेक्ष होता है। स्वभाव, पुरुषार्थ, काल-लब्धि, भवितव्य, त्रिकाली उपादान, अनंतर पूर्व क्षणवर्ती पर्याय युक्त द्रव्य, उत्तर क्षणवर्ती पर्याययुक्त द्रव्य, तत्समय की योग्यता और निश्चय/अभिन्न षट्कारकों को स्वप्रत्यय कहते हैं तथा निमित्त और व्यवहार/भिन्न षट्कारकों को परप्रत्यय कहते हैं।

प्रश्न १५ : जब प्रत्येक कार्य स्व-पर प्रत्यय सापेक्ष ही होता है, तब व्यवहार षट्कारकों को कार्य का कर्ता क्यों नहीं माना जाता है ?

उत्तर : स्व-पर प्रत्यय सापेक्ष कार्य के व्यवहार षट्कारक उपचार से कर्ता आदि कहे जाते हैं; उपचार से कर्ता जाने-माने भी जाते हैं; परन्तु वे उसके वास्तविक कर्ता नहीं होने से, उन्हें उसका वास्तविक कर्ता न तो जाना जाता है; न माना जाता है और न कहा जाता है।

इसके कुछ कारण इसप्रकार हैं – १. एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में अत्यंताभाव होने से; २. प्रत्येक द्रव्य अनंतवैभव-सम्पन्न होने के कारण स्वभाव से ही स्थाईत्व के साथ परिणमनशील होने से; ३. वस्तु की शक्तिआँ अपना कार्य करने में पर की अपेक्षा नहीं रखतीं होने से; ४. स्वयं में अविद्यमान शक्ति दूसरे के द्वारा दी जानी/उत्पन्न की जानी असम्भव होने से; ५. प्रत्येक वस्तु का स्वभाव पर से पूर्ण निरपेक्ष असहाय/परिपूर्ण होने से; ६. वस्तु-स्वभाव पर के द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता होने से; ७. वस्तु-स्वभाव पर को उत्पन्न नहीं कर सकता होने से; ८. पर के साथ व्याप्य-व्यापक संबंध नहीं होता है और व्याप्य-व्यापक संबंध के बिना वास्तविक कर्ता-कर्म की स्थिति सिद्ध नहीं होने से; ९. उपादानकारण के समान ही कार्य होने से; १०. द्रव्य-गुण स्वयं अपनी पर्यायरूप परिणमित होने से इत्यादि कारणों से स्व-पर प्रत्यय सापेक्ष कार्य का भी वास्तविक कर्ता आदि निमित्तरूप व्यवहार षट्कारकों को नहीं कहा जा सकता है।

प्रश्न १६ : स्वयंभू किसे कहते हैं ?

उत्तर : पर के सहयोग बिना जो स्वयं के बल पर प्रतिष्ठित होता है, कुछ कर दिखाता है; उसे लोक में स्वयंभू कहा जाता है; प्रस्तुत प्रकरण में यह बताया जा रहा है कि यह आत्मा स्वभाव से तो ज्ञान-आनंद आदि अनन्त वैभव-सम्पन्न भगवान है ही, पर्याय में भी ज्ञानानंद-स्वभावी भगवान स्वयं ही बनता है। पर के सहयोग बिना ही, पूर्ण स्वाधीनता से ज्ञानानंद-सम्पन्न भगवान हो गए होने से, उन्हें स्वयंभू कहा गया है।

'स्वयंभू' पद स्वयं और भू – इन दो पदों से मिलकर बना है। स्वयं= अपने आप/स्वभाव से, भू=होना/परिणमन करना। प्रत्येक द्रव्य स्वयं में एकत्व-विभक्त-स्वभावी पूर्ण-प्रभुता-सम्पन्न होने से उसका प्रत्येक कार्य

स्वयं से ही हो रहा है; अत: वह सदा स्वयंभू ही है। उसका प्रत्येक कार्य अपनी षट्कारक आदि अनंत शक्तिओं द्वारा स्वयं से, स्वयं के लिए, स्वयं में से, स्वयं में, स्वयं ही होता है। उसे अन्य किसी की रंचमात्र भी अपेक्षा/आवश्यकता नहीं है। इसप्रकार वह अपने प्रत्येक कार्य में सदा स्वयंभू ही है।

स्वयंभू का भाव स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र ने प्रवचनसार, १६वीं गाथा की अपनी तत्त्वप्रदीपिका टीका में, जो कुछ लिखा है, उसका हिन्दी सार इसप्रकार है – "शुद्धोपयोग की भावना के प्रभाव से समस्त घातिकर्म नष्ट हो जाने के कारण जिसने शुद्ध अनंत शक्तिवान चैतन्य-स्वभाव प्राप्त किया है – ऐसा यह पूर्वोक्त आत्मा –

१. शुद्ध अनंत शक्तियुक्त ज्ञायकस्वभाव के कारण स्वतंत्र होने से जिसने कर्तृत्व के अधिकार को ग्रहण किया है – ऐसा; २. शुद्ध अनंत शक्तियुक्त ज्ञानरूप से परिणमित होने के स्वभाववाला होने के कारण स्वयं ही प्राप्य होने से कर्मत्व का अनुभव करता हुआ; ३. शुद्ध अनंत शक्तियुत ज्ञान-रूप से परिणमित होने के स्वभाव से स्वयं साधकतम होने के कारण करणता को धारण करता हुआ; ४. शुद्ध अनंत-शक्तियुक्त ज्ञानरूप परिणमित होने के स्वभाव के कारण स्वयं ही कर्म द्वारा समाश्रित होने से सम्प्रदानता को धारण करता हुआ; ५. शुद्ध अनंत शक्तियुक्त ज्ञानरूप से परिणमित होते समय पूर्व में प्रवर्तमान विकल-ज्ञान-स्वभाव का नाश होने पर भी सहज-ज्ञान-स्वभाव से स्वयं ही ध्रुवता का अवलम्बन करने के कारण अपादानता को धारण करता हुआ और ६. शुद्ध अनंत शक्ति-युक्त ज्ञानरूप से परिणमित होने के स्वभाव का स्वयं ही आधार होने से अधिकरणता को आत्मसात् करता हुआ स्वयं ही छह कारकरूप होने से अथवा उत्पत्ति की अपेक्षा से द्रव्य-भाव घातिकर्मों को दूर कर स्वयं ही आविर्भूत होने से स्वयंभू कहलाता है।"

अर्थात् **पर के सहयोग बिना ही सर्वोत्तम कार्य कर लेनेवाले को स्वयंभू कहते हैं।**

प्रश्न १७ : वस्तु की कौन-कौन-सी शक्तिआँ वस्तु को स्वयंभू रहने में सहायक हैं ?

उत्तर : वैसे तो वस्तु की सभी शक्तिआँ उसका अपना वैभव होने से उसे

स्वयंभू रहने में सहायक हैं; तथापि उनमें से आचार्य अमृतचंद्र के अनुसार कुछ इसप्रकार हैं –

१. भाव शक्ति : "कारकानुगतक्रियानिष्क्रांतभवनमात्रमयी भावशक्ति: – (पर) कारकों के अनुसार होनेवाली क्रिया से रहित भवनमात्रमयी भाव शक्ति।"

२. क्रिया शक्ति : "कारकानुगतभवत्तारूपभावमयी क्रियाशक्ति: – कारकों के अनुसार परिणमित होने रूप भावमयी क्रिया शक्ति।"

३. कर्म शक्ति : "प्राप्यमाणसिद्धरूपभावमयी कर्मशक्ति: – प्राप्त किए जाते सिद्धरूप भावमय कर्म शक्ति।"

४. कर्तृ शक्ति : "भवत्तारूपसिद्धरूपभावभावकत्वमयी कर्तृशक्ति: – होनेपनारूप सिद्धरूप भाव के भावकत्वमयी कर्तृ शक्ति।"

५. करण शक्ति : "भवद्भावभवनसाधकतमत्वमयी करणशक्ति: – होते हुए भाव के होने के साधकतमपनेमयी करण शक्ति।"

६. सम्प्रदान शक्ति : "स्वयंदीयमानभावोपेयत्वमयी सम्प्रदान शक्ति:– अपने द्वारा दिए जाते भाव को प्राप्त करने की पात्रतामय सम्प्रदान शक्ति।"

७. अपादान शक्ति : "उत्पादव्ययालिंगितभावापायनिरपायध्रुवत्वमयी अपादानशक्ति: – उत्पाद-व्यय से आलिंगित भाव का अभाव होने पर भी (स्वयं के) अभाव से रहित ध्रुवत्वमयी अपादान शक्ति।"

८. अधिकरण शक्ति : "भाव्यमानभावाधारत्वमयी अधिकरणशक्ति: – भाव्यमान भाव के आधारत्वमयी अधिकरण शक्ति।"

९. संबंध शक्ति : "स्वभावमात्रस्वस्वामित्वमयी संबंधशक्ति: – अपना भाव अपना स्व/वैभव है और स्वयं उसका स्वामी है – ऐसे संबंधमयी संबंध शक्ति।"

इत्यादि अपनी-अपनी अनन्त-अनन्त शक्तिआँ अपनी-अपनी वस्तु को पूर्णतया स्वयंभू रहने में सहायक हैं।

प्रश्न १८ : इस सम्पूर्ण प्रकरण को समझने से हमें क्या लाभ है ?

उत्तर : इस सम्पूर्ण प्रकरण को समझने से अनेकानेक लाभ हैं; जिनमें से कुछ मुख्य निम्नलिखित हैं –

१. अनंत सामर्थ्य-सम्पन्न प्रत्येक वस्तु स्वयं स्वभाव से ही उत्पाद-

व्यय-ध्रौव्यात्मक होने से अपनी षट्कारकीय योग्यतापूर्वक ही अपना कार्य करती है; उसमें अन्य का कुछ भी हस्तक्षेप नहीं है। – यह समझ में आ जाने से मैं किसी का भला-बुरा कर सकता हूँ – इस भावना से होनेवाले पर कर्तृत्व संबंधी अहंकार आदि और दूसरों को अपने अधीन करने आदि रूप विकारी भाव नष्ट हो जाते हैं तथा मेरा कोई भला-बुरा कर सकता है – इस भाव से उत्पन्न होनेवाले दीनता, हीनता, सशंकता, पर के अधीन होने आदि रूप विकारी भाव नष्ट हो जाते हैं; जिससे जीवन सहज समतामय, स्वाधीनता-सम्पन्न, निर्भय, निश्शंक हो जाता है।

२. इसी समझ के बल पर जीवन न्याय-नीति-सम्पन्न, सदाचारमय, अहिंसक, गृहीत मिथ्यात्व से रहित हो जाता है।

३. प्रवचनसार की १६ वीं गाथा की आचार्य अमृतचंद्रीय टीका के अनुसार इसी समझ के बल पर शुद्धात्म-स्वभाव की प्राप्ति के लिए बाह्य साधन खोजने की व्यग्रता नष्ट हो जाती है। जीवन-संशोधन-हेतु स्वतंत्रता और स्वावलम्बन की ओर का पुरुषार्थ उग्र हो जाता है।

४. आचार्य कुन्दकुन्ददेव प्रवचनसार में लिखते हैं –

"**कत्ता करणं कम्मं, फलं च अप्पत्ति णिच्छिदो समणो।**
परिणमदि णेव अण्णो, जदि अप्पाणं लहदि सुद्धं ॥१२६॥

कर्ता, करण, कर्म और कर्मफल आत्मा ही है – ऐसा निश्चय करने वाला श्रमण यदि अन्यरूप परिणमित नहीं होता है, तो वह शुद्ध आत्मा को प्राप्त करता है।"

अर्थात् **इस षट्कारकीय समग्र प्रक्रिया को समझ कर जो स्वात्म-निष्ठ होता है, वही परमात्मा बनता है।** सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्ध दशा पर्यंत शुद्धता प्राप्त करने का एकमात्र यही उपाय है। जब तक हम अन्य को अपने कार्यों का उत्तरदायी मानते रहेंगे; तब तक मोह, राग, द्वेष आदि विकारों का अभाव नहीं हो पाने से संसार नष्ट नहीं हो सकता है।

इसप्रकार संसार दशा नष्ट करने के लिए वीतरागता प्रगट करने हेतु, अपने कार्यों का उत्तरदायी स्वयं को स्वीकार करने के लिए यह षट्कारक का प्रकरण समझना अत्यन्त आवश्यक है।

इत्यादि अनेकों लाभ इस प्रकरण को समझने से प्राप्त होते हैं। ○

पाठ ७ : चतुर्दश गुणस्थान

प्रश्न १ : आचार्य श्री नेमिचंद्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती के व्यक्तित्व-कर्तृत्व पर प्रकाश डालिए।

उत्तर : "**जह चक्केण य चक्की, छक्खंडं साहियं अविग्घेण।**
तह मइ चक्केण मया, छक्खंडं साहियं सम्मं॥

जिसप्रकार चक्रवर्ती चक्ररत्न द्वारा निर्विघ्नरूप से आर्य, म्लेच्छ आदि छह खण्डों को साध लेता है, उन पर अपना अखण्ड आधिपत्य स्थापित कर लेता है; उसीप्रकार मैंने अपने बुद्धिरूपी चक्र द्वारा षट्खण्डरूप आगम को अच्छी तरह साधा है, उनके विषय को हृदयंगम किया है, आत्मसात् किया है।"

उपर्युक्त कथन स्वयं आचार्य श्री नेमिचंद्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती ने गोम्मटसार कर्मकाण्ड की गाथा ३९७वीं में किया है। इससे ही उनकी अगाध विद्वत्ता, महानता का परिचय मिल जाता है।

जीवट्ठाण, खुद्दाबंध, बंधसामित्त, वेयणाखंड, वग्गणाखंड और महाबंध – इन छह खण्डों में विभक्त षट्खण्डागम ग्रन्थ वर्तमानयुगीन जिनवाणी के प्रथम श्रुतस्कंध का सर्वप्रथम लिपिबद्ध ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ सिद्धान्तग्रन्थ कहलाता है। इस ग्रन्थ को चक्रवर्ती के समान पूर्णतया हृदयंगम कर लेने से आप 'सिद्धान्त-चक्रवर्ती' की उपाधि से विभूषित हुए।

राजा चामुण्डराय के समकालीन होने से आपका समय ग्यारहवीं सदी का पूर्वार्ध माना गया है। राजा चामुण्डराय प्रधानतम राजा राचमल्ल (रायमल्ल) के मंत्री तथा सेनापति थे। उनका घरेलू नाम गोम्मट था।

अन्य जैनाचार्यों की प्रचलित परम्परा के समान आपके वर्तमान जीवन के संबंध में इससे अधिक कुछ भी ज्ञात नहीं है।

आप असाधारण विद्वान थे। आपके द्वारा रचित गोम्मटसार जीव-काण्ड-कर्मकाण्ड, लब्धिसार, क्षपणासार, त्रिलोकसार इत्यादि उपलब्ध ग्रन्थ आपकी असाधारण विद्वत्ता और 'सिद्धान्त-चक्रवर्ती' पदवी को सार्थक करते हैं। इन ग्रन्थों की विषय-वस्तु संक्षेप में इसप्रकार है –

गोम्मटसार जीवकाण्ड : इसमें गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, चौदहमार्गणा और उपयोग – इन बीस प्ररूपणाओं के माध्यम से जीव द्वारा किए गए काण्डों का २२ अधिकारों में विभक्त ७३३ गाथाओं द्वारा विस्तार से वर्णन किया गया है।

गोम्मटसार कर्मकाण्ड : इसमें जीव की विविध विकृतिओं का निमित्त पाकर होनेवाली कर्म की बंध, उदय, सत्त्व, उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण, उदीरणा, निधत्ति, निकाचित, उपशमरूप दश दशाओं का ९ अधिकारों में विभक्त ९७२ गाथाओं द्वारा वर्णन किया गया है।

लब्धिसार : सम्यग्दर्शन की कारणभूत क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण नामक पाँच लब्धिओं का विस्तृत विवेचन इस ग्रन्थ में किया गया है।

क्षपणासार : इसमें गुणस्थान-क्रमानुसार कर्मों के क्षय की प्रक्रिया का विस्तृत विवेचन है।

त्रिलोकसार : इस ग्रन्थ में अधोलोक, मध्यलोक, ऊर्ध्वलोक संबंधी विस्तृत जानकारी निहित है।

इन ग्रन्थों में से गोम्मटसार ग्रन्थ की रचना चामुण्डराय अपर नाम गोम्मट के आग्रह पर षट्खण्डागम का संक्षिप्तसार लेकर की गई होने से यह ग्रन्थ 'गोम्मटसार' नाम से प्रसिद्ध हो गया है। इस ग्रन्थ पर मुख्यतया आगमशैली में लिखी गईं अध्यात्म की पोषक चार टीकाएँ उपलब्ध हैं –

१. अभयचंद्राचार्यकृत मंदप्रबोधिका नामक संस्कृत टीका।

२. केशववर्णीकृत जीवतत्त्वप्रदीपिका नामक संस्कृत मिश्रित कन्नड़ टीका।

३. इन नेमिचंद्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती से भिन्न तथा इनके उपरान्त हुए नेमिचंद्राचार्यकृत जीवतत्त्वप्रदीपिका नामक संस्कृत टीका।

४. आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजीकृत सम्यग्ज्ञानचंद्रिका नामक भाषा टीका।

संसारी जीव के भावों का और कर्मों का परस्पर में घनिष्ठतम निमित्त-नैमित्तिक संबंध होने के कारण, इस संबंध को जाने बिना विश्व-व्यवस्था का तथा वस्तु-व्यवस्था का यथार्थ ज्ञान होना अशक्य है। इस ज्ञान के

अभाव में जीवन सुखी नहीं हो सकता है; अतः इनकी विशद जानकारी के लिए इन ग्रन्थों का गंभीर अध्ययन, मनन, चिंतन करना चाहिए।

प्रश्न २ : 'गुणस्थान' शब्द का व्युत्पत्ति परक अर्थ देकर वे किसमें होते हैं ? – यह स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : आचार्य देवसेन अपनी 'आलाप-पद्धति' नामक कृति में 'गुण' शब्द का व्युत्पत्ति परक अर्थ इसप्रकार लिखते हैं – "**गुण्यते पृथक्क्रियते इति गुणः** – जिससे (वस्तु) पृथक् की जाती है, उसे गुण कहते हैं।" **वस्तु सामान्य गुणों के माध्यम से संख्या में तथा विशेष गुणों के माध्यम से जाति में विभक्त होती है अर्थात् सामान्य गुणों के माध्यम से अनन्त सत्तात्मक महा सत्ता या अनंतानंत द्रव्यों के समूहरूप विश्व की और विशेष गुणों के माध्यम से अवान्तर/स्वरूप सत्ता या जाति अपेक्षा छह द्रव्यों के समूहरूप विश्व की सिद्धि होती है। इसप्रकार गुण एक वस्तु से दूसरी वस्तु को पृथक् करने का कार्य करते हैं।**

इसी व्युत्पत्ति के अनुसार 'गुणस्थान' शब्द का विश्लेषण करने पर यह फलित होता है कि जिन स्थानों/भावों/दशाओं से एक ही जीव पृथक्-पृथक् प्रतीत होता है, उन्हें गुणस्थान कहते हैं।

यहाँ गुणस्थान से तात्पर्य गुणों के स्थान से नहीं है। मोह और योग 'गुण' हैं भी नहीं; इन्हें गुण कहा भी नहीं जाता है; इनकी विद्यमानता सुखमय और सुख की कारण भी नहीं है; सभी इन मोह आदि को दुःखमय और दुःख का कारण मानकर नष्ट ही करना चाहते हैं; तथापि एक ही जीव इनसे पृथक्-पृथक् प्रतीत होने लगता है; अतः इन्हें गुणस्थान कहते हैं।

वास्तव में तो ये क्रमशः हीनतामय मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय, योगरूप दोषों के स्थान हैं; ज्ञानादि शाश्वत गुणों के स्थान नहीं हैं। यद्यपि गुणस्थानानुसार मिथ्यादर्शन आदि के अभाव में व्यक्त हुए सम्यक्त्व आदि गुण भी इनमें विद्यमान रहते हैं; तथापि मुख्यरूप से गुणस्थान के भेद इन सम्यक्त्व आदि गुणों (स्वाभाविक पर्यायों) के आधार पर नहीं होते हैं; उनके साथ रहने वाले अन्य विभावों/दोषों के आधार पर होते हैं; अतः यहाँ 'गुण' शब्द 'पृथक्ता' वाची ही समझना चाहिए।

इसी अपेक्षा प्रत्येक संसारी जीव पर्याय की अपेक्षा (मिथ्यात्व नामक) प्रथम गुणस्थान में तो अनादि से ही विद्यमान है। संज्ञी पंचेन्द्रिय होने पर अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ पूर्वक दोषों के अभावरूप में अन्य गुणस्थानों को प्राप्त हो जाता है।

निष्कर्ष यह है कि गुणस्थान पुद्गल आदि पाँच अजीव द्रव्यों में तो होते ही नहीं; जीवद्रव्य और उसके गुणों में भी नहीं होते हैं; एकमात्र उसकी पर्याय में होते हैं। पर्याय में भी सर्व दोष-रहित, सर्व गुण-सम्पन्न सिद्ध भगवान के भी नहीं होते हैं। एकमात्र दोष-सम्पन्न संसारी जीवों की एक-एक समयवर्ती पर्यायों में होते हैं। पर्यायों से अभिन्नता की अपेक्षा उन जीवों को देखने पर वे ही इन गुणस्थानों रूप हैं – ऐसा प्रतीत होता है।

प्रश्न ३ : गुणस्थानों का पाँच भावों के साथ संबंध बताइए।

उत्तर : औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक – ये पाँच भाव जीव के स्व-तत्त्व/असाधारण भाव या विशेष भाव हैं।

इनमें से प्रारम्भिक चार भाव जीव में उत्पन्न होनेवाले, कर्म सापेक्ष नैमित्तिक या औपाधिक भाव हैं। पाँचवाँ पारिणामिक भाव अनादि-अनन्त, कर्मोपाधि निरपेक्ष, सदा एकरूप रहनेवाला सहज स्वभाव है।

यहाँ 'गुण' शब्द द्वारा इन्हीं भावों का ग्रहण किया गया है। मात्र मोह और योग निमित्तक इन्हीं भावों के तारतम्य से होनेवाले जीव के भेदों को गुणस्थान कहते हैं।

सामान्यतया पहले, दूसरे और तीसरे गुणस्थानवर्ती जीवों के इन पाँच भावों में से पारिणामिक, औदयिक और क्षायोपशमिक ये तीन भाव होते हैं। नाना जीवों की अपेक्षा चौथे से ग्यारहवें गुणस्थान पर्यंत यथायोग्य पाँचों भाव हो सकते हैं। बारहवें गुणस्थान में औपशमिक के बिना चार भाव होते हैं। तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में औपशमिक और क्षायोपशमिक के बिना शेष तीन अर्थात् क्षायिक, औदयिक और पारिणामिक भाव हैं। गुणस्थानातीत सिद्ध भगवान के मात्र क्षायिक और पारिणामिक – ये दो ही भाव हैं।

इसप्रकार गुणस्थानों का इन पाँच भावों के साथ व्याप्य-व्यापक संबंध है। पाँच भाव व्यापक हैं और गुणस्थान व्याप्य; पाँच भाव अंशी

हैं और गुणस्थान उनके अंश; पाँच भाव सामान्य हैं और गुणस्थान उनके विशेष हैं।

प्रश्न ४ : गुणस्थान की परिभाषा देकर उसे स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : आचार्य श्री नेमिचंद्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती अपनी कृति गोम्मटसार जीवकाण्ड में गाथा ३ पूर्वार्ध द्वारा गुणस्थान के पर्यायवाची नाम बताते हुए अति संक्षेप में उसकी परिभाषा इसप्रकार देते हैं –

''संखेओ ओघोत्ति य, गुणसण्णा सा च मोहजोगभवा।

संक्षेप, ओघ इत्यादि गुण (गुणस्थान) के नाम हैं तथा वह मोह और योग के निमित्त से उत्पन्न होता है।''

संक्षेप, ओघ, सामान्य, संक्षिप्त, समास इत्यादि गुणस्थान के और विस्तार, आदेश, विशेष, विस्तृत, व्यास इत्यादि मार्गणास्थान के पर्यायवाची शब्द हैं।

इसी का विस्तार करते हुए आगे वे वहीं गाथा ८ द्वारा इसे इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''जेहिं दु लक्खिज्जंते, उदयादिसु संभवेहिं भावेहिं।
जीवा ते गुणसण्णा, णिद्दिट्ठा सव्वदरसीहिं ।।

(मोहनीय आदि कर्मों की) उदय आदि अवस्थाओं के होने पर होने वाले जिन भावों के द्वारा जीव लक्षित होते हैं/पहिचाने जाते हैं; उन्हें सर्वज्ञ भगवान गुणस्थान कहते हैं।''

मुख्यरूप से जीव के श्रद्धा और चारित्र गुण की विकृत दशा को मोह कहते हैं। इसमें निमित्त होनेवाला दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयरूप एक मोहनीय कर्म है। इस मोहनीय कर्म की उदय आदि रूप निमित्तता के समय जीव की अपनी तत्समय की योग्यता से गुणस्थानरूप दशाएँ होती रहती हैं। इनका विभाजन करते हुए आचार्य श्री नेमिचंद्र-सिद्धान्त-चक्रवर्ती वहीं ११ से १४वीं पर्यंत ४ गाथाओं द्वारा इनकी विशिष्ट विवक्षा स्पष्ट करते हैं। जिसका भाव इसप्रकार है –

प्रारम्भिक चार गुणस्थान दर्शनमोहनीय की मुख्यता से, पाँचवें से बारहवें पर्यंत ८ गुणस्थान चारित्रमोहनीय की मुख्यता से और तेरहवाँ-चौदहवाँ – ये दो गुणस्थान योग की मुख्यता से विभक्त किए गए हैं। इस

विवक्षा में दर्शनमोहनीय की अपेक्षा पहले गुणस्थान में औदयिक भाव, दूसरे में पारिणामिक भाव, तीसरे में क्षायोपशमिक भाव और चौथे में तीन भाव अर्थात् औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक भाव हैं।

चारित्रमोहनीय की अपेक्षा शेष गुणस्थानों में से पाँचवें, छठवें और सातवें – इन तीन गुणस्थानों में क्षायोपशमिक भाव; उपशम-श्रेणीवाले आठवें से ग्यारहवें – इन चार गुणस्थानों में औपशमिक भाव; क्षपक श्रेणीवाले आठवें से बारहवें – इन चार गुणस्थानों में तथा तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान और सिद्ध भगवान के क्षायिक भाव है। तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान का भेद योग के सद्भाव और अभाव के कारण है।

इसप्रकार मोह और योग की तारतम्यरूप (हीनाधिक) दशाओं के कारण गुणस्थान उत्पन्न होते हैं। भावों की भाषा में इसे इसप्रकार कह सकते हैं – अपने परम पारिणामिक भाव की अपनत्व रूप से अस्वीकृति-स्वीकृति, तद्रूप अनाचरण-आचरण से व्यक्त होने वाले औदयिक आदि भावों/पर्यायों द्वारा गुणस्थानों की उत्पत्ति होती है।

इसप्रकार मोह और योग से उत्पन्न होने वाली श्रद्धा-चारित्र आदि गुणों की तारतम्यरूप दशाओं को गुणस्थान कहते हैं।

प्रश्न ५ : गुणस्थान के कितने और कौन-कौन से भेद हैं ?

उत्तर : गुणस्थान एकमात्र संसारी जीव की दशाओं में होते हैं। संसारी जीव-राशि संख्या की अपेक्षा अनंत है; इस अपेक्षा गुणस्थान के भी अनंत भेद हो जाते हैं।

गुणस्थान मोह और योग की तारतम्यरूप दशाएँ हैं। ये दशाएँ विभाव होने के कारण असंख्यात लोक प्रमाण प्रकार की होती हैं; अतः इस अपेक्षा इनके असंख्यात लोक प्रमाण भेद हैं।

इन सापेक्ष अनंत और असंख्यात भेदों को छद्मस्थ जीवों को समझाने के लिए आचार्यों ने उन्हें चौदह भागों में विभाजित किया है। आचार्य श्री नेमिचंद्र-सिद्धान्त-चक्रवर्ती अपनी कृति गोम्मटसार जीवकाण्ड के गाथा क्रमांक ९ और १० द्वारा उनके नाम इसप्रकार लिखते हैं –

''मिच्छो सासण मिस्सो, अविरदसम्मो य देसविरदो य।
विरदापमत्त इदरो, अपुव्व अणियट्टि सुहमो य।।

'मोहजोगभवा' अर्थात् मोह और योग के निमित्त से गुणस्थानों की उत्पत्ति होती है

मोह

- दर्शनमोह (स्वरूप की भ्रांति)
  - मिथ्यात्व — १. मिथ्या. गुण.
  - सम्यक् मिथ्यात्व — ३. सम्यक् मिथ्यात्व
  - सम्यक् प्रकृति (इसमें मोक्ष-मार्ग नष्ट नहीं होता है)
- चारित्रमोह (स्वरूप में अस्थिरता)
  - कषाय
    - अनंतानुबंधी चतुष्क — २. सासादन सम्यक्त्व
    - अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क — ४. अविरत सम्यक्त्व
    - प्रत्याख्यानावरण चतुष्क — ५. देश विरत
    - संज्वलन चतुष्क
      - तीव्र — ६. प्रमत्त विरत
      - मंद — ७. अप्रमत्त विरत
      - मंदतर — ८. अपूर्व-करण
      - मंदतम — ९. अनिवृत्ति-करण
      - सूक्ष्मलोभ — १०. सूक्ष्म-साम्पराय
  - नौ-नो कषाय (पृथक् से कुछ कार्य करने में समर्थ नहीं; अत: गौण)

(चतुष्क = क्रोध, मान, माया, लोभ तथा यथायोग्य नो कषाय)

- कषाय दबी (उपशम) — ११. उपशान्तमोह
- कषाय नाश — १२. क्षीणमोह

योग

(आत्मप्रदेशों की चंचलता)

- सद्भाव में — १३. सयोग केवली
- असद्भाव में — १४. अयोग केवली

मोह-योग का अभाव होने से गुणस्थानातीत सिद्ध परमेष्ठी हो जाते हैं।

इस चार्ट में मोह और योग के विस्तारमय ११ अशुद्धिओं से होने वाले १४ गुणस्थानों एवं किस गुणस्थान में कितनी और कौन-सी शुद्धि/अशुद्धि रहती है, यह दर्शाया गया है।

ऊर्ध्वगमन स्वभाव है

११ अशुद्धिआँ	बंध के कारण	गुणस्थान	गुणस्थानों में अशुद्धिआँ संख्या सहित	नष्ट हुई अशुद्धि संख्या	प्रगट शुद्धि
	पूर्ण निर्बंध	१४. अयोग केवली	पूर्ण शुद्ध दशा	११	परम यथा. चा.
	योग	१३. सयोग केवली	इन तीन गुणस्थानों में मात्र योग वाली अशुद्धि	१०	यथा. चारित्र
		१२. क्षीण मोह		१०	यथा. चारित्र
११. योग		११. उपशान्त मोह		१०	यथा. चारित्र
१०. सं. सूक्ष्मलोभ		१०. सूक्ष्म साम्पराय	संज्वलन सूक्ष्म लोभ कषाय एवं योग २	९	अप्रमत्त
९. संज्वल. मंदतम		९. अनिवृत्तिकरण	पूर्वोक्त+संज्वलन मंदतर कषाय छोड़, योग पर्यन्त सभी ३	८	अप्रमत्त
८. संज्वलन. मंदतर	कषाय	८. अपूर्वकरण	पूर्वोक्त+संज्वलन मंद कषाय छोड़, योग पर्यन्त सभी ४	७	अप्रमत्त
७. संज्व. मंद कषाय		७. अप्रमत्तविरत	पूर्वोक्त+संज्वलन तीव्र कषाय छोड़, योग पर्यन्त सभी ५	६	अप्रमत्त
६. सं. तीव्र कषाय	प्रमाद	६. प्रमत्तविरत	पूर्वोक्त+प्रत्याख्यानावरण कषाय छोड़, योग पर्यन्त ६	५	सकल संयम
५. प्रत्याख्यानावर.		५. देशविरत	पूर्वोक्त+अप्रत्याख्यानावरण कषाय छोड़, योग पर्यन्त ७	४	देश संयम
४. अप्रत्याख्याना.	अविरति	४. अविरत सम्यक्त्व	पूर्वोक्त+सम्यग्मिथ्यात्व छोड़, योग पर्यन्त सभी ८	३	सम्यक्त्व
३. सम्यक् मिथ्या.		३. सम्यग्मिथ्यात्व	मिथ्यात्व +अनंतानुबंधी कषाय छोड़, योग पर्यन्त सभी ९	२	
२. अनंतानुबंधी	मिथ्या-दर्शन	२. सासादन सम्यक्त्व	मिथ्यात्व+अनंता. संब. ३ छोड़, योग पर्यंत सभी ९ १/४	१ ३/४	
१. मिथ्यात्व		१. मिथ्यात्व	मिथ्यात्व आदि सभी ११ अशुद्धिआँ	०	

चलो रे भाई! अपने वतन में चलें

उवसंतखीणमोहो, सजोगकेवलिजिणो अजोगी य।
चउदस जीवसमासा, कमेण सिद्धा य णादव्वा॥

मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरतसम्यक्त्व, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्म-साम्पराय, उपशांत-मोह, क्षीण-मोह, सयोग-केवली जिन और अयोग-केवली जिन – ये क्रम से चौदह गुणस्थान हैं। इन सबके बाद में होने वाली सिद्ध दशा इन सबसे रहित जानना चाहिए।''

इसप्रकार समझने-समझाने की अपेक्षा गुणस्थानों के चौदह भेद हैं।

प्रश्न ६ : गुणस्थान के चौदह भेद इस क्रम से क्यों बताए जाते हैं ?

उत्तर : मोह आदि दोषों के घटते क्रम की अपेक्षा गुणस्थान के चौदह भेद इस क्रम से बताए जाते हैं अथवा विशुद्धि/गुणरूप दशाओं की वृद्धि की अपेक्षा उनका यह क्रम बताया जाता है। जैसे पहले मिथ्यात्व गुणस्थान की अपेक्षा दूसरे सासादन गुणस्थान में मोहादि दोष कम हैं। यहाँ दर्शन-मोहनीय का उदय नहीं होने से उस संबंधी औदयिक भावरूप मोह नहीं है। पहले गुणस्थान में दर्शनमोहनीय और अनंतानुबंधी चतुष्करूप चारित्र-मोहनीय का उदय होने से, जीव की दशा में इन दोनों संबंधी औदयिक भावरूप मिथ्यात्व/विपरीताभिनिवेश था; परन्तु दूसरे गुणस्थान में इन दोनों में से मात्र अनंतानुबंधी क्रोधादि चतुष्क में से किसी एक चारित्र-मोहनीय का उदय होने के कारण यहाँ पहले जैसा विपरीताभिनिवेश नहीं है। दर्शनमोहनीय संबंधी विपरीतता यहाँ नहीं होने से मात्रा की अपेक्षा दोष कुछ कम है; अत: इसे दूसरे क्रमांक पर रखा गया है।

तीसरे सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान में दर्शनमोहनीय की मात्र सम्य-ग्मिथ्यात्व प्रकृति का उदय होने से उस संबंधी औदयिक भाव है, जो दूसरे गुणस्थान की अपेक्षा मात्रा में और भी कम अशुद्ध है; अत: इसे तीसरे क्रमांक पर रखा गया है।

इसप्रकार आगे-आगे दोषों में कमी होते जाने से तथा उसी अनुपात में गुणों की व्यक्तता में वृद्धि होते जाने से गुणस्थान के इन चौदह भेदों को इस क्रम से बताया गया है।

गुणस्थानों का यह क्रम उत्पत्ति की अपेक्षा नहीं समझना चाहिए;

क्योंकि सभी गुणस्थान इस क्रमानुसार उत्पन्न नहीं होते हैं। यद्यपि सातवाँ, आठवाँ, नवमाँ, दशवाँ तथा बारहवें से तेरहवाँ, चौदहवाँ – ये गुणस्थान इसी क्रम से उत्पन्न भी होते हैं; तथापि कभी भी पहले गुणस्थान के बाद दूसरा, पाँचवें के बाद छठवाँ और ग्यारहवें के बाद बारहवाँ गुणस्थान उत्पन्न नहीं होता है; अत: इनका यह क्रम उत्पत्ति की अपेक्षा नहीं है; वरन् आगे-आगे घटती हुई अशुद्धता और बढ़ती हुई शुद्धता की अपेक्षा से है।

इसप्रकार घटती हुई अशुद्धि और बढ़ती हुई शुद्धि की मात्रा के अनुसार गुणस्थानों का यह क्रम रखा गया है।

प्रश्न ७ : अत्यन्त संक्षेप में समझने के लिए इन गुणस्थानों को किन-किन अपेक्षाओं से विभक्त किया जा सकता है ?

उत्तर : अत्यन्त संक्षेप में समझने के लिए इन गुणस्थानों को अनेक अपेक्षाओं से विभक्त किया जा सकता है। जिनमें से कुछ इसप्रकार हैं–

१. मिथ्यात्व और सम्यक्त्व की अपेक्षा : पहले और दूसरे गुणस्थानवर्ती मिथ्यात्वी हैं, चौथे से चौदहवें गुणस्थान पर्यंत सभी संसारी और गुणस्थानातीत सिद्ध भगवान सम्यक्त्वी हैं। तीसरे गुणस्थानवर्ती मिश्र/सम्यग्मिथ्यात्वी हैं।

२. अविरत और विरत की अपेक्षा : पहले से चौथे गुणस्थान पर्यंत जीव की दशाएँ अविरत हैं। छठवें से चौदहवें गुणस्थान पर्यंत जीव की दशाएँ विरत हैं। पाँचवें गुणस्थानवर्ती जीव की दशाएँ विरताविरत/देशविरत हैं।

३. प्रमत्त और अप्रमत्त की अपेक्षा : पहले से छठवें गुणस्थान पर्यंत की सभी दशाएँ प्रमत्त हैं। इससे आगे की सभी दशाएँ अप्रमत्त हैं।

४. कषाय और अकषाय की अपेक्षा : पहले से दशवें गुणस्थान पर्यंत की सभी दशाएँ उत्तरोत्तर हीन-हीन कषायवान हैं। इससे आगे सभी अकषायी/कषाय-रहित हैं।

५. योग और अयोग की अपेक्षा : पहले से तेरहवें गुणस्थान पर्यंत की सभी दशाएँ योगवान/योग-सहित हैं तथा चौदहवें गुणस्थान की दशा अयोगी/योग-रहित है।

६. दु:ख और सुख की अपेक्षा : पहले से तीसरे गुणस्थान पर्यंत की सभी दशाएं पूर्णतया दु:खी ही हैं। चौथे से दशवें पर्यंत की दशाएं दु:खी

और सुखी दोनों रूप/मिश्ररूप हैं। ग्यारहवें, बारहवेंवाली दशाएँ पूर्ण सुखी हैं; तेरहवें, चौदहवें गुणस्थानवर्ती अनंत सुखी हैं तथा गुणस्थानातीत सिद्ध दशा अव्याबाध सुखमय है।

७. विराधक, साधक, साध्य दशाओं की अपेक्षा : पहले से तीसरे गुणस्थान पर्यंत की दशाएँ विराधक हैं। चौथे से बारहवें पर्यंत की दशाएँ साधक हैं। शेष तेरहवें, चौदहवें गुणस्थानवर्ती तथा सिद्ध भगवान साध्य दशा-सम्पन्न हैं।

८. बहिरात्मा, अंतरात्मा, परमात्मा की अपेक्षा : पहले से तीसरे गुण-स्थान पर्यंत की दशाएँ बहिरात्मा हैं। चौथे से बारहवें पर्यंत की दशाएँ अंत-रात्मा हैं। तेरहवें, चौदहवें गुणस्थानवर्ती और सिद्ध दशाएँ परमात्मा हैं।

९. (धर्म) गुरु की अपेक्षा : छठवें से चौदहवें गुणस्थान पर्यंत की सभी दशाएँ (धर्म) गुरु रूप हैं।

१०. (सच्चे) देव की अपेक्षा : तेरहवें, चौदहवें गुणस्थानवर्ती तथा गुणस्थानातीत सिद्ध दशा (सच्चे) देवरूप हैं।

११. अधार्मिक धार्मिक की अपेक्षा : पहले से तीसरे गुणस्थान पर्यंत की दशाएँ अधार्मिक हैं। शेष चौथे से चौदहवें गुणस्थान पर्यंत और सिद्ध – ये सभी दशाएँ धार्मिक हैं।

इत्यादि अनेक-अनेक अपेक्षाओं से इन चौदह गुणस्थानों को अति संक्षेप में अनेक प्रकार से विभाजित किया जा सकता है।

प्रश्न ८ : पहले मिथ्यात्व गुणस्थान का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : इस पहले गुणस्थान का स्वरूप बताते हुए आचार्य नेमिचन्द्र-सिद्धान्त-चक्रवर्ती अपनी कृति गोम्मटसार जीवकाण्ड में लिखते हैं –

“मिच्छोदयेण मिच्छत्तमसद्दहणं तु तच्चअत्थाणं।
एयंतं विवरीयं, विणयं संसयिदमण्णाणं॥१५॥

मिथ्यात्व के उदय से तत्त्वार्थों के अश्रद्धानमय एकांत, विपरीत, विनय, संशयित, अज्ञानरूप मिथ्यात्व होता है।”

इसे ही स्पष्ट करते हुए वहीं वे आगे लिखते हैं –

“मिच्छत्तं वेदंतो, जीवो विवरीयदंसणो होदि।
ण य धम्मं रोचेदि हु, महुरं खु रसं जहा जरिदो॥१७॥

मिच्छाइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं उवइट्ठं वा अणुवइट्ठं ॥१८॥

मिथ्यात्व का अनुभव करने वाला अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीव विपरीत श्रद्धावाला होता है। जैसे ज्वरवान (बुखारवाले) व्यक्ति को मधुर रस (स्वादिष्ट भोजन-पान आदि) भी अच्छा नहीं लगता है; उसीप्रकार इसे वास्तविक धर्म अच्छा नहीं लगता है।

यह मिथ्यादृष्टि जीव उपदिष्ट प्रवचन अर्थात् पूर्वापर विरुद्ध आदि सभी दोषों से रहित, वीतरागता-पोषक सर्वज्ञ भगवान के वचनों की तो श्रद्धा नहीं करता है और बताए गए या नहीं बताए गए असद्भाव का/पदार्थ के विपरीत स्वरूप का इच्छानुसार श्रद्धान करता है।''

मिथ्या और त्व – इन दो शब्दों से मिलकर 'मिथ्यात्व' शब्द बनता है। मिथ्या=असत्य, अयथार्थ, गलत, झूठा, उल्टा, विपरीत, वितथ, व्यलीक आदि; त्व=भाव, पना आदि अर्थात् पदार्थ/वस्तु का स्वरूप जैसा नहीं है, वैसा मानना, जानना, आचरण करना मिथ्यात्व है।

ज्ञानानंद-स्वभावी, अनंत वैभव-सम्पन्न, शाश्वत अपने भगवान आत्मा को अपनत्वरूप से स्वीकार नहीं कर; शरीर आदि संयोगों, रागादि संयोगी भावों, मतिज्ञान आदि अल्पविकसित पर्यायों, केवलज्ञान आदि पूर्ण विकसित पर्यायों, गुण-भेदों, प्रदेश-भेदों इत्यादि में से किसी भी रूप स्वयं को मानना, जानना, आचरण करना मिथ्यात्व है। देव-शास्त्र-गुरु के स्वरूप संबंधी विपरीतता, स्व-पर के स्वरूप में विपरीतता, प्रयोजनभूत सात तत्त्वों में विपरीतता आदि सभी मिथ्यात्व रूप दशाएँ ही हैं।

इन विपरीतताओं सहित सम्पूर्ण प्रगट ज्ञान मिथ्याज्ञान और सम्पूर्ण आचरण मिथ्याचारित्र कहलाता है।

इन परिणामों से सहित जीव मिथ्यादृष्टि कहलाता है। यहाँ दृष्टि शब्द का अर्थ रुचि, श्रद्धा, प्रत्यय, प्रतीति, मान्यता, विश्वास लिया गया है अर्थात् विपरीत श्रद्धा वाले जीव मिथ्यादृष्टि हैं – ऐसा भाव है। ये सभी जीव बहिरात्मा कहलाते हैं। गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ६२३ में आचार्य श्री नेमिचंद्र-सिद्धान्त-चक्रवर्ती ने इन जीवों को पाप जीव कहा है तथा

इनकी संख्या अनंतानंत बताई है। उनके मूल शब्द इसप्रकार हैं – "**मिच्छाइट्ठी पावा, णंताणंता..........।**"

आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी इस मिथ्यादृष्टि जीव को अष्टपाहुड़-दर्शनपाहुड़ गाथा तीसरी में भ्रष्ट और भावपाहुड़ गाथा १४३वीं में चल शव कहते हैं। उनके मूल शब्द क्रमशः इसप्रकार हैं –

दंसणभट्ठा भट्ठा दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झंति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा ण सिज्झंति ॥३॥

जीवविमुक्को सबओ, दंसणमुक्को य होइ चल सबओ।
सबओ-लोय-अपुज्जो, लोउत्तरयम्मि चल-सबओ ॥१४३॥

तथा प्रवचनसार गाथा २७१वीं की उत्थानिका और टीका में आचार्य श्री अमृतचन्द्रस्वामी इसे संसारतत्त्व कहते हैं।

यह मिथ्यात्व परिणाम चारों गति के सभी दशाओं वाले मिथ्यादृष्टि जीवों के होता है। इस मिथ्यात्व परिणाम से दर्शनमोहनीय और नपुंसक वेदरूप मोहनीय की दो; नरक आयुष्करूप आयुष्क की एक; नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, हुण्डक संस्थान, असम्प्राप्तासृपाटिका संहनन, स्थावर, आताप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, एकेन्द्रिय, दो-इन्द्रिय, तीनेन्द्रिय, चारेन्द्रियरूप नामकर्म की १३ – इन तीव्रतम पापमय १६ कर्म प्रकृतिओं का बंध होता है।

द्वादशांगमय, चार अनुयोगों में विभक्त सम्पूर्ण जिनवाणी में ही मिथ्यात्व परिणाम को पूर्णतया पापमय, अनंत पापों का कारण, दुःखमय और दुःख का कारण कहा गया है; अतः मर-पच कर भी इसे नष्ट करने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के माध्यम से प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों का सम्यक् निर्णय कर ज्ञानानंद-स्वभावी, अनादि-अनंत, एकरूप अपने आत्मा को ही अपनत्वरूप से स्वीकार करने/अपनाने का प्रयास ही मिथ्यात्व को नष्ट करने का पुरुषार्थ है तथा इस अपने आत्मा को ही अपनत्वरूप से अपना लेना ही मिथ्यात्व का नाश है; मोक्षमार्ग का प्रारम्भ है, अतीन्द्रिय सुख की प्रगटता है।

प्रश्न ९ : मिथ्यात्व दशा के भेद बताइए।

उत्तर : सामान्य से तो सभी मिथ्यात्व दशाएँ एक मिथ्यात्वरूप ही होने के कारण मिथ्यात्व मात्र मिथ्यात्व ही है, उसमें कोई भेद नहीं है; तथापि उन मिथ्यात्व दशाओं में पारस्परिक अंतर बताने के लिए आचार्यों ने उसके भी भेद किए हैं। वे इसप्रकार हैं –

१. आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने अपने टीकाग्रन्थ सर्वार्थसिद्धि में मिथ्यादर्शन के दो भेद किए हैं – १. नैसर्गिक, २. परोपदेश पूर्वक। इनका स्वरूप स्पष्ट करते हुए वे वहीं लिखते हैं – 'उपदेश के बिना मिथ्यात्व कर्म के उदय से होने वाले जीवादि तत्त्वार्थों के अश्रद्धान को नैसर्गिक मिथ्यादर्शन कहते हैं तथा दूसरों के उपदेश से होनेवाला मिथ्यादर्शन परोपदेश पूर्वक है।'

भगवती आराधना ग्रन्थ में आचार्य शिवार्य ने इन्हें क्रमशः अनभिगृहीत और अभिगृहीत शब्द द्वारा स्पष्ट किया है। बाद में सरल शब्दों में इन्हें 'अगृहीत और गृहीत मिथ्यात्व' शब्दों द्वारा कहा जाने लगा।

परोपदेश पूर्वक/निमित्तक मिथ्यादर्शन के क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानी और वैनयिक – ये चार भेद किए गए हैं। इनमें से क्रियावादिओं के १८०, अक्रियावादिओं के ८४, अज्ञानवादिओं के ६७ और वैनयिक-वादिओं के ३२ भेद – इसप्रकार सब मिलकर ३६३ उत्तर भेद हो जाते हैं।

२. भगवती आराधना, मूलाचार, धवल टीका ग्रन्थ में मिथ्यात्व के मूल में तीन भेद किए हैं – संशयित, अभिगृहीत और अनभिगृहीत।

३. प्रस्तुत ग्रन्थ गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा १५ उत्तरार्ध में मिथ्यात्व के एकांत, विपरीत, विनय, संशयित और अज्ञान – ये पाँच भेद किए हैं।

४. धवल टीका में आचार्य वीरसेन स्वामी मिथ्यात्व के भेदों की विस्तार से चर्चा करते हुए लिखते हैं कि –

"**जावदिया वयणवहा, तावदिया चेव होंति णयवादा।**
जावदिया णयवादा, तावदिया चेव होंति परसमया ॥१०५॥

जितने वचनमार्ग हैं, उतने ही नयवाद होते हैं और जितने नयवाद हैं, उतने ही परसमय हो जाते हैं।"

इससे मिथ्यात्व के संख्यात भेद हो जाते हैं।

५. तत्त्वार्थराजवार्तिक में इन्हीं भेदों का विस्तार करते हुए भट्ट अक-लंकदेव लिखते हैं कि "मिथ्यात्व के परिणामों की अपेक्षा असंख्यात

और अनुभाग तथा स्वामिओं की अपेक्षा अनन्त भेद हो जाते हैं।''

इसप्रकार जिनागम में मिथ्यात्व दशा के एक से लेकर अनन्त भेद तक बताए गए हैं। जिनमें से अगृहीत और गृहीत मिथ्यात्व – ये दो भेद प्रमुख हैं। एकेन्द्रिय से लेकर सैनी पंचेन्द्रिय पर्यंत सभी मिथ्यादृष्टि जीवों के अनादि से प्रवाहरूप में चली आई विपरीत मान्यता आदि को अगृहीत मिथ्यात्व कहते हैं तथा मुख्यरूप से मनुष्यों में दूसरों के उपदेश आदि के द्वारा ग्रहण की गई विपरीत मान्यता आदि को गृहीत मिथ्यात्व कहते हैं। इससे अगृहीत मिथ्यात्व विशेष पुष्ट हो जाता है। यह मिथ्यात्व मनुष्यों में नया उत्पन्न होता है। यहाँ के संस्कार वश कदाचित् देव, सैनी तिर्यंच और नरकगति में भी पाया जा सकता है।

मिथ्यात्व नहीं छूटने और छूटने की अपेक्षा भी इसके दो भेद हो जाते हैं – अनादि मिथ्यात्व और सादि मिथ्यात्व।

परम्परा की अपेक्षा जो मिथ्यात्व आज तक कभी भी नहीं छूटा है, वह अनादि मिथ्यात्व कहलाता है तथा जो मिथ्यात्व एक बार छूटकर सम्यक्त्व होने के बाद पुन: मिथ्यात्व हो गया है, वह सादि मिथ्यात्व कहलाता है। सादि मिथ्यात्व अधिक से अधिक कुछ कम अर्ध पुद्गल परावर्तन काल पर्यंत ही रह सकता है।

प्रश्न १० : यह मिथ्यात्व गुणस्थान कब से है और कब तक रहेगा?

उत्तर : प्रत्येक जीव अनादि से इस मिथ्यात्व गुणस्थान में ही है। एकेन्द्रिय से लेकर असैनी पंचेन्द्रिय पर्यंत के जीव तो सदा इस गुणस्थान वाले ही होते हैं। एकमात्र सैनी पंचेन्द्रिय ही इसे नष्ट करने का पुरुषार्थ कर इससे निकल सकता है; वह भी पाँच लब्धिरूप विशिष्ट योग्यता विकसित होने पर ही; अन्यथा नहीं – इस अपेक्षा यह गुणस्थान अनादि से है। अभव्य जीव और अति दूरानुदूर भव्य जीव इसे नष्ट करने में असमर्थ होने के कारण उनकी अपेक्षा यह अनंतकाल पर्यंत रहता है।

अन्य जीवों की अपेक्षा यह अनादि-सांत, सादि-सांत है। जब कोई अनादि मिथ्यादृष्टि जीव आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ द्वारा उसे नष्ट कर सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है तब उसका वह मिथ्यात्व अनादि-सांत कहलाता है। यदि पुन: वह सम्यग्दृष्टि जीव मिथ्यात्व में आ जाता है तो उसका वह मिथ्यात्व

सादि-सांत कहलाता है। ऐसी स्थिति में उसका जघन्य-काल अंतर्मुहूर्त और उत्कृष्ट-काल कुछ कम अर्ध पुद्गल परावर्तन काल पर्यंत हो सकता है। इन दोनों के बीच के सभी समय मध्यम-काल कहलाते हैं।

इसप्रकार जीवों की विविध पात्रता के कारण इस गुणस्थान का काल अनादि-अनंत, अनादि-सांत और सादि-सांत है। यह सभी कथन परम्परा की अपेक्षा से है; वास्तव में तो मिथ्यात्व दशा जीव द्रव्य की एक पर्याय होने से उसका काल मात्र एक समय अर्थात् सादि-सांत ही है।

प्रश्न ११ : आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ करने पर यह जीव इस मिथ्यात्व गुण-स्थान से किस-किस गुणस्थान पर्यंत जा सकता है तथा पुरुषार्थ की विपरीतता में किस-किस गुणस्थान से यह जीव पुन: यहाँ आ सकता है? अर्थात् इस गुणस्थान का गुणस्थान की अपेक्षा गमनागमन बताइए।

उत्तर : प्रत्येक जीव अनादि से इस मिथ्यात्व गुणस्थान में तो है ही। पाँच लब्धि पूर्वक आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ करने पर यह सामान्य गृहस्थ या द्रव्य-लिंगी श्रावक-मुनिदशावाला जीव अपनी योग्यतानुसार यहाँ से सीधा चौथे अविरत सम्यक्त्व, पाँचवें देशविरत या सातवें अप्रमत्त-संयत गुण-स्थान को प्राप्त हो जाता है।

सादि मिथ्यादृष्टि जीव तीसरे सम्यग्मिथ्यात्वरूप मिश्र गुणस्थान को भी प्राप्त हो सकता है।

(किसी एक विवक्षित गुणस्थान से अन्य गुणस्थान में जाने की स्थिति को जिनागम में गमन या आरोहण-अवरोहण क्रम कहते हैं।)

आगमन की अपेक्षा औपशमिक या क्षायोपशमिक सम्यक्त्व-सम्पन्न छठवें प्रमत्तसंयत, पाँचवें देशविरत, चौथे अविरत सम्यक्त्व से इस पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में आ सकते हैं तथा तीसरे मिश्र गुणस्थानवर्ती भी यहाँ आ सकते हैं। दूसरे सासादन सम्यक्त्व गुणस्थान से तो एकमात्र यहाँ ही आते हैं।

(किसी अन्य गुणस्थान से किसी अन्य विवक्षित गुणस्थान में आने की स्थिति को जिनागम में आगमन कहते हैं।)

इन दोनों स्थितिओं को संदृष्टि द्वारा इसप्रकार समझ सकते हैं –

पहले मिथ्यात्व गुणस्थान का गमनागमन

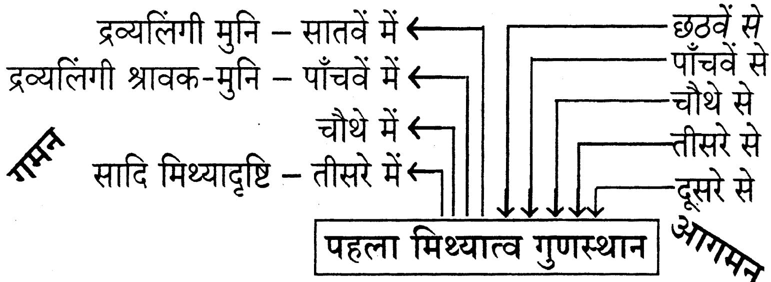

इसप्रकार परिणामों की विचित्र विविधता के कारण गमनागमन में विविधता हो जाती है।

प्रश्न १२ : दूसरे सासादन सम्यक्त्व गुणस्थान का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : आचार्यश्री नेमिचंद्र-सिद्धान्त-चक्रवर्ती इस गुणस्थान का स्वरूप स्पष्ट करते हुए गोम्मटसार जीवकाण्ड ग्रन्थ में लिखते हैं –

"**आदिमसम्मत्तद्धा, समयादो छावलि त्ति वा सेसे।**
अणअण्णदरुदयादो, णासियसम्मो त्ति सासणक्खो सो ।।१९।।
सम्मत्तरयणपव्वयसिहरादो मिच्छभूमिसमभिमुहो।
णासियसम्मत्तो सो, सासण णामो मुणेयव्वो ।।२०।।

प्रथमोपशम सम्यक्त्व या द्वितीयोपशम सम्यक्त्व के अंतर्मुहूर्त काल में से कम से कम एक समय और अधिक से अधिक छह आवली समय शेष रहते अनन्तानुबंधी संबंधी क्रोधादि चतुष्क में से किसी एक कषाय का उदय हो जाने से नष्ट हुआ सम्यक्त्व सासादन सम्यक्त्व कहलाता है।

सम्यक्त्वरूपी रत्न-पर्वत के शिखर से च्युत हो मिथ्यात्वरूपी भूमि के सम्मुख हुए, सम्यक्त्व को नष्ट करने वाले परिणाम सासन जानना चाहिए।"

इन गाथाओं में इस गुणस्थान का नाम सासन बताया गया है। सासन शब्द में स और असन – ये दो शब्द हैं। स=सहित, असन=गिरना अर्थात् औपशमिक सम्यक्त्व से गिरती हुई दशा सासन है। अन्यत्र इसका नाम सासादन प्रसिद्ध है। इसमें भी स और आसादन – ये दो शब्द हैं। स=सहित, आसादन=विराधना अर्थात् औपशमिक सम्यक्त्व की विराधनामय परिणाम सासादन गुणस्थान है। इन परिणामों से सहित जीव सासन या सासादन सम्यग्दृष्टि कहलाता है।

इसका सम्पूर्ण ज्ञान मिथ्याज्ञान और सभीप्रकार का चारित्र मिथ्या-चारित्र कहलाता है।

यहाँ यद्यपि सम्यक्त्व तो छूट गया है; तथापि अभी समय उसी सम्यक्त्व का होने से मिथ्यात्व का उदय यहाँ नहीं हुआ होने से तथा पहले सम्यक्त्व होने से मिथ्यात्व नहीं कहा जाता है; मात्र अनन्तानुबंधी कषाय चतुष्क में से किसी एक का उदय आ जाने से विपरीताभिनिवेश हो गया होने के कारण इसे सासादन सम्यक्त्व कहा जाता है, आचार्यों ने इस जीव को एकदेशजिन भी कहा है।

यह गुणस्थान चारों गतिओं में हो सकता है; परन्तु नरक गति की अपर्याप्तक दशा में यह नहीं होता है; क्योंकि इस गुणस्थान में मरण करनेवाला जीव नियम से नरक गति में नहीं जाता है। इसीप्रकार तीर्थंकर प्रकृति, आहारक शरीर और आहारक शरीर अंगोपांग कर्म-प्रकृतिओं की सत्तावाला जीव भी इस गुणस्थान में नहीं आता है।

इस गुणस्थान में दर्शनमोहनीय की उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम – इन चार दशाओं में से कोई भी दशा नहीं होने के कारण इस दर्शनमोहनीय कर्म की अपेक्षा इस गुणस्थान में पारिणामिक भाव कहा गया है।

स्वरूपाचरणमय चारित्र के एक भेद सम्यक्त्वाचरण चारित्र के घातक अनंतानुबंधी क्रोधादि चतुष्क में से किसी एक का उदय आ जाने पर एकमात्र औपशमिक सम्यक्त्व के काल में ही यह गुणस्थान बनता है। ये परिणाम मिथ्यात्वरूप, सम्यक्त्वरूप या उभयरूप नहीं होने के कारण इन सभी से पृथक् इन परिणामों को सासादन सम्यक्त्व कहा गया है।

अनंतानुबंधी के उदयरूप इन परिणामों से स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा और प्रचलाप्रचला – इन तीन दर्शनावरण; अनंतानुबंधी-क्रोध, मान, माया, लोभ और स्त्रीवेद – इन पाँच मोहनीय; तिर्यंच आयुष्करूप एक आयुष्क; दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय; न्यग्रोध-परिमंडल, स्वाति, कुब्जक, वामनरूप चार संस्थान; वज्रनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलितरूप चार संहनन; अप्रशस्त विहायोगति, तिर्यंचगति, तिर्यंच गत्यानुपूर्वी और उद्योत – इन पंद्रह नामकर्म तथा नीच गोत्ररूप एक गोत्रकर्म – इन पापमय २५ कर्म प्रकृतिओं का बंध होता है।

प्रश्न १३ : एकमात्र औपशमिक सम्यग्दृष्टि के ही अधोपतन के समय यह गुणस्थान क्यों बनता है ? अन्य के क्यों नहीं बनता है ?

उत्तर : यह गुणस्थान एकमात्र औपशमिक सम्यग्दृष्टि के ही अधोपतन के समय बनता है, अन्य के नहीं; इसके कुछ कारण इसप्रकार हैं –

१. क्षायिक सम्यग्दृष्टि के यह नहीं बनने का कारण यह है कि इसके उस अनंतानुबंधी कर्म-प्रकृति की सत्ता ही नहीं होने से उसका उदय आना सम्भव ही नहीं है। क्षायिक सम्यक्त्व कभी नष्ट नहीं होता है; अत: अधोपतन के समय बननेवाला यह गुणस्थान इसके कभी हो ही नहीं सकता है।

२. क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि के यह गुणस्थान नहीं बनने का कारण यह है कि यद्यपि इसके अभी अनंतानुबंधी कर्म-प्रकृति की सत्ता है; परन्तु उसका सदवस्थारूप अप्रशस्त उपशम होने के कारण, उस अनंतानुबंधी का इस क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के समय उदय आना सम्भव ही नहीं है; अत: इसके भी वह सासादन गुणस्थान नहीं होता है।

३. एकमात्र औपशमिक सम्यग्दृष्टि के ही यह गुणस्थान बनने का कारण यह है कि इसमें अनंतानुबंधी कर्म-प्रकृति का अंत:करणरूप उपशम होता है; अत: उसका उदय हो सकता है। इसमें भी विशेषता यह है कि औपशमिक सम्यक्त्व के अंतर्मुहूर्त समय में से मात्र कम से कम एक समय और इससे आगे मध्य के सभी समयों सहित अधिक से अधिक छह आवली समय शेष रहने पर ही इस अनंतानुबंधी का उदय आने पर सम्यक्त्व की विराधना होकर यह गुणस्थान बनता है। इससे अधिक समय शेष रहने पर अकेले अनंतानुबंधी का उदय नहीं आने से अधोपतन के समय भी यह गुणस्थान नहीं बनता है।

इसप्रकार एकमात्र औपशमिक सम्यक्त्व के समय ही यह स्थिति बन पाने के कारण उसे ही यहाँ बताया गया है; अन्य को नहीं।

औपशमिक सम्यक्त्व से भी सामान्यत: प्रथमोपशम सम्यक्त्व ही ग्रहण किया जाता है; परन्तु कषाय-प्राभृत चूर्णि-सूत्र के कर्ता आचार्य यतिवृषभदेव प्रथमोपशम और द्वितीयोपशम – दोनों ही सम्यक्त्वों को ग्रहण करते हैं।

प्रश्न १४ : श्रद्धा गुण की मुख्यता से जीव की सम्यक्त्व या मिथ्यात्वरूप दो ही दशाएँ हो सकती हैं; यह सासादन सम्यक्त्वरूप दशा बनना कैसे सम्भव है ?

उत्तर : श्रद्धा गुण की मुख्यता से जीव की सम्यक्त्व या मिथ्यात्वरूप दो ही दशाएँ हो सकती हैं – यह अत्यंत स्थूल कथन है। करणानुयोग में इस अपेक्षा जीव की चार दशाएँ बताई गई हैं – १. मिथ्यात्व, २. सासादन सम्यक्त्व, ३. सम्यग्मिथ्यात्व और ४. सम्यक्त्व। सम्यक्त्व रूप दशा को भी विविध अपेक्षाओं से अनेकरूपों में विभक्त किया है।

सासादन सम्यक्त्वरूप परिणाम को अन्य से पृथक् बताने के लिए आचार्यों ने अनेक-अनेक तर्क, युक्तिओं, आगम-प्रमाणों से विचार किया है; जिनका संक्षिप्त सार इसप्रकार है –

''विपरीत अभिनिवेश/असमीचीन रुचिरूप परिणाम को मिथ्यात्व कहते हैं और सम्यक् अभिनिवेश/समीचीन रुचिरूप परिणाम को सम्यक्त्व कहते हैं। इस सासादन गुणस्थान में असमीचीन रुचि होने के कारण यद्यपि यहाँ विपरीताभिनिवेश है; तथापि यहाँ दर्शनमोहनीय कर्म का उदय नहीं होने से तन्निमित्तक मिथ्यात्व परिणाम का अभाव है; अतः इसे मिथ्यात्व नहीं कह सकते हैं।

यद्यपि अनंतानुबंधी नामक चारित्रमोहनीय कर्म-प्रकृति के उदय में भी विपरीत अभिनिवेश होता है; परन्तु वह दर्शनमोहनीय निमित्तक विपरीत अभिनिवेश के समान नहीं है; वरन् उससे भिन्न है; अतः इन परिणामों को भिन्न नाम 'सासादन' दिया गया है।

सासादन के साथ 'सम्यक्त्व' कहने का कारण यह है कि एक तो इसका समय वास्तव में औपशमिक सम्यक्त्व का समय ही है; दूसरे यह पहले सम्यक्त्वी था; अतः भूतपूर्व नैगम नय से इसे सम्यग्दृष्टि कहना उचित है।

तीसरा कारण यह है कि यद्यपि अनंतानुबंधी प्रकृतिआँ द्विस्वभावी हैं। ये सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र – दोनों के घात में निमित्त होती हैं; तथापि ये मूलतया चारित्रमोहनीय की प्रकृतिआँ हैं। प्रारम्भिक चार गुणस्थानों का विभाजन दर्शनमोहनीय की मुख्यता से है। इस सासादन गुणस्थान में

दर्शनमोहनीय की उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम – इन चार दशाओं में से कोई भी दशा नहीं है; अतः इस सासादन के साथ 'सम्यक्त्व' शब्द का प्रयोग किया गया है; मिथ्यात्व शब्द का प्रयोग नहीं।''

इसप्रकार विपरीत अभिनिवेशरूप होने पर भी दर्शनमोहनीय निमित्तक मिथ्यात्वमय विपरीत अभिनिवेश से पृथक् होने के कारण ये परिणाम पृथक् गिने जाते हैं तथा मिथ्यात्व की अपेक्षा कुछ कम और सम्यग्मिथ्यात्व की अपेक्षा अधिक अशुद्धतामय होने से इन्हें उन दोनों के मध्य दूसरे स्थान पर रखा जाता है।

इसप्रकार सासादन सम्यक्त्व परिणामवाला एक पृथक् गुणस्थान है। इन परिणामों से सहित जीव सासादन सम्यग्दृष्टि कहलाता है। यह सदा अधोपतन दशा में ही होता है।

प्रश्न १५ : आचार्य नेमिचंद्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती ने '**सम्मत्तरयणपव्वय-सिहरादो**-सम्यक्त्वरूपी रत्न-पर्वत के शिखर से' इस वाक्य द्वारा सम्यक्त्व को रत्न-पर्वत का शिखर कहा है; इसका कारण क्या है ?

उत्तर : आचार्यदेव के द्वारा सम्यक्त्व को रत्न-पर्वत का शिखर कहने का कारण यह है कि जैसे लोक में रत्न-पर्वत स्वयं रत्नमय तो होता ही है, इसके साथ ही उसमें और भी अनेकानेक रत्न होते हैं; अतः अन्य रत्नों को प्राप्त करने का कारण भी होता है तथा पर्वत-शिखर स्वयं उच्च/उन्नत होने के कारण वहाँ पहुँचनेवाला स्वयमेव उच्च/उन्नत स्थान को प्राप्त कर लेता है; उसीप्रकार सम्यक्त्व ही नवलब्धि आदि सभी रत्नों/गुणों को प्राप्त करने का मूल आधार है तथा इसे प्राप्त करने वाला जीव नियम से सर्वोच्च स्थान सिद्ध पद को प्राप्त कर लेता है; अतः सम्यक्त्व को रत्न-पर्वत के शिखर की उपमा दी गई है।

प्रश्न १६ : इस सासादन गुणस्थान का काल स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : इस सासादन गुणस्थान का जघन्य-काल एक समय और उत्कृष्ट-काल छह आवली (असंख्य समयों की एक आवली) प्रमाण है। इन दोनों के बीच का सभी काल मध्यम-काल कहलाता है। जीवों के परिणामों की विविधता के कारण यह काल की विविधता हो जाती है। तात्पर्य यह है कि इस गुणस्थान का काल सादि-सांत है।

यह गुणस्थान तथा इससे आगे के सभी गुणस्थान अभव्य या अति दूरानुदूर भव्य जीव को कभी भी नहीं होते हैं तथा यह नियम से पहले गुण-स्थान से आगे बढ़ने के बाद अधोपतन के समय ही होता है; अत: इसका काल वास्तव में तो अनादि-अनन्त नहीं है; तथापि अनेक जीवों की मुख्यता से परम्परा की अपेक्षा उपचार से इसका काल अनादि-अनंत भी कहा जा सकता है।

प्रश्न १७ : इस सासादन गुणस्थान से जीव कहाँ/किस गुणस्थान में जा सकता है तथा इसमें कहाँ से आ सकता है ? अर्थात् इस गुणस्थान का गुणस्थान की अपेक्षा गमनागमन बताइए।

उत्तर : इस सासादन गुणस्थान से जीव एकमात्र पहले मिथ्यात्व गुण-स्थान में ही जाता है। भट्ट अकलंकदेव अपने ग्रन्थ तत्त्वार्थ राजवार्तिक में इसे इसप्रकार स्पष्ट करते हैं – "**स हि मिथ्यादर्शनोदयफलमापादयन् मिथ्यादर्शनमेव प्रवेशयति** – वह मिथ्यादर्शन के उदयरूप फल को प्राप्त करता हुआ मिथ्यादर्शन में ही प्रवेश करता है।"

आगमन की अपेक्षा एकमात्र औपशमिक सम्यग्दृष्टि प्रमत्तसंयत नामक छठवें गुणस्थान से, देशविरत नामक पाँचवें गुणस्थान से और अविरत सम्यक्त्व नामक चौथे गुणस्थान से इस गुणस्थान में आ सकता है। परिणामों की विविधता के कारण ऐसा भेद हो जाता है।

इन दोनों स्थितिओं को हम संदृष्टि द्वारा इसप्रकार समझ सकते हैं –

दूसरे सासादन सम्यक्त्व गुणस्थान का गमनागमन

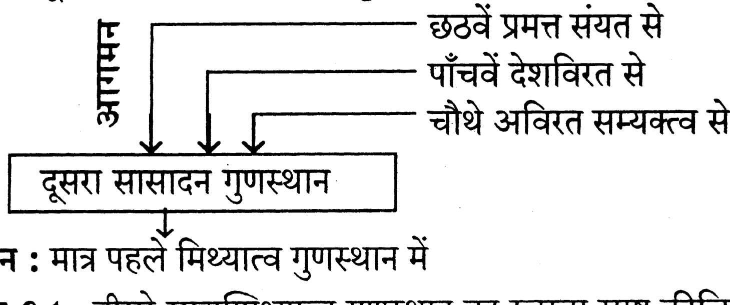

प्रश्न १८ : तीसरे सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : आचार्य नेमिचंद्र-सिद्धान्त-चक्रवर्ती अपने गोम्मटसार जीवकाण्ड नामक ग्रन्थ में इस गुणस्थान का स्वरूप इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''सम्मामिच्छुदयेण य, जत्तंतरसव्वघादिकज्जेण।
ण य सम्मं मिच्छं पि य, सम्मिस्सो होदि परिणामो ॥२१॥
दहिगुडमिव वा मिस्सं, पुहभावं णेव कारिदुं सक्कं।
एवं मिस्सय भावो, सम्मामिच्छोत्ति णादव्वो ॥२२॥

जात्यंतर सर्वघाति कार्य करनेवाले सम्यग्मिथ्यात्व के उदय से न तो इस जीव के सम्यक्त्वरूप परिणाम होते हैं और न ही मिथ्यात्वरूप परिणाम होते हैं; वरन् सम्मिश्र परिणाम होते हैं।

जैसे भली-भाँति मिलाए गए दही और गुड़ के मिश्रण को पृथक्-पृथक् करना सम्भव नहीं है; उसीप्रकार इस मिश्रभाव को पृथक्-पृथक् करना संभव नहीं है; अत: इसे सम्यग्मिथ्यात्व जानना चाहिए।''

ये भाव न तो पूर्णतया समीचीन श्रद्धा-सम्पन्न हैं और न ही पूर्णतया असमीचीन श्रद्धा-युक्त हैं। इसमें सच्चे देव-शास्त्र-गुरु और मिथ्या देव-शास्त्र-गुरु – दोनों की श्रद्धा एक साथ रहती है; जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्वों की सम्यक् और असम्यक् श्रद्धा – दोनों एक साथ चलती रहती हैं।

दर्शनमोहनीय कर्म की अपेक्षा इस गुणस्थान में क्षायोपशमिक भाव माना गया है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि के सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति की सत्ता मात्र भी नहीं होने से इसे छोड़कर शेष दो – औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टिओं को अधोपतन के काल में यह गुणस्थान प्राप्त हो सकता है। २८ प्रकृतिओं की सत्तावाला सादि मिथ्यादृष्टि जीव भी ऊर्ध्वगमन के काल में इस गुणस्थान को प्राप्त कर सकता है।

इस गुणस्थान में नवीन आयु का बंध नहीं होता है। इसमें मरण और मारणान्तिक समुद्घात भी नहीं होता है। कुछ आचार्यों का ऐसा मत है कि यदि पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में आयु बंध हुआ हो तो वहाँ जाकर ही मरण होता है और यदि पहले सम्यक्त्व दशा में आयु का बंध हुआ हो तो पुन: उसे प्राप्त कर ही मरण होता है।

इस गुणस्थान से सीधे देश-संयम या सकल-संयम के परिणामों की प्राप्ति नहीं होती है। तीर्थंकर प्रकृति की सत्तावाला जीव इस गुणस्थान में

नहीं आता है। यद्यपि ये मिश्र परिणाम स्वयं तो किन्हीं भी कर्म-प्रकृतिओं के बंध के लिए कारण नहीं हैं; तथापि इनके साथ विद्यमान अप्रत्याख्यानावरण आदि कषाय परिणामों से यहाँ भी बंध होता रहता है।

जात्यंतर सर्वघाति सम्यग्मिथ्यात्व निमित्तक इन जात्यंतर मिश्र परिणामों से सहित जीव तीसरे गुणस्थानवर्ती सम्यग्मिथ्यादृष्टि कहलाता है। इसका सम्पूर्ण व्यक्त ज्ञान और आचरण/चारित्र भी मिश्र ज्ञान तथा मिश्र आचरण कहलाता है। इसमें आया मिथ्यात्व शब्द अंत्यदीपक है; अतः इससे आगे किसी भी गुणस्थान में इस शब्द का प्रयोग नहीं है।

प्रश्न १९ : सम्यक् और मिथ्या – ये दोनों परिणाम परस्पर विरोधी परिणाम होने के कारण ये दोनों एक साथ नहीं रह सकते हैं; अतः सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान की सत्ता कैसे सम्भव है ?

उत्तर : ऐसा नहीं है। आत्मा अनंत-धर्मात्मक होने से तथा उन अनंत धर्मों में सहानवस्था-लक्षण विरोध (एक साथ नहीं रह पाने वाला विरोध) नहीं होने के कारण सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान की सत्ता सम्भव है। यद्यपि भव्यत्व-अभव्यत्व आदि के समान पूर्णतया परस्पर विरोधी धर्म एक साथ एक आत्मा में नहीं रहते हैं; तथापि कथंचित् विरोधी प्रतीत होनेवाले धर्म अपेक्षा-भेद से अविरोधी बनकर मित्रामित्र-न्याय से एक आत्मा में एक साथ रह लेते हैं।

इसप्रकार सम्यग्मिथ्यात्वरूप इस मिश्र गुणस्थान की सत्ता सिद्ध होती है। इसमें मिथ्यात्व के उदयवाले मिथ्यात्व परिणामों का अभाव होने से सम्यक् और पूर्ण सम्यक्त्व का अभाव होने से मिथ्यात्व – इसप्रकार एक साथ सम्यग्मिथ्यात्वरूप मिश्र परिणाम बन जाते हैं। इनसे सहित सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव मिश्र गुणस्थानवर्ती कहलाता है। यह गुणस्थान सैनी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव को चारों गति में हो सकता है; अपर्याप्तक और असैनी दशा में यह कभी भी नहीं होता है।

प्रश्न २० : ये मिश्र परिणाम तो विनय या संशय मिथ्यात्व जैसे लगते हैं। यदि ये उन रूप नहीं हैं तो इनमें परस्पर क्या अंतर है ?

उत्तर : ऊपर-ऊपर से देखने पर ये तीनों परिणाम एक समान लगते हैं; परन्तु गहराई से विचार करने पर ये तीनों पृथक्-पृथक् हैं। इन तीनों का पारस्परिक अन्तर इसप्रकार है –

विनय मिथ्यात्व	संशय मिथ्यात्व	मिश्र गुणस्थान
१. इसमें अनिर्णयात्मक स्थिति में सभी को समान माना जाता है।	इसमें मात्र पुण्य की इच्छा से अनिर्णयात्मक स्थिति में ही किसी को भी मान लिया जाता है।	इसमें सम्यग्मिथ्यात्व रूप निर्णयात्मक स्थिति है।
२. इसमें भव्य-अभव्य दोनों हो सकते हैं।	इसमें भी भव्य-अभव्य दोनों हो सकते हैं।	इसमें नियम से भव्य ही होते हैं।
३. यह गृहीत मिथ्यात्व है।	यह गृहीत मिथ्यात्व है।	यह मिश्र परिणाम है।
४. इसका संसार में रहने का काल कहा नहीं जा सकता है।	इसका भी संसार में रहने का काल कहा नहीं जा सकता है।	यह अधिक से अधिक कुछ कम अर्धपुद्गल परावर्तन काल तक ही संसार में रह सकता है
५. इसे सम्यक्त्व-प्राप्ति कुछ कठिन है।	इसे भी सम्यक्त्व-प्राप्ति कुछ कठिन है।	यह तो अति शीघ्र सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है।
६. इनमें रहने का काल अधिक हो सकता है।	इनमें रहने का काल अधिक हो सकता है।	इसमें रहने का काल मात्र एक अंतर्मुहूर्त है।
७. इसे अपने परोक्षज्ञान द्वारा सीधे भी जान सकते हैं।	इसे भी अपने परोक्षज्ञान द्वारा सीधे जान सकते हैं।	इसे अपने परोक्षज्ञान द्वारा सीधे नहीं जान सकते हैं; हम एकमात्र जिनवाणी के आधार से इस गुणस्थान को जान सकते हैं।
८. इससे मिथ्यात्व आदि सभी पाप प्रकृतिओं का	इससे भी मिथ्यात्व आदि सभी पाप प्रकृ-	इससे किसी विशिष्ट कर्म-प्रकृति का बंध

बंध होता है।	तिओं का बंध होता है।	नहीं होता है।
९. इसे पाप जीव कहा जाता है।	इसे भी पाप जीव कहा जाता है।	इसे एक देश जिन भी कहा ज़ाता है।
१०. यह मुख्यतया मनुष्य गति में होता है।	यह भी मुख्यतया मनुष्य गति में होता है।	यह चारों गति में हो सकता है।
११. यह अनादि मिथ्यादृष्टि को भी हो सकता है।	यह भी अनादि मिथ्यादृष्टि को हो सकता है।	यह अनादि मिथ्यादृष्टि को नहीं हो सकता है।
११. यह जैनेतर में भी होता है।	यह जैनेतर में भी होता है	यह द्रव्य जैन को ही होता है।

इत्यादि प्रकार से इन तीनों में पारस्परिक अंतर है; अत: हमें जिनवाणी के आधार से इस गुणस्थान का यथार्थ निर्णय करना चाहिए।

प्रश्न २१ : जबकि यह गुणस्थान सम्यग्मिथ्यात्व नामक सर्वघाति रूप दर्शनमोहनीय कर्म-प्रकृति के उदय की निमित्तता में होता है; तब फिर इसे औदयिक भावरूप क्यों नहीं कहा जाता है ? क्षायोपशमिक भावरूप क्यों कहा गया है ?

उत्तर : यह गुणस्थान किस भावरूप है – इस पर जिनवाणी में आचार्यों ने अनेकानेक तर्क-युक्तिओं से सर्वांगीण विचार किया है। उन्हें देखकर ही हम भी कुछ निर्णय कर सकेंगे। उन सभी का संक्षिप्त-सार इसप्रकार है –

(अ) औदयिक भाव नहीं कहने के कारण –

१. यद्यपि इस गुणस्थान के होने में सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का उदय निमित्त है और वह सर्वघातिरूप भी है; तथापि वह जात्यंतर सर्वघाति होने के कारण उसके उदय में वैसा मिथ्यात्व/विपरीताभिनिवेश नहीं होता है, जैसा मिथ्यात्व या अनंतानुबंधी कर्म-प्रकृति के उदय में होता है। उन दोनों के उदय में क्रमश: सम्यक्त्व पूर्णतया नष्ट हो जाता है या उसकी विराधना हो जाती है; परन्तु उस सम्यग्मिथ्यात्व के उदय में ये दोनों ही स्थितिआँ नहीं बनती हैं; वरन् दोनों का ही मिश्र भाव रहता है; अत: इसे औदयिक भावरूप नहीं कहा गया है।

२. मुख्यतया मोहनीय कर्म के उदय निमित्तक औदयिक भाव नवीन कर्म

-बंध के कारण होते हैं। इस गुणस्थान में मोहनीय कर्म की सम्यग्मिथ्यात्वरूप दर्शनमोहनीय कर्म-प्रकृति का उदय है; परन्तु उस निमित्तक भाव नवीन कर्मबंध का कारण नहीं है; अत: इस सम्यग्मिथ्यात्व रूप परिणाम को औदयिक भाव नहीं कहा गया है।

(ब) क्षायोपशमिक भाव कहने के कारण –

१. मिथ्यात्व, अनंतानुबंधी और सम्यक्त्व प्रकृति कर्म के वर्तमानकालीन सर्वघाति स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय, उन्हीं के आगामीकालीन उन्हीं स्पर्धकों का सदवस्थारूप उपशम और जात्यंतर सर्वघाति स्पर्धकमय सम्यग्मिथ्यात्व कर्म के उदय की निमित्तता में यह भाव होने से इसे क्षायोपशमिक भाव कहा है।

२. सम्यक्त्व कर्म-प्रकृति के देशघाति स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय और सदवस्थारूप उपशम होने तथा सम्यग्मिथ्यात्व का उदय होने से इन सभी की निमित्तता में होने वाले भाव को क्षायोपशमिक कहा है।

परन्तु ये दोनों अपेक्षाएँ तो बाल-जनों/प्रारम्भिक भूमिकावालों को समझाने के लिए बताई गई हैं; इन्हें सर्वथा स्वीकार नहीं करना चाहिए; कथंचित् ही स्वीकार करना चाहिए। इन्हें सर्वथा स्वीकार करने पर औपशमिक सम्यक्त्व से पतित होने वाले जीव के यह गुणस्थान नहीं बन सकेगा; क्योंकि उस स्थिति में मिथ्यात्वादि प्रकृतिओं का उदयाभावी क्षय आदि नहीं पाया जाता है।

दूसरी बात यह भी है कि इन अपेक्षाओं को सर्वथा स्वीकार कर लेने पर सादि मिथ्यात्व गुणस्थान में भी मिथ्यात्व का क्षायोपशमिक भाव मानना पड़ेगा; क्योंकि सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति के उदयाभावी क्षय, सदवस्थारूप उपशम के साथ मिथ्यात्व प्रकृति का उदय होने पर सादि मिथ्यात्व गुणस्थान होता है; परन्तु मिथ्यात्व गुणस्थान में दर्शनमोहनीय कर्म की अपेक्षा क्षायोपशमिक भाव स्वीकार नहीं किया गया है; अत: उपर्युक्त दोनों अपेक्षाएं बाल-जनों को समझाने के लिए बताई गईं समझना चाहिए – ऐसा स्पष्ट उल्लेख आचार्य श्री वीरसेन

स्वामी अपनी धवल-टीका में करते हैं।

३. क्षायोपशमिक भाव कहने की तीसरी अपेक्षा बताते हुए वे लिखते हैं कि वास्तव में जात्यंतर सर्वघातिरूप सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का उदय आप्त, आगम और पदार्थ संबंधी समीचीन श्रद्धा को पूर्णरूप से नष्ट करने में समर्थ नहीं है; वरन् इसके उदय में समीचीन और असमीचीन आप्त, आगम और पदार्थ को युगपत् विषय करनेवाली मिश्र श्रद्धा उत्पन्न होती है; अत: इसे क्षायोपशमिक/मिश्र भाव कहा है।

इसप्रकार इस सम्यग्मिथ्यात्व नामक तीसरे गुणस्थान में मुख्यतया दर्शनमोहनीय कर्म की अपेक्षा क्षायोपशमिक भाव माना गया है; इसे ही कथंचित् औदयिक भाव भी कहा जा सकता है।

प्रश्न २२ : सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के जात्यंतर पने को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति जात्यंतर सर्वघाति प्रकृति है। जात्यंतर शब्द में जाति और अंतर – ये दो शब्द हैं। जाति=अपने ही समान स्वभाववाली; अंतर=पृथक्, भिन्न। यह प्रकृति अपने ही समान स्वभाववाली अन्य प्रकृ -तिओं से पृथक् प्रकार की है; अत: यह जात्यंतर कहलाती है।

ज्ञानावरण आदि ८ मूल कर्म प्रकृतिओं में से सर्वघाति-देशघाति का भेद एकमात्र ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय – इन चार घाति कर्मों की ४७ उत्तर प्रकृतिओं में ही होता है। इनमें से २१ प्रकृतिआँ सर्वघाति और २६ प्रकृतिआँ देशघाति हैं। जिनमें क्षयोपशम की स्थिति बनती है अर्थात् लता, दारु (देवदारु), अस्थि और शैल खंड के समान कार्य करने की शक्ति होती है; वे देशघाति कहलाती हैं तथा जिनमें लता के समान कार्य करने की शक्ति नहीं होती है; वे सर्वघाति कहलाती हैं।

इस सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति में लता के समान कार्य करने की शक्ति नहीं होने से यह सर्वघाति प्रकृति है; तथापि केवलज्ञानावरण आदि अन्य २० सर्वघाति प्रकृतिओं से यह पृथक् प्रकार की होने के कारण जात्यंतर सर्वघाति कहलाती है। इसकी उनसे पृथक्ता इसप्रकार है –

१. इस प्रकृति का बंध नहीं होता है। प्रथमोपशम सम्यक्त्व की निमित्तता में दर्शनमोहनीय का तीन भागों में विभाजन होने पर इसका सत्त्व होता

है। तत्पश्चात् मात्र तीसरे गुणस्थान में इसका उदय रहता है।

२. इसमें मात्र देवदारु की लकड़ी के समान शक्तिवाले, अनंत बहुभाग के अनंतवें भाग प्रमाण सर्वघाति स्पर्धक ही हैं; अन्य स्पर्धक नहीं होते हैं।

३. मिथ्यात्व आदि अन्य सर्वघाति प्रकृतिओं के समान यह सम्यक्त्व का पूर्णतया घात या विराधना करने में समर्थ नहीं है।

४. इसके उदय में श्रद्धा गुण की मुख्यता से जीव की सम्यक्त्व-मिथ्यात्वरूप जात्यंतर मिश्र दशा होती है।

५. ये मिश्रभाव किसी भी नवीन कर्मबंध के लिए कारण नहीं हैं।

इत्यादि अनेक रूपों में यह सर्वघाति प्रकृति अन्य सर्वघाति प्रकृतिओं से पृथक् होने के कारण जात्यंतर सर्वघाति कहलाती है।

प्रश्न २२ : इस सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान का काल कितना है ?

उत्तर : सम्यग्मिथ्यात्व नामक इस तीसरे गुणस्थान का काल सामान्य से अन्तर्मुहूर्त है। उसमें भी जघन्य-काल सर्व लघु अंतर्मुहूर्त अर्थात् एक समय अधिक एक आवली प्रमाण है, उत्कृष्ट-काल सर्वोत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त अर्थात् दो समय कम ४८ मिनिट प्रमाण है; उन दोनों के मध्यवर्ती सभी समय मध्यम-काल जानना चाहिए। अंतर्बाह्य कारणों की विविधता से यह विविधता हो जाती है।

प्रश्न २४ : इस सम्यग्मिथ्यात्व नामक तीसरे गुणस्थान से जीव कहाँ/किस गुणस्थान में जा सकता है और कहाँ से यहाँ आ सकता है? अर्थात् गुणस्थान की अपेक्षा इसका गमनागमन बताइए।

उत्तर : इस सम्यग्मिथ्यात्व नामक तीसरे गुणस्थान से जीव आरोहण करने पर चौथे अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान में और अवरोहण करने पर पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में जा सकता है। यहाँ आने के लिए चार मार्ग हैं – औपशमिक या क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि छठवें प्रमत्तसंयत, पाँचवें देश-विरत और चौथे अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान से इसमें आ सकते हैं तथा २८ प्रकृतिओं की सत्तावाला सादि मिथ्यादृष्टि पहले मिथ्यात्व गुणस्थान से भी इसमें आ सकता है।

इसे संदृष्टि द्वारा इसप्रकार समझ सकते हैं –

तीसरे सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान का गमनागमन

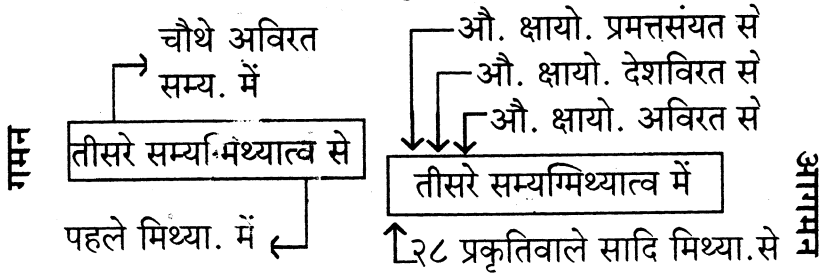

भावों की विविधता से यह अनेक प्रकार का गमनागमन बन जाता है।

प्रश्न २५ : चौथे अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : इस अविरत सम्यक्त्व नामक चौथे गुणस्थान का स्वरूप स्पष्ट करते हुए अपने गोम्मटसार जीवकाण्ड नामक ग्रन्थ में आचार्य श्री नेमिचंद्र-सिद्धान्त-चक्रवर्ती लिखते हैं –

"णो इंदियेसु विरदो, णो जीवे थावरे तसे वापि।
जो सद्दहदि जिणुत्तं, सम्माइट्ठी अविरदो सो ।।२९।।

इन्द्रियों के विषयों और स्थावर तथा त्रस जीवों की हिंसा से विरक्त नहीं होने पर भी जो जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहे गए तत्त्व आदि का श्रद्धान करता है; वह अविरत सम्यग्दृष्टि है।"

अप्रत्याख्यानावरणरूप चारित्रमोहनीय संबंधी सर्वघाति स्पर्धकों के उदय की निमित्तता में होनेवाली हिंसादि और इंद्रियविषयों में जीव की प्रवृत्ति को अविरति/असंयम कहते हैं। वह प्राणी-असंयम और इंद्रिय-असंयम के भेद से मूल में दो प्रकार की है। पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक – ये पाँच प्रकार के एकेंद्रिय जीव पाँच स्थावरकायिक कहलाते हैं। दो इंद्रिय से लेकर सैनी पंचेंद्रिय पर्यंत के सभी संसारी जीव त्रसकायिक कहलाते हैं। इन स्थावर-त्रस जीवों की हिंसा का प्रतिज्ञा पूर्वक त्याग नहीं होना, प्राणी असंयम है।

मुख्यतया स्पर्शन इंद्रिय के हल्का, भारी, रूखा, चिकना, ठंडा, गर्म, कोमल और कठोर – इन आठ विषयों में; रसना इंद्रिय के खट्टा, मीठा,

कड़वा, कषायला और चरपरा – इन पाँच विषयों में; घ्राण इंद्रिय के सुगंध और दुर्गंध – इन दो विषयों में; चक्षु इंद्रिय के काला, पीला, नीला, लाल और सफेद – इन पाँच विषयों में; कर्णेंद्रिय के षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद – इन सात स्वररूप विषयों में और मन के विकल्परूप विषय में – इन २८ विषयों में प्रवृत्ति, इंद्रिय असंयम है।

इन छह प्रकार के प्राणी-असंयम और छह प्रकार के इंद्रिय-असंयम – इसप्रकार बारह प्रकार के असंयम से विरक्त/प्रतिज्ञा पूर्वक त्याग करने वाला नहीं होने से यह अविरत/असंयत कहलाता है।

अविरत होने पर भी वीतरागी सर्वज्ञ भगवान द्वारा बताए गए पदार्थों का श्रद्धानी, समीचीन दृष्टिवाला, हेयोपादेय ज्ञान-सम्पन्न, स्वात्मदर्शी, आत्मानुभव-सम्पन्न होने से सम्यग्दृष्टि कहलाता है।

आत्मिक अतीन्द्रिय आनंद-रस का आस्वादी यह आत्मानंद को ही परम सुख मानने आदि समीचीन श्रद्धा के कारण सम्यग्दृष्टि है; तथापि अपने पुरुषार्थ की हीनतावश अप्रत्याख्यानावरण कषायोदय की निमित्तता में हिंसादि और इन्द्रियविषयादि का त्याग नहीं कर पाने से अविरत है।

अप्रत्याख्यानावरण शब्द अ, प्रत्याख्यान और आवरण – इन तीन शब्दों से मिलकर बना है। अ=नहीं अथवा ईषत्/थोड़ा, प्रत्याख्यान= त्याग, आवरण=आच्छादन/ढ़कना अर्थात् थोड़े से भी त्याग/देश संयम को भी ढ़कने वाली कषाय अप्रत्याख्यानावरण है। जिसकी विद्यमानता में सकल-संयम तो दूर ही रहो; देश-संयम भी नहीं हो पाता है, वह अप्र-त्याख्यानावरण कषाय है। इससे सहित सम्यग्दृष्टि अविरत/असंयत सम्य-ग्दृष्टि कहलाता है।

यह अविरत सम्यक्त्वमय परिणाम जघन्य अंतरात्मा है। यह सम्यक्त्व मय परिणाम धर्मरूप है; संवर-निर्जरामय मोक्षमार्ग-सम्पन्न, भूमिकानुसार अतींद्रिय आनंदमय और अव्याबाध सुख का कारण है। विपरीत दृष्टि का अभाव हो जाने से यद्यपि यह दशा दृष्टिमुक्त कहलाती है; तथापि विशेष

स्वरूप-स्थिरता नहीं होने से संयम का अभाव होने के कारण यह अविरत दशा है। युगपत् इन अविरत और सम्यक्त्व – दोनों परिणामों से सहित जीव अविरत सम्यग्दृष्टि कहलाता है।

इसका सम्पूर्ण व्यक्त ज्ञान सम्यग्ज्ञान और चारित्र स्वरूपाचरण चारित्र का प्रारम्भिक रूप सम्यक्त्वाचरण चारित्र कहलाता है। यह सैनी पंचेन्द्रिय की यथायोग्य सभी दशाओं में रह सकता है।

सम्यक्त्व की अपेक्षा इस गुणस्थान में औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्व में से एक जीव के कोई एक सम्यक्त्व रहता है।

द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ गाथा १३ की टीका में ब्रम्हदेव सूरी ने इस चतुर्थ गुणस्थान का लक्षण बहुत मार्मिक पद्धति से स्पष्ट किया है; उसका सार इस प्रकार है – ''अपना परमात्म-द्रव्य ही उपादेय है, इंद्रिय-सुख आदि परद्रव्य हेय हैं – इसप्रकार सर्वज्ञ-प्रणीत निश्चय-व्यवहार नयात्मक साध्य-साधक भाव को जो स्वीकार करता है; तथापि भूमि-रेखा आदि के समान क्रोध आदि दूसरी अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से, कोतवाल द्वारा मारने के लिए पकड़े गए चोर के समान आत्मनिंदा आदि सहित होता हुआ इंद्रिय-सुख का अनुभव करता है; वह चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि है।''

अर्थात् आत्म-सुख को उपादेय मानने वाला यह विषय-सुख को हेय मानता होने पर भी उनसे विरत नहीं होने से अविरत सम्यग्दृष्टि है। इस अविरतपने में कारण अप्रत्याख्यानावरण कषाय है।

इस अप्रत्याख्यानावरण कषाय की निमित्तता में होनेवाले अविरत भाव से अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभरूप मोहनीय की चार; मनुष्य रूप आयुष्क की एक; बज्रवृषभनाराच संहनन, औदारिक शरीर, औदारिक शरीर अंगोपांग, मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वीरूप नामकर्म की पाँच – इसप्रकार कुल दश प्रकृतिओं का बंध होता है। यहाँ यह अविरत शब्द अंत्यदीपक है अर्थात् यहाँ पर्यंत सभी दशाएँ अविरत ही हैं।

प्रश्न २६ : कर्म की अपेक्षा अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान के भेद बताते हुए, उनमें पारस्परिक अंतर भी बताइए।

उत्तर : वास्तव में अविरत सम्यक्त्व के कोई भेद नहीं हैं; अविरत सम्यक्त्व तो सर्वत्र एक सा ही है। इसमें विद्यमान सम्यक्त्व के कर्म की अपेक्षा तीन भेद होते हैं। जिन्हें आचार्यश्री नेमिचंद्र-सिद्धान्त-चक्रवर्ती अपनी कृति गोम्मटसार जीवकाण्ड में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"सम्मत्तदेसघादिस्सुदयादो वेदगं हवे सम्मं।
चलमलिनमगाढं तं, णिच्चं कम्मक्खवणहेदु ॥२५॥
सत्तण्हं उवसमदो, उवसमसम्मो खया दु खइयो य।
विदियकसायुदयादो, असंजदो होदि सम्मो य ॥२६॥

सम्यक्त्व नामक देशघाति का उदय होने से अर्थात् मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी क्रोधादि चतुष्क के वर्तमान-कालीन सर्वघाति स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय; उन्हीं के आगामी-कालीन उन्हीं स्पर्धकों का सदवस्थारूप उपशम और सम्यक्त्व-प्रकृति नामक देशघाति स्पर्धकों के उदय के काल में श्रद्धा गुण की मुख्यता से आत्मा के जो परिणाम होते हैं, वे वेदक या क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहलाते हैं। वे परिणाम चल, मलिन और अगाढ़ दोष युक्त होने पर भी सदा कर्म-क्षपण/कर्मों की निर्जरा के कारण होते हैं।

(पूर्वोक्त) सात प्रकृतिओं के उपशम से औपशमिक सम्यक्त्व और क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व होता है; परन्तु अप्रत्याख्यानावरण नामक दूसरी कषाय का उदय होने से इसमें असंयम होता रहता है।"

इसप्रकार कर्म-सापेक्ष सम्यक्त्व की अपेक्षा इस गुणस्थान के तीन भेद हैं – १. अविरत औपशमिक सम्यक्त्व, २. अविरत क्षायोपशमिक सम्यक्त्व और ३. अविरत क्षायिक सम्यक्त्व। ये तीनों ही सम्यक्त्व ४१ कर्म -प्रकृतिओं के निरोध में कारण हैं अर्थात् इनसे मिथ्यात्व आदि ४१ कर्म-प्रकृतिओं का बंध नहीं होता है; उनकी संवर-निर्जरा सतत विद्यमान रहती है। यद्यपि इन तीनों में से किसी से भी सहित जीव इस चतुर्थ गुणस्थान में अविरत सम्यक्त्वी ही कहलाता है; तथापि इन तीनों सम्यक्त्वों में पारस्परिक कुछ अंतर भी है; जो इसप्रकार है –

प्रथमोपशम/औपशमिक सम्यक्त्व	क्षायोपशमिक सम्यक्त्व	क्षायिक सम्यक्त्व
१. यह सबसे पहले होता है।	यह औपशमिक के बाद होता है।	यह क्षायोपशमिक के बाद होता है।
२. इसमें एक बार ही त्रिकरण परिणाम होते हैं।	इसके लिए त्रिकरण आवश्यक नहीं हैं।	इसमें दो बार त्रिकरण परिणाम होते हैं।
३. इसमें सम्यक्त्व विरोधी सभी की सत्ता है।	इसमें भी सातों प्रकृतिओं की सत्ता रहती है।	इसमें सातों की ही सत्ता नहीं होती है।
४. इसमें सातों में से किसी का भी उदय नहीं है।	इसमें सम्यक्त्व प्रकृति का उदय रहता है।	इसमें उदय की संभावना ही नहीं है।
५. यह गिरकर तीसरे, दूसरे या पहले गुणस्थान में भी आ सकता है।	यह गिरकर तीसरे या पहले गुणस्थान में ही आ सकता है। दूसरे में नहीं।	यह अप्रतिपाती होने से गिरता ही नहीं है।
६. इसका उत्कृष्ट काल अंतर्मुहूर्त है।	इसका उत्कृष्ट काल 66 सागर है।	इसका उत्कृष्ट काल अनंत है।
७. इसमें सम्यक्त्वोत्पत्ति के समय गुणश्रेणी निर्जरा होती है।	इसमें वह नहीं होती है।	इसमें वह सतत होती रहती है।
८. यह पूर्ण निर्दोष है।	यह चल, मलिन, अगाढ़ दोषों से युक्त है।	यह पूर्ण निर्दोष है।
९. एक बार होकर छूट जाने पर पुनः असंख्यात वर्ष बाद हो सकता है।	यह पल्य के असंख्यातवें भाग बार छूट-छूट कर पुनः हो सकता है।	यह कभी भी नहीं छूटता है।

इत्यादि प्रकार से इन तीनों सम्यक्त्वों में पारस्परिक अंतर है।

प्रश्न २७ : सम्यग्दृष्टि को जानने-पहिचानने के चिन्ह बताइए।

उत्तर : 'यद्यपि सम्यक्त्व मात्र की अपेक्षा छद्मस्थ का सम्यक्त्व सिद्धों के सम्यक्त्व के समान ही अत्यन्त स्पष्टरूप में व्यक्त होता है; तथापि अमूर्तिक आत्मा का अमूर्तिक परिणमन होने से दर्शनमोह के उपशमादि विशिष्ट आत्म-स्वरूपमय तत्त्वार्थ-श्रद्धान का स्वसंवेदन से निश्चय कर पाना ही जब असम्भव है; तब फिर अन्य परोक्ष-ज्ञानिओं द्वारा उसे जानना-पहिचानना कैसे सम्भव हो सकता है ?' ऐसा श्लोकवार्तिक, पंचाध्यायी आदि ग्रन्थों में बताया गया है; तथापि उसके अभिव्यंजक, ज्ञापक कुछ चिन्ह-विशेषों द्वारा वह स्व-पर के ज्ञान-गोचर हो जाता है।

वे कुछ चिन्ह इसप्रकार हैं –

१. कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कार्तिकेयस्वामी सम्यक्त्व को पहिचानने के चिंह बताते हुए गाथा ३१५ में जो लिखते हैं, उसका हिंदीसार इसप्रकार है–

"उत्तम गुणों को ग्रहण करने में तत्पर, उत्तम साधुओं की विनय से सहित जो साधर्मी जनों से अनुराग करता है; वह उत्कृष्ट सम्यग्दृष्टि है।"

२. श्लोकवार्तिककार विद्यानंदस्वामी के अनुसार प्रशम आदि सम्यग्दर्शन के कार्य या फल होने से, उनसे सम्यक्त्व की पहिचान हो सकती है। कषायों की मंदतारूप प्रशम, संसार-शरीर-भोगों से उदास हो धर्म में अति उत्साहरूप संवेग, प्राणिमात्र के प्रति दयारूप अनुकम्पा और जिनेन्द्र कथित सभी पदार्थों की सत्ता आदि के प्रति पूर्ण निश्शंक श्रद्धा आदि रूप आस्तिक्य – इन चार गुणों से अपने और दूसरों के सम्यक्त्व को जानना-पहिचानना सम्भव है।

३. महापुराण में आचार्य जिनसेन 'संवेग, प्रशम, स्थिरता, अमूढ़ता, गर्व नहीं करना, आस्तिक्य और अनुकम्पा' – इन सात भावनाओं से सम्यक्त्व को पहिचानने का उल्लेख करते हैं।

४. मूलाराधना में आचार्य शिवार्य नि:शंकित, नि:कांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना – इन आठ अंगों/गुणों से उसे पहिचानने का प्रतिपादन करते हैं।

५. चारित्रसार ग्रन्थ के अनुसार संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, अनुकम्पा और वात्सल्य – इन आठ गुणों द्वारा सम्यक्त्व को जाना जा सकता है।

६. ज्ञानार्णव ग्रन्थ में उद्धृत श्लोक अथवा छहढाला आदि ग्रन्थों के अनुसार तीन मूढ़ता, छह अनायतन, आठ मद और शंका आदि आठ दोष – इन पच्चीस दोषों से रहित देव, शास्त्र, गुरु, तत्त्व के सम्यक् श्रद्धान आदि से सम्यग्दर्शन की पहिचान हो जाती है।

निष्कर्ष यह है कि अविरत सम्यग्दृष्टि के संयमभाव नहीं है; तथापि आत्मोन्मुखी वृत्ति सदैव विद्यमान रहने से पंचेंद्रिय विषयभोगों में प्रवृत्ति होने पर भी उनमें उसकी रुचि/स्व-बुद्धि/सुख-बुद्धि नहीं होती है; अत: निंदा-गर्हा पूर्वक ही उनमें उसकी प्रवृत्ति होती है। यह सतत विद्यमान उपेक्षा भाव उसके सम्यक्त्व का सूचक है।

द्रव्यसंग्रह गाथा ४५ की टीका में ब्रम्हदेव सूरी ने इसे भली-भाँति स्पष्ट किया है; जिसका हिंदी-सार इसप्रकार है –

"शुद्धात्म-भावना से उत्पन्न निर्विकार यथार्थ सुखरूपी अमृत को उपादेय कर; संसार, शरीर और भोगों में हेयबुद्धि से सहित वह सम्यग्दर्शन से शुद्ध, चतुर्थ गुणस्थानवर्ती व्रतरहित दर्शनिक कहलाता है।"

पंचाध्यायीकार पाण्डे राजमलजी ने पंचाध्यायी द्वितीय अध्याय में इस विषय को जिसप्रकार स्पष्ट किया है; उसकी हिन्दी इसप्रकार है –

"सम्यग्दृष्टि को सभी प्रकार के भोगों में प्रत्यक्ष रोग के समान अरुचि होती है; क्योंकि विषयों में अवश्यमेव अरुचि का बना रहना, उस सम्यक्त्वरूप अवस्था का स्वत:-सिद्ध स्वभाव है॥२६१॥

इसप्रकार तत्त्वों को जानने वाला यह स्वात्मदर्शी सम्यग्दृष्टि जीव इंद्रिय-जन्य सुख और ज्ञान में राग-द्वेष का परित्याग करे॥३७१॥"

"**सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञान-वैराग्य-शक्ति:**– सम्यग्दृष्टि के ज्ञान और वैराग्य की शक्ति नियत/निश्चित ही होती है – समयसार कलश १३६ प्रथम चरण" इसके माध्यम से आचार्य अमृतचंद्रदेव ने अत्यंत संक्षेप में सम्यग्दर्शन को पहिचानने के चिन्ह बता दिए हैं।

स्थूलरूप में अविरत सम्यग्दृष्टि को जानने-पहिचानने की पद्धति छहढाला आदि शास्त्रों में "**गेही पै गृह में न रचे.....**" इत्यादि रूपों में उपलब्ध है; अत: हमें अपनी भूमिका का ज्ञान अवश्य ही करना चाहिए; क्योंकि उसके बिना आगे पुरुषार्थ करना सम्भव नहीं है। हाँ ! दूसरों को पहिचानने के प्रपंच में नहीं उलझना चाहिए; क्योंकि उससे समय, शक्ति, उपयोगादि के व्यर्थ विनाश के अतिरिक्त और कुछ भी लाभ नहीं मिलता है; अत: इस प्रसंग में सदा अनेकांत-स्याद्वाद की शरण ही ग्रहणीय है।

प्रश्न २८ : भव-रोग-नाशक इस सम्यक्त्व को प्रगट करने के लिए हमें बुद्धि पूर्वक क्या पुरुषार्थ करना चाहिए ?

उत्तर : सैनी पंचेंद्रिय, पर्याप्तक, जागरुक, साकार उपयोगवान चारों गति के जीवों को यह सम्यक्त्व सदा क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण – इन पाँच लब्धि पूर्वक ही होता है; अत: बुद्धिपूर्वक इन्हें प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

जब इस जीव का संसार में रहने का काल अधिक से अधिक अर्ध पुद्-गल परावर्तन मात्र ही शेष रहता है; तब ही ये पाँचों लब्धिआँ होती हैं; इससे अधिक काल शेष होने पर कभी भी ये पाँचों लब्धिआँ नहीं होती हैं। लब्धि अर्थात् विशिष्ट योग्यता/पात्रता की प्राप्ति। इनका संक्षिप्त स्व-रूप इसप्रकार है –

१. क्षयोपशम लब्धि : आयु कर्म के सिवाय शेष ज्ञानावरणादि समस्त अप्रशस्त कर्म-प्रकृतिओं का अनुभाग अर्थात् फल देने की शक्ति प्रति समय अनंत गुणी-अनंत गुणी घटती हुई अनुक्रमरूप होकर उदय में आने लगना, क्षयोपशम लब्धि है अर्थात् अपने अशुभभावों में उत्तरोत्तर कमी होते जाना, भव्यता के परिपाक का काल निकट आ जाना क्षयोपशम लब्धि है। नियमसार ग्रन्थ की तात्पर्य वृत्ति टीका में मुनि पद्मप्रभ मल-धारिदेव ने इसे 'काललब्धि' नाम से सम्बोधित किया है।

२. विशुद्धि लब्धि : क्षयोपशम लब्धिवान जीव के सातावेदनीय आदि प्रशस्त प्रकृतिओं के बंध के कारणभूत धर्मानुरागरूप शुभ परिणाम होने लगना, विशुद्धि लब्धि है। क्षयोपशम लब्धि के परिणामस्वरूप जीव के

मिथ्यात्व और कषायरूप परिणाम प्रतिसमय मंद-मंद होते जाने से उसके भावों में सहज ही धर्मानुराग-प्रवर्तन प्रारम्भ हो जाता है; विषय-वासना मंद हो जाने से वह विषय-कषाय-पोषक कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र की सेवा-भक्ति आदि रूप गृहीत मिथ्यात्व से हट जाता है; सदाचारयुक्त नैतिक जीवन हो जाने से अब उसके भोजन-पान आदि में अनंत स्थावरकायिक जीवों की हिंसामय आलू, प्याज आदि बहुघात युक्त पदार्थ; त्रसजीवों की हिंसामय द्विदल, चलित रस, अमर्यादित भोज्य-सामग्री आदि त्रस-घात युक्त पदार्थ; चाय, कॉफी, शराब आदि नशाकारक पदार्थ; जूँठा भोजन आदि अनुपसेव्य पदार्थ; शरीर के लिए हानिकारक अनिष्ट-कारक पदार्थ आदि पाँच प्रकार के अथवा इन्हीं के विस्ताररूप २२ प्रकार के अभक्ष्य पदार्थ नहीं होते हैं। वह अभक्ष्य का पूर्णतया त्याग कर देता है।

जिन कार्यों के करने पर पुलिस द्वारा पकड़े जाते हैं, सरकार दण्डित करती है, जेल में रहना पड़ता है – ऐसा कोई भी काला-बाजारी आदि अन्यायमय कार्य वह नहीं करता है। इसीप्रकार समाज में निंदनीय, लोक-नीति से विरुद्ध कार्य, वृद्ध माता-पिता की सेवा आदि नहीं करना आदि अनीतिमय कोई भी कार्य उसके जीवन में नहीं होते हैं।

इसप्रकार गृहीत मिथ्यात्व, अभक्ष्य-सेवन, अन्याय, अनीति, व्यस-नाधीनता आदि के त्यागमय धर्मानुरागरूप प्रवृत्ति होना, प्रत्येक परिस्थिति में मर-पच कर भी तत्त्व समझने की तत्परता हो जाना, विशुद्धि लब्धि है। इसे नियमसार टीका में 'उपशम लब्धि' और सागारधर्मामृत ग्रन्थ में 'शुद्धि लब्धि' कहा गया है।

३. *देशना लब्धि :* ज्ञानी गुरु द्वारा दिया गया छह द्रव्य, सात तत्त्व, नौ पदार्थ, मोक्षमार्ग, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का स्वरूप, स्व-पर का विवेक, हितकारी-अहितकारी भावों का सदुपदेश, देशना है तथा उन उपदेशित पदार्थों का अपने प्रगट ज्ञान में धारण होना, देशना लब्धि है। श्रवण, ग्रहण, धारण – ये सभी इसी के अंग हैं।

सम्यक्त्व सन्मुख मिथ्यादृष्टि के प्रकरण में पंडित टोडरमलजी देशना-लब्धि को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं –

“.....सच्चा उपदेश सुनकर, सावधान हो यह जीव विचार करता है कि ‘अहो ! मुझे तो इन बातों की खबर ही नहीं थी; मैं तो भ्रम से भूलकर प्राप्त पर्याय में ही तन्मय हुआ था; परन्तु इस पर्याय की तो थोड़े ही काल की स्थिति है तथा यहाँ मुझे सर्व निमित्त मिले हैं; अत: मुझे इन बातों को बराबर समझना चाहिए; क्योंकि इनमें तो मेरा ही प्रयोजन भासित होता है’ – ऐसा विचार कर जो उपदेश सुना उसके निर्धार/निर्णय करने का उद्यम किया।”

निर्धारण करने के तीन अंग हैं – १. उद्देश – उनके नाम सीखना, २. लक्षण निर्देश – उनके लक्षणों को जानना और ३. विचार सहित परीक्षा करना अर्थात् ये तत्त्व आदि ‘ऐसे ही हैं या नहीं’ – इस बात पर विचार करना। जिनेन्द्र देव ने तत्त्वादि का स्वरूप जैसा कहा है, उसीप्रकार जब तक निर्णय नहीं हो जाए, तब तक इसीप्रकार अपने विवेक से विचार करे। सन्देह होने पर अन्य साधर्मिओं, विद्वानों, अपने गुरु आदि से पूछे।

उनके द्वारा बताए गए तत्त्व आदि पर पुनर्विचार करे – ऐसा तब तक करता रहे जब तक कि जिनवाणी के कहे अनुसार अपना निर्णय नहीं हो जाए। यह तत्त्व-निर्णय की समग्र प्रक्रिया, देशना लब्धि कहलाती है।

४. प्रायोग्य लब्धि : सतत तत्त्व-विचार और तत्त्व-निर्णय में बारम्बार उपयोग लगाने से प्रगट हुई प्रकृष्ट योग्यता, प्रायोग्य लब्धि है। तत्त्वनिर्णय में बारम्बार उपयोग लगने से प्रतिसमय परिणामों की विशुद्धि बढ़ती जाने के कारण उसका निमित्त पाकर आयुकर्म के बिना शेष सात कर्मों की स्थिति घटकर अंत:कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण रह जाती है; इसे स्थिति कांडकघात कहते हैं। अप्रशस्त कर्मों का अनुभाग घटकर घाति कर्मों में लता और दारु/देवदारु के समान तथा अघाति कर्मों में नीम और काँजीर के समान रह जाता है; इसे अनुभाग कांडक घात कहते हैं। इस स्थिति में नवीन बंध भी उत्तरोत्तर कम-कम स्थिति वाला होता है; उसे स्थिति बंधापसरण कहते हैं। अनेकानेक स्थिति बंधापसरण के बाद कुछ-कुछ कर्म प्रकृतिओं का बँधना रुकता जाता है; इसे प्रकृति बंधापसरण कहते हैं। ये कुल ३४ होते हैं तथा इनमें ४६ प्रकृतिओं का बंध रुक जाता है।

कर्म बंध आदि में यह समग्र परिवर्तन अपने परिणामों की निमित्तता में अपने आप होता है; अत: बुद्धिपूर्वक अपना कार्य तो एकमात्र तत्त्व-निर्णय में ही बारम्बार उपयोग को स्थिर करना है।

सागार धर्मामृत में इस प्रायोग्य लब्धि को 'कर्म-हानि' नाम से बताया गया है।

५. करण लब्धि : अंतर्मुहूर्त में सम्यक्त्व प्राप्त कर लेने की योग्यता वाले जीव को ही यह करण लब्धि होती है। इसमें परिणाम उत्तरोत्तर विशेष-विशेष आत्मोन्मुखी होते जाते हैं। करणानुयोग में जिसे करण लब्धि कहते हैं; अध्यात्म भाषा में उसे ही आत्मसम्मुख परिणाम, निज शुद्धात्म-भावनारूप सविकल्प स्वसंवेदन ज्ञान, आत्मोन्मुखी वृत्ति आदि कहते हैं।

अन्य जीवों के परिणामों से तुलना करने की अपेक्षा इस करणलब्धि के तीन भेद हैं – अध:प्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। वास्तव में तो इन परिणामों का तारतम्य केवलज्ञानी ही जानते हैं; तथापि स्थूलरूप में इनका निरूपण करणानुयोग में किया गया है। इनमें अपना बुद्धि पूर्वक कुछ भी पुरुषार्थ नहीं है।

इस संदर्भ में पंडित टोडरमलजी का कथन इसप्रकार है – "**करण-लब्धिवाले जीव का बुद्धिपूर्वक इतना ही उद्यम होता है कि वह तत्त्व-विचार में उपयोग को तद्रूप होकर लगाता है, उसके कारण परिणाम प्रति समय अधिकाधिक निर्मल होते जाते हैं। तत्त्वोपदेश का विचार निर्मल होते जाने से थोड़े ही काल में उसे तत्त्व-श्रद्धानरूप सम्यक्त्व होता है।**"

अति संक्षेप में इन तीनों करणों के लक्षण और कार्य इसप्रकार हैं –

१. अध:प्रवृत्तकरण : ऊपर के समयवर्ती जीवों के परिणाम निचले समयवर्ती जीवों के परिणामों से जिनमें संख्या और विशुद्धता की अपेक्षा कुछ समान होते हैं, उन्हें अध:प्रवृत्तकरण कहते हैं। इनमें अनुकृष्टि रचना होती है तथा नियम से होनेवाले निम्नलिखित चार आवश्यक कार्य भी होते हैं –

१. विशुद्धि प्रति समय अनंतगुणी बढ़ती जाती है।

२. स्थिति-बंधापसरण होता है।

३. प्रशस्त प्रकृतिओं में प्रति समय अंनतगुणा बढ़ता हुआ चतुः-स्थानगत अनुभागबंध होता है।

४. अप्रशस्त प्रकृतिओं में प्रतिसमय अनंत गुणा घटता हुआ द्विस्थान-गत अनुभागबंध होता है।

२. अपूर्वकरण : इनमें प्रति समयवर्ती विशुद्धिरूप परिणाम अपूर्व-अपूर्व ही होते हैं। इनमें भिन्न समयवर्ती नाना जीवों के परिणाम सदा असमान ही होते हैं; परन्तु एक समयवर्ती नाना जीवों के परिणाम समान और असमान – दोनों प्रकार के हो सकते हैं। इनमें अनुकृष्टि रचना नहीं होती है। अध:प्रवृत्तकरण संबंधी चार आवश्यकों के साथ ही यहाँ चार आवश्यक कार्य और भी होते हैं। वे इसप्रकार हैं – १. गुणश्रेणी, २. गुण-संक्रमण, ३. स्थिति कांडकघात और ४. अनुभाग कांडकघात।

३. अनिवृत्तिकरण : यहाँ प्रतिसमयवर्ती परिणाम अनंतगुणे विशुद्ध होते रहते हैं। समान समयवर्ती जीवों के परिणाम सदा समान ही होते हैं। यहाँ सदा एकसमयवर्ती एक ही परिणाम होता है; अत: विशुद्धि की अपेक्षा परिणामों की पूर्ण समानता है। इनमें अपूर्वकरण के चार आवश्यकों के साथ ही स्थिति बंधापसरण भी होता रहता है।

अनिवृत्तिकरण के काल का संख्यात बहुभाग काल बीत जाने पर दर्शनमोहनीय कर्म का अंत:करण और फिर उपशम करण होता है। यही जीव के औपशमिक सम्यक्त्व की दशा है।

इस सम्पूर्ण कथन का निष्कर्ष यह है कि यद्यपि सम्यग्दर्शन पाँच लब्धि पूर्वक होता है; तथापि उनमें हमारा कुछ विशेष बुद्धि पूर्वक बाह्य पुरुषार्थ कार्यकारी नहीं है। हमारा बुद्धि पूर्वक पुरुषार्थ तो मात्र इतना ही है कि हम अन्याय, अनीति, अभक्ष्य-सेवन और गृहीत मिथ्यात्व से हटकर, तत्त्व का सत् स्वरूप समझकर, तत्त्व-निर्णय कर, अपने उपयोग को बारम्बार तत्त्व-विचार में लगाते हुए, उसे आत्म-सम्मुख कर आत्म-रूप, आत्मस्थिर रहने का उद्यम करें; शेष कार्य तो योग्यतानुसार स्वयमेव होंगे ही; उनमें हमें कुछ भी नहीं करना है; अत: सर्वशक्ति लगाकर एकमात्र यही अंतरोन्मुखी वृत्ति करना कार्यकारी है।

अनादि-अनंत ज्ञानानन्द आदि अनंत वैभव-सम्पन्न अपने भगवान

आत्मा को अपनत्वरूप से जानकर, पहिचानकर, उसमें ही स्थिरता/संतुष्टि के बल पर सम्यक्त्व से लेकर सिद्ध पर्यंत सभी दशाएँ प्रगट होती हैं; अत: बुद्धिपूर्वक एकमात्र यही कार्य कर्तव्य है।

प्रश्न २९ : अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान का काल स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान का जघन्य-काल अंतर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट-काल कुछ अधिक तेतीस सागर है। इन दोनों के बीच का अर्थात् एक अंतर्मुहूर्त और एक समय से लेकर कुछ अधिक तेतीस सागर में एक समय कम पर्यंत सभी समय-भेद इसके मध्यम-काल हैं।

धवल पुस्तक ४ में आचार्य वीरसेन स्वामी इसके उत्कृष्ट-काल की विवक्षा इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

एक समय कम तेतीस सागर की आयुवाले अनुत्तरवासी अहमिंद्र की आयु बाँधकर कोई संयमी मुनिराज विग्रहगति में अविरत सम्यक्त्व दशा प्राप्त कर वहाँ उत्पन्न हुए। वहाँ आयुबंध के समय एक पूर्व कोटिवर्ष वाली मनुष्य आयु बाँधकर वहाँ से च्युत हो यहाँ मनुष्यरूप में उत्पन्न हो अपनी आयु के अंतिम अंतर्मुहूर्त में संयमी हो गए। इसप्रकार अविरत सम्यक्त्व का उत्कृष्ट-काल एक अंतर्मुहूर्त कम एक पूर्व कोटि वर्ष अधिक एक समय कम तेतीस सागर निकलता है।

यह उत्कृष्ट-काल देवगति की अपेक्षा है। नरकगति की अपेक्षा इस गुणस्थान का उत्कृष्ट-काल छह अंतर्मुहूर्त कम तेतीस सागर है। मनुष्य तथा तिर्यंचगति की अपेक्षा इस अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान का उत्कृष्ट-काल क्रमश: साधिक तीन पल्य और तीन पल्य है।

जघन्य-काल सर्वत्र अंतर्मुहूर्त ही है।

प्रश्न ३० : इस अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान का गुणस्थान की अपेक्षा गमनागमन स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : परिणामों की विचित्रता के कारण गुणस्थान की अपेक्षा इस गुणस्थान के गमनागमन में विविधता है; जो इसप्रकार है –

गमन की अपेक्षा : १. अविरत सम्यक्त्व गुणस्थानवर्ती कोई द्रव्यलिंगी मुनिराज आत्मोन्मुखी तीव्र पुरुषार्थ द्वारा यहाँ से आरोहण कर सीधे सातवें अप्रमत्त-संयत गुणस्थान में पहुँच जाते हैं।

२. इस गुणस्थानवर्ती कोई द्रव्यलिंगी मुनि, श्रावक आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ द्वारा यहाँ से आरोहण कर पाँचवें देशव्रत गुणस्थान को प्राप्त होते हैं।
३. इस गुणस्थानवर्ती कोई औपशमिक या क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि पुरुषार्थ की हीनता वश अवरोहण कर तीसरे सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान में या पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में आ जाते हैं।
४. इस गुणस्थानवर्ती कोई औपशमिक सम्यग्दृष्टि पुरुषार्थ की हीनता वश अवरोहण कर दूसरे सासादन गुणस्थान में भी चला जाता है।
आगमन की अपेक्षा : १. सादि या अनादि मिथ्यादृष्टि जीव आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ द्वारा इस गुणस्थान में आ सकते हैं।
२. इसी पुरुषार्थ द्वारा कोई तीसरे सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान से भी यहाँ आ सकता है।
३. देशविरत नामक पाँचवें और प्रमत्त-संयत नामक छठवें गुणस्थानवर्ती कोई जीव अपनी पुरुषार्थ-हीनता से अवरोहण कर इस गुणस्थान में आ सकते हैं।
४. उपशम श्रेणी के चारों गुणस्थानवर्ती मुनिराज मरण की अपेक्षा अवरोहण कर सीधे इस अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान में आ जाते हैं।

इस सम्पूर्ण गमनागमन को संदृष्टि द्वारा इसप्रकार समझ सकते हैं –

अविरत सम्यक्त्व नामक चौथे गुणस्थान का गमनागमन

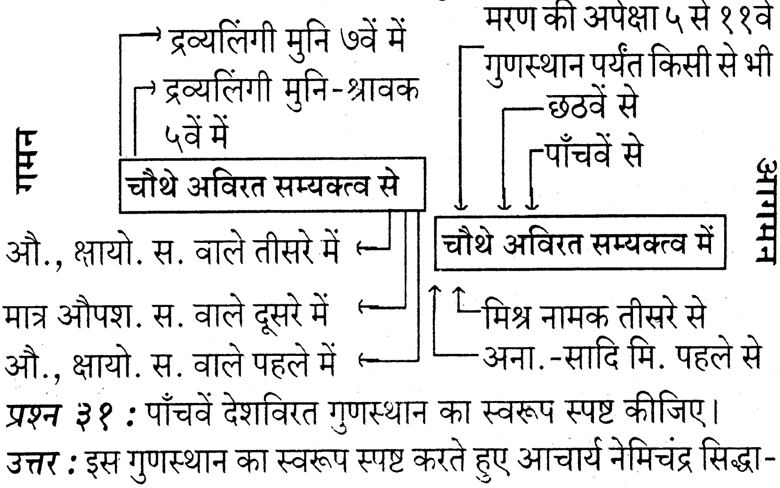

प्रश्न ३१ : पाँचवें देशविरत गुणस्थान का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।
उत्तर : इस गुणस्थान का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य नेमिचंद्र सिद्धा-

न्त-चक्रवर्ती अपने गोम्मटसार जीवकांड नामक ग्रन्थ में लिखते हैं –

''पच्चक्खाणुदयादो, संजमभावो ण होदि णवरिं तु।
थोववदो होदि तदो, देसवदो होदि पंचमओ ।।३०।।
जो तसवहाउविरदो, अविरदओ तह य थावरवहादो।
एक्कसमयम्हि जीवो, विरदाविरदो जिणेक्कमई ।।३१।।

प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय होने से (पूर्ण) संयमभाव नहीं हो पाता है; तथापि एक देशव्रत हो जाते हैं, वह पाँचवाँ देशव्रत गुणस्थान है।

जिनेन्द्र देव में एकमति/एकनिष्ठ श्रद्धानी जो एक ही समय में युगपत् त्रसहिंसा से विरत, स्थावरहिंसा से अविरत है, वह विरताविरत जीव है।''

भाव यह है कि दर्शनमोहनीय, अनंतानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण क्रोधादि के अभाव में व्यक्त वीतरागता-सम्पन्न, बारह व्रतादि के पालन रूप शुभभावों से सहित दशा देशविरत नामक पंचम गुणस्थान है। उससे सहित जीव देशव्रती या पंचम गुणस्थानवर्ती जीव कहलाता है। इसके मिथ्यात्व और दो चौकड़ी कषाय के अभावरूप शुद्धता के साथ शेष रहीं दो चौकड़ी कषायों और नो कषायों की विद्यमानता के कारण अशुद्धता भी विद्यमान है; जिसकारण स्थूलरूप में हिंसादि पापों से निवृत्त हो जाने पर भी यह सूक्ष्म हिंसादि पापों से निवृत्त नहीं हो पाता है; तथापि सतत साव-धानी पूर्वक प्रवृत्ति करते हुए अप्रयोजनीय पापों से निवृत्त रहता है।

इसप्रकार एक साथ ही इंद्रिय-असंयम और प्राणी-असंयम का स्थूल रूप में त्यागी होने पर भी सूक्ष्मरूप में त्याग नहीं हो पाने से यह देशव्रत है। यह मध्यम अंतरात्मा है तथा विरताविरत, संयमासंयम, देश-संयम, देशचारित्र, अणुव्रती, प्रतिमाधारी श्रावक इत्यादि इसके अनेकों नाम हैं।

औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्व में से किसी भी सम्यक्त्व के साथ यह गुणस्थान हो सकता है; तथापि देवायु को छोड़कर अन्य तीन आयुओं में से किसी भी आयु का बंध हो जाने पर यह अवस्था नहीं होती है। व्यक्त ज्ञान की हीनाधिकता, बाह्य संयोगों की अनुकूलता-प्रतिकूलता आदि के साथ इसका कुछ भी संबंध नहीं है। यह तो चतुर्थ गुणस्थान की अपेक्षा एकमात्र विशेष आत्म-स्थिरतारूप शुद्धता-अशुद्ध-

तामय मिश्र दशा है। चार निकायवाले देवगति के किन्हीं भी देवों, इंद्रों, अहमिंद्रों में; भोगभूमिजों, म्लेच्छों और नारकिओं में इस देशविरत दशा को प्रगट करने की पात्रता नहीं होती है।

इसे एकमात्र गर्भज, कर्मभूमिज मनुष्य और गर्भज, सम्मूर्छनज कर्म-भूमिज सैनी पंचेंद्रिय तिर्यंच ही पर्याप्तक दशा में विशेष आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ द्वारा प्रगट कर सकते हैं। शारीरिक, वाचनिक शुभाशुभ क्रियाओं, बाह्य प्रवृत्तिओं से भी इसका विशेष संबंध नहीं है। वे तो मात्र अंतरंग शुद्धता होने पर इसका ज्ञान करानेवाली ज्ञापक कारण होती हैं; अत: उनमें परिवर्तन मात्र से यह गुणस्थान प्रगट नहीं होता है। यह तो एक मात्र तत्त्व-निर्णय पूर्वक, स्व-पर भेद-विज्ञान सहित विशेष आत्म-स्थिरतारूप अंतरोन्मुखी पुरुषार्थ से व्यक्त होता है।

इस देशविरत गुणस्थान के दूसरे नाम संयमासंयम में संयम शब्द आदि-दीपक और असंयम शब्द अंत्य-दीपक है अर्थात् यहाँ से संयम दशा प्रारम्भ हो गई है तथा इससे पहले की सभी दशाएं तो नियम से असंयममय ही हैं; यहाँ भी अभी कुछ असंयम शेष है।

इस आंशिक संयम-असंयम-युक्त संयमासंयम दशा में चारित्र की अपेक्षा क्षायोपशमिक भाव माना गया है।

प्रत्याख्यानावरण जन्य इन भावों से प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभरूप चारित्रमोहनीय की चार प्रकृतिओं का बंध होता है।

प्रश्न ३२ : चैतन्य और अचैतन्य के समान संयम और असंयम परस्पर विरुद्ध भाव हैं; तब ये दोनों एक साथ एक ही जीव में कैसे रह सकते हैं; और उनके नहीं रह पाने पर यह गुणस्थान कैसे बन सकता है?

उत्तर : आचार्य वीरसेन स्वामी ने अपनी धवल टीका में यही शंका उप-स्थित कर इस पर विस्तृत विचार-विमर्श किया है; अत: उसे ही आधार बनाकर उसी का संक्षिप्त सार यहाँ इस प्रश्न के उत्तररूप में प्रस्तुत है –

'विरोध दो प्रकार का है – परस्पर परिहार लक्षण विरोध और सहान-वस्था लक्षण विरोध। इनमें से एक द्रव्य के अनंत गुणों में होने वाला परस्पर परिहार लक्षण विरोध तो यहाँ स्वीकृत ही है; क्योंकि उसके बिना

तो गुणों का स्वरूप ही नहीं बन सकेगा ? परन्तु इतने मात्र से सहानवस्था लक्षण विरोध उनमें नहीं माना जा सकता है; क्योंकि अनंत गुणों का एक साथ एक द्रव्य में रहना ही विरोध स्वरूप मान लेने पर वस्तु का अस्तित्व ही नहीं बन सकेगा। अनंत-धर्मात्मक वस्तु ही अर्थ-क्रियाकारी होती है; सहानवस्था लक्षण विरोध में वह सम्भव ही नहीं हो सकेगी।

परस्पर परिहार लक्षण विरोध मान लेने पर भी चैतन्य और अचैतन्य के साथ बाधा नहीं आती है; क्योंकि वे सहभावी गुण नहीं है। संयम और असंयम सहभावी गुण/पर्यायें हैं; अतः वे दोनों एकसाथ रह सकती हैं।

इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि परस्पर विरुद्ध दो योग्य-ताओं की उत्पत्ति का कारण यदि एक ही माना जाता है तो विरोध होता है; परन्तु यहाँ ऐसा नहीं है। दोनों की उत्पत्ति के कारण पृथक्-पृथक् हैं। संयम भाव की उत्पत्ति का कारण त्रस-हिंसा से विरति भाव है और असंयम भाव की उत्पत्ति का कारण स्थावर-हिंसा से अविरति भाव है।'

इसप्रकार इन दोनों भावों के एकसाथ रहने में विरोध नहीं होने के कारण यह गुणस्थान बन जाता है।

प्रश्न ३३ : गोम्मटसार जीवकांड गाथा ३० के अनुसार 'प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय में संयमासंयम दशा होती है' – इस कथन के अनुसार यहाँ चारित्र की अपेक्षा औदयिक भाव कहा जाना चाहिए था; परन्तु यहाँ उसकी अपेक्षा औदयिक भाव नहीं बताया गया है; क्षायोपशमिक भाव ही बताया गया है – इसका कारण क्या है ?

उत्तर : प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय में हुई संयमासंयम दशा को औदयिक भाव न कहे जाने और क्षायोपशमिक भाव कहे जाने पर पूर्वाचार्यों ने अनेकानेक तर्क-युक्तिओं से मीमांसा की है। उन सभी का संक्षिप्त-सार ही हम यहाँ देखते हैं –

भट्ट अकलंकदेव कृत तत्त्वार्थ राजवार्तिक के अनुसार 'अनंतानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण क्रोधादि रूप आठ कषायों के उदयाभावी क्षय और सदवस्थारूप उपशम के साथ प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय, संज्वलन कषाय के देशघाति स्पर्धकों और यथासंभव नो कषायों का उदय होने पर विरताविरत परिणामरूप क्षायोपशमिक भाव होता है।'

इसे ही स्पष्ट करते हुए आचार्य वीरसेन स्वामी अपनी धवल टीका में लिखते हैं – 'अप्रत्याख्यानावरणरूप सर्वघाति स्पर्धकों के उदयाभावी क्षय और सदवस्थारूप उपशम के साथ प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से संयमासंयमरूप अप्रत्याख्यानचारित्र व्यक्त होने के कारण वह क्षायो-पशमिक भाव है।'

इसे ही अन्य प्रकार से भी स्पष्ट करते हुए वे वहीं आगे लिखते हैं – 'चार संज्वलन और नौ नो कषायों के क्षयोपशम संज्ञावाले देशघाति स्पर्धकों के उदय से संयमासंयम की उत्पत्ति होती है; अत: संयमासंयम क्षयोपशम लब्धि से होता है। (इसे ही वे स्वयं प्रश्नोत्तर शैली द्वारा विशेष स्पष्ट कर रहे हैं।)

प्रश्न : चार संज्वलन और नौ नो कषाय – इन तेरह प्रकृतिओं के देशघाति स्पर्धकों का उदय तो संयम की प्राप्ति में निमित्त होता है; यहाँ उसे संयमा-संयम की प्राप्ति का निमित्त कैसे स्वीकार किया जा रहा है ?

उत्तर : ऐसा नहीं है; क्योंकि प्रत्याख्यानावरण सर्वघाति स्पर्धकों के उदय से जिन संज्वलन आदि कषाय-नो कषायों के देशघाति स्पर्धकों का उदय प्रतिहत/बाधित हो गया है, उस उदय में संयमासंयम को छोड़कर संयम को उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं होती है तथा इससे प्रत्याख्यानावरण का सर्वघातित्व भी नष्ट नहीं होता है।'

इसप्रकार संयमासंयम नामक इस पंचम गुणस्थान में चारित्र की अपेक्षा क्षायोपशमिक भाव ही स्वीकार किया गया है। क्षायोपशमिक भाव के १८ भेदों में भी इसे गिना गया है।

प्रश्न ३४ : चारित्रमोहनीय के क्षयोपशम से होने के कारण जब संयमा-संयम क्षायोपशमिक भावरूप ही है; तब फिर क्षायोपशमिक भाव के अठारह भेदों में क्षायोपशमिक चारित्र और संयमासंयम – ये दो भाव पृथक्-पृथक् क्यों गिने गए हैं ?

उत्तर : ये दोनों क्षायोपशमिक भावरूप होने पर भी इन दोनों में स्वरूपगत अंतर होने से इन्हें पृथक्-पृथक् गिना गया है। वह अंतर इसप्रकार है – घाति कर्म प्रकृतिओं के देशघाति और सर्वघाति – ये दो भेद हैं। देशघाति

प्रकृतिओं में देशघाति और सर्वघाति – दोनों ही प्रकार के स्पर्धक होने से इनमें क्षयोपशम दशा हो सकती है। सर्वघाति प्रकृतिओं में मात्र सर्वघाति स्पर्धक होने से उनमें क्षयोपशम दशा नहीं हो सकती है। मोहनीय कर्म की सम्यक्त्व प्रकृति, संज्वलन क्रोधादि चतुष्क और नौ नो कषायें – ये चौदह प्रकृतिआँ ही देशघाति हैं; शेष चौदह सर्वघाति हैं।

छठवें आदि साम्परायिक गुणस्थानों में संज्वलन चतुष्क और नौ नो कषाय कर्मरूप देशघाति प्रकृतिओं का क्षयोपशम होने से वहाँ विद्यमान चारित्र क्षायोपशमिक चारित्र कहलाता है। पाँचवें गुणस्थान में प्रत्याख्यानावरण कषाय कर्मरूप सर्वघाति प्रकृतिओं का उदय है; वास्तव में तो इनका क्षयोपशम होता ही नहीं है; परन्तु इनका उदय संयमासंयमरूप देशविरत दशा का घात करने में समर्थ नहीं है; इनके उदय में भी यह व्यक्त रहता है; अत: इन्हें उपचार से क्षयोपशमरूप मानकर तत्संबंधी भावों को क्षायोपशमिक भाव में गिन लिया है। यह क्षायोपशमिक चारित्र के समान नहीं है; अत: इसे उससे पृथक् कर संयमासंयम नाम दिया है।

इसप्रकार इन दोनों में स्वरूपगत अंतर होने से इन्हें पृथक्-पृथक् गिना गया है।

प्रश्न ३५ : देशविरत नामक इस पाँचवें गुणस्थान के भेद बताइए।

उत्तर : इसके मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी-अप्रत्याख्यानावरण-रूप दो चौकड़ी कषाय के अभावरूप वीतरागता तथा शेष रहीं कषायों के सद्भावरूप सरागतामय सामान्य शुद्धाशुद्ध दशा की अपेक्षा तो कोई भेद नहीं हैं; तथापि शेष रहीं कषायों के उत्तरोत्तर मंद-मंद उदय की अपेक्षा, फल-दान शक्ति की हीनता की अपेक्षा इसके असंख्यात लोकप्रमाण भेद बन जाते हैं। जिन्हें मध्यम शैली में बारह व्रतों की मुख्यता से ग्यारह प्रतिमाओं के रूप में विभक्त किया जाता है। जिनके नाम क्रमश: इसप्रकार हैं – १. दर्शन, २. व्रत, ३. सामायिक, ४. प्रोषधोपवास, ५. सचित्तविरत, ६. दिवा मैथुन त्याग या रात्रि भुक्ति त्याग, ७. ब्रम्हचर्य, ८. आरम्भ त्याग, ९. परिग्रह त्याग, १०. अनुमति त्याग और ११. उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा।

क्षुल्लक, ऐलक, क्षुल्लिका, आर्यिका – ये सभी इन ग्यारह प्रतिमाओं के पूर्णतया धारक होने से उत्कृष्ट देशव्रती श्रावक ही हैं।

इस गुणस्थानवर्ती श्रावक के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद भी किए गए हैं। नैष्ठिक श्रावक, साधक श्रावक, गृह विरत श्रावक और गृहनिरत श्रावक आदि रूपों में भी इन्हें विभक्त किया गया है।

ग्यारह प्रतिमाओं का स्वरूप विस्तार से समझने के लिए तत्त्वज्ञान विवेचिका भाग १ का पृष्ठांक ५० से ७८वें पर्यंत गहराई से अध्ययन करना चाहिए। इसीप्रकार अहिंसा अणुव्रत आदि बारह व्रतों को समझने के लिए वीतराग विज्ञान विवेचिका का पृष्ठांक २०८ से २२९वें पर्यंत एकाग्रता पूर्वक अध्ययन-मनन करना चाहिए।

इसप्रकार पुरुषार्थ की हीनाधिकता आदि कारणों से इस देशविरत नामक पाँचवें गुणस्थान के अनेक भेद हो जाते हैं।

प्रश्न ३६ : देशविरत नामक पाँचवें गुणस्थान का काल स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : परिणामों आदि की विविधता और विचित्रता के कारण इस गुण-स्थान के काल में भी विविधता देखी जाती है। इसका जघन्यकाल तो सर्वत्र यथायोग्य अंतर्मुहूर्त ही है। इससे कम अर्थात् सासादन आदि गुण-स्थानों के समान एक समय, दो समय आदि काल इसका कभी भी नहीं होता है। इस गुणस्थान को प्राप्त करनेवाला साधक इन भावों में कम से कम अंतर्मुहूर्त तो रहता ही है।

उत्कृष्ट-काल मनुष्य की अपेक्षा गर्भकाल सहित आठ वर्ष और एक अंतर्मुहूर्त कम एक कोटि पूर्व वर्ष तथा सम्मूर्छन तिर्यंच की अपेक्षा तीन अंतर्मुहूर्त कम एक कोटि पूर्व वर्ष भी हो सकता है। इन दोनों कालों के मध्यवर्ती सभी समय इसके मध्यम-काल संबंधी भेद हैं।

प्रश्न ३७ : देशविरत नामक इस पाँचवें गुणस्थान का गुणस्थान की अपेक्षा गमनागमन स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : परिणामों आदि की विविध विचित्रता के कारण इस गुणस्थान के गमनागमन में भी विविधता है। गमन की अपेक्षा इस गुणस्थानवर्ती द्रव्य-लिंगी मुनिराज विशिष्ट आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ द्वारा आरोहण कर सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान को प्राप्त कर सकते हैं।

पुरुषार्थ की हीनता में यहाँ से अवरोहण कर चौथे अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान में; औपशमिक या क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि तीसरे सम्य-

ग्मिथ्यात्व या पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में तथा मात्र औपशमिक सम्यग्दृष्टि दूसरे सासादन गुणस्थान में भी जा सकता है।

आगमन की अपेक्षा पहले या चौथे गुणस्थानवर्ती द्रव्यलिंगी मुनिराज या श्रावक आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ द्वारा आरोहण कर इस गुणस्थान को प्राप्त कर सकते हैं। अवरोहण की अपेक्षा पुरुषार्थ की हीनता में छठवें प्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती मुनिराज यहाँ आ सकते हैं।

इसे हम संदृष्टि द्वारा इसप्रकार देख सकते हैं –

देशविरत नामक पंचमगुणस्थान का गमनागमन

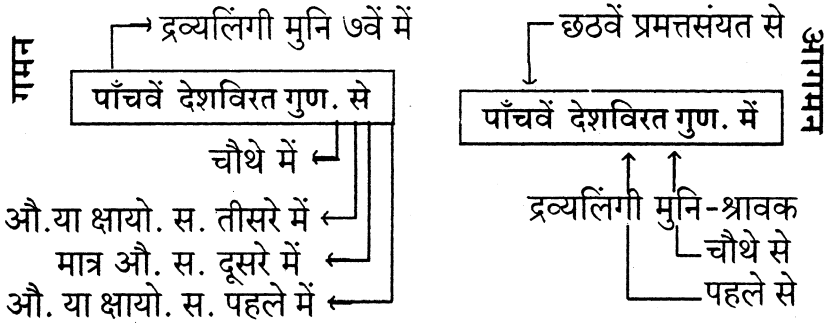

प्रश्न ३८ : छठवें प्रमत्तसंयत गुणस्थान का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : सदा अवरोहण (गिरने की) अवस्था में ही व्यक्त होनेवाले इस गुणस्थान का स्वरूप आचार्यश्री नेमिचंद्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती ने अपने गोम्मटसार जीवकाण्ड ग्रन्थ में इसप्रकार लिखा है –

''**संजलणणोकसायाणुदयादो संजमो हवे जम्हा।**
मलजणणपमादो वि य, तम्हा हु पमत्तविरदो सो॥३२॥
वत्तावत्तपमादे, जो वसइ पमत्तसंजदो होदि।
सयलगुणसीलकलिओ, महव्वई चित्तलायरणो॥३३॥

संयम हो जाने पर भी संज्वलन और नो कषायों का उदय होने से जिस कारण मल को उत्पन्न करनेवाला प्रमाद भी होता है; उसकारण ये प्रमत्तविरत हैं।

सम्पूर्ण गुणों/मूलगुणों और शीलों/उत्तरगुणों से सहित महाव्रती होने पर भी जो व्यक्त और अव्यक्त प्रमाद में रहता है; वह चित्रल आचरणवाला प्रमत्तसंयत होता है।''

आचार्य वीरसेन स्वामी ने अपनी धवल नामक टीका में 'प्रमत्तसंयत' शब्द का जो विश्लेषण किया है; उसका हिन्दी सार इसप्रकार है – 'सम् / सम्यक्=सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान पूर्वक; यत=बहिरंग-अंतरंग आस्रवों से विरत; प्र=प्रकृष्टरूप से; मत्त=मदयुक्त/असावधान अर्थात् सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान पूर्वक बहिरंग-अंतरंग आस्रवों से (भूमिकानुसार) विरत होते हुए भी प्रमाद-युक्त प्रवृत्तिवाले मुनिराज प्रमत्तसंयत हैं।'

इनका आचरण चित्रल होता है। गोम्मटसार जीवकांड की जीव-प्रबोधिनी टीका में इसका जो विश्लेषण किया गया है; उसका हिन्दी सार इसप्रकार है – 'चित्रं=प्रमाद से मिश्रित, लाति=ग्रहण करता है; अथवा चित्रल=सारंग/चीता; उसके समान चितकबरा/विचित्र प्रकार का आचरणवाला चित्रलाचरण है; अथवा चित्तं=मन, लाति=करता है अर्थात् मन को प्रमाद-स्वरूप करनेवाला आचरण चित्रलाचरण है।'

भाव यह है कि मिथ्यात्व, अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण संबंधी क्रोधादि चतुष्क के अभाव में व्यक्त हुई वीतरागता/शुद्ध परिणति के साथ संज्वलन चतुष्क और यथायोग्य नो कषायों के तीव्र उदय की निमित्तता में होने वाली व्यक्त-अव्यक्त प्रमाद-युक्त २८ मूलगुण आदि पालन करनेरूप मुनिराज की परिणति प्रमत्तसंयत दशा है।

अथवा इस वीतरागता/शुद्धपरिणति के साथ विद्यमान शुभोपयोग की भूमिका-युक्त द्रव्यलिंग-भावलिंग-सम्पन्न मुनिराज की जीवन-चर्या प्रमत्तसंयत दशा है।

प्रमाद की परिभाषा देते हुए आचार्यश्री पूज्यपाद स्वामी अपने सर्वार्थ-सिद्धि ग्रन्थ में लिखते हैं – "**कुशलेष्वनादरः प्रमादः**– कुशल कार्यों में/आत्मकल्याणकारी आत्म-स्थिरतारूप कार्यों में अनादर/असावधानी प्रमाद है।"

संक्षेप में प्रमाद के ४ विकथा, ४ कषाय, ५ इन्द्रिय-विषय, निद्रा और प्रणय/स्नेह – ये १५ भेद प्रसिद्ध हैं। इनके ही उत्तर भेद ८० तथा उत्तरोत्तर भेद ३७५०० हो जाते हैं। इस प्रमत्तसंयत दशा में ये व्यक्त और अव्यक्तरूप

में विद्यमान रहते हैं। इनसे सहित मुनिराज प्रमत्तसंयमी कहलाते हैं। ये प्रमत्तविरत, महाव्रती, सकलसंयमी, अनगारी इत्यादि अनेक नामों से भी जाने जाते हैं।

इस प्रमत्तसंयत गुणस्थानवाले मुनिराज मध्यम-अंतरात्मा कहलाते हैं। औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक – इन तीन सम्यक्त्वों में से किसी भी सम्यक्त्ववाले होने पर भी चारित्र की अपेक्षा इनके मात्र क्षायोपशमिक भाव ही होता है।

यद्यपि यह गुणस्थान सर्वप्रथम सदा अप्रमत्तसंयत नामक सातवें गुणस्थान से पतित होने पर ही व्यक्त होता है; तथापि यहाँ से पुनः उसी सातवें गुणस्थान को प्राप्त किया जा सकता है। छठवें, सातवें गुणस्थान में आना-जाना प्रति अंतर्मुहूर्त में सतत होते रहने से मुनिराज के एक जीवन में यह अनेकों बार होता रहता है।

आचार्य, उपाध्याय पद के कार्य – दीक्षा देना, प्रायश्चित्त देना, शिक्षा देना आदि; आहार, विहार, निहार आदि; शास्त्र-लेखन, तत्त्व-चर्चा-वार्ता आदि; व्यक्त ऋद्धिओं का उपयोग आदि साधु जीवन में होने वाले शुभोपयोगमय सभी कार्य तथा कदाचित् भूमिकानुसार निदान बंध को छोड़कर शेष तीन आर्तध्यान, निद्रा आदि कार्य भी इसी गुणस्थान में ही होते हैं; इससे आगे के सभी गुणस्थान मुनि-दशावाले होने पर भी वे सभी शुद्धोपयोगमय होने से वहाँ ये सभी कार्य सम्भव ही नहीं हैं।

यहाँ संयत शब्द में लगा प्रमत्त विशेषण अंत्य-दीपक है। यद्यपि यह और इसके नीचे के पाँच गुणस्थान प्रमाद-युक्त ही हैं; तथापि गुणस्थानानुसार प्रमाद प्रवृत्ति में अंतर है। यह तथा यहाँ से आगे के सभी गुणस्थान एकमात्र मनुष्यगति की द्रव्य-पुरुष-दशा में ही होते हैं; उनमें भी आयुबंध की स्थिति में देवायु को छोड़कर अन्य आयु बँध जाने पर ये नहीं होते हैं।

मुनि-दशा के ये सभी कार्य श्रावकों के लिए हितकर होने पर भी उन मुनि की भूमिकानुसार तीव्र कषायमय होने से वे उनके लिए बंधनकारक ही हैं। इन प्रमादरूप परिणामों से असाता-वेदनीयरूप एक वेदनीय;

अरति और शोकरूप दो मोहनीय; अस्थिर, अशुभ और अयशस्कीर्ति रूप तीन नामकर्म – इसप्रकार ६ कर्म-प्रकृतिओं का बंध होता है।

प्रश्न ३९ : मुनि-दशा का द्रव्य-लिंग और भाव-लिंग किसे कहते हैं ? तथा उनका परस्पर में क्या संबंध है ?

उत्तर : मोक्षमार्ग के इस प्रकरण में चिन्ह या लक्षण को लिंग कहा गया है। जो चिन्ह या लक्षण बाह्य में व्यक्त होते हैं, बाहर से ज्ञात हो जाते हैं; उन्हें द्रव्य-लिंग कहते हैं तथा जो चिन्ह या लक्षण अंतरंग में व्यक्त होते हैं, जिन्हें बाहर से पहिचानना छद्मस्थ ज्ञान के द्वारा सम्भव नहीं है; उन्हें भाव-लिंग कहते हैं। ये सभी साधक दशाओं में अर्थात् श्रावक-साधु दशाओं में नियम से व्यक्त होते ही हैं। यहाँ मुनि-दशा संबंधी इन दोनों लिंगों की चर्चा अभीष्ट है। आचार्य कुन्दकुन्ददेव अपने प्रवचनसार नामक ग्रन्थ में इनकी चर्चा करते हुए लिखते हैं –

"जधजादरूवजादं, उप्पाडिदकेसमंसुगं सुद्धं।
रहिदं हिंसादीदो, अप्पडिकम्मं हवदि लिंगं ॥२०५॥
मुच्छारंभविजुत्तं, जुत्तं उवओगजोगसुद्धीहिं।
लिंगं ण परावेक्खं, अपुणब्भवकारणं जेण्हं ॥२०६॥

जन्म-समय के रूप जैसा रूपवाला; शिर, दाढ़ी और मूछ के केशों का लोंच किया हुआ; शुद्ध/अकिंचन, हिंसादि से रहित और प्रतिकर्म/शारीरिक-श्रृंगार से रहित बहिरंग-लिंग है।

मूर्छा/ममत्व और आरम्भ से रहित, उपयोग और योग की शुद्धि से सहित तथा पर की अपेक्षा से रहित मोक्ष का कारणभूत, जिनेन्द्रदेव द्वारा बताया गया अंतरंग-लिंग है।"

पुनः इन्हीं का विस्तार करते हुए वहीं वे आगे लिखते हैं –

"वदसमिदिंदियरोधो, लोचावस्सयमचेलमण्हाणं।
खिदिसयणमदंतवणं, ठिदिभोयणमेगभत्तं च ॥२०८॥
एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता।
तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि ॥२०९॥

पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रियरोध, छह आवश्यक, अचेल

पना/नग्नता, केशलुंचन, अस्नान, भूमिशयन, अदंतधावन, खड़े-खड़े भोजन और दिन में एक बार भोजन – वास्तव में श्रमणों के ये मूलगुण जिनवरों ने कहे हैं; उनमें प्रमत्त होता हुआ श्रमण छेदोपस्थापक होता है।"

इस सम्पूर्ण कथन का निष्कर्ष यह है कि अहिंसा महाव्रत आदि २८ मूलगुणों के पालनरूप शुभभाव, शुभोपयोग, तदनुरूप आत्मिक-प्रवृत्ति; तदनुकूल शारीरिक क्रियाएँ, संयोगों की विद्यमानता-अविद्यमानता इत्यादि सभी बाह्य में दृष्टिगोचर होने के कारण, अंतरंग निर्विकार परिणति के कथंचित्/कदाचित् ज्ञापक-कारण होने से मुनि-दशा की अपेक्षा द्रव्य-लिंग कहलाते हैं तथा मिथ्यात्व; अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण संबंधी क्रोधादि चतुष्क के अभाव में व्यक्त हुई वीत-रागता/शुद्ध परिणति/सम्यक् रत्नत्रय-सम्पन्न निराकुल दशा/भूमिका-नुसार अतीन्द्रिय आनंदमय दशा और शुद्धोपयोगमय दशा बाह्य में दृष्टि-गोचर नहीं होने पर भी वास्तविक धर्म, संवर-निर्जरामय मोक्षमार्ग होने से मुनि-दशा की अपेक्षा भाव-लिंग कहलाती है।

इस भाव-लिंगमय मुनिराज तो नियम से द्रव्य-लिंगमय होते हैं; परन्तु द्रव्य-लिंगमय मुनिराज के साथ ऐसा नियम नहीं है। यदि उनके उपर्युक्त शुद्ध परिणति विद्यमान है तो वे भाव-लिंगमय भी हैं; अन्यथा अपनी परिणति के अनुसार मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत सम्यक्त्व और देश विरत में से किसी एक भूमिकावाले द्रव्य-लिंगमय भी हो सकते हैं।

भाव-लिंग और द्रव्य-लिंग के बीच में परस्पर सहचररूप निमित्त-नैमित्तिक संबंध है तथा द्रव्य-लिंग और भाव-लिंग के बीच में पूर्वचर, सहचर, उत्तरचररूप निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। द्रव्य-लिंग भाव-लिंग का ज्ञापक-कारण अर्थात् ज्ञान करानेवाला/बतानेवाला कहा गया है; यह कारक-कारण अर्थात् भाव-लिंग को उत्पन्न करनेवाला कारण नहीं है। यही कारण है कि भाव-लिंग को निश्चय मोक्षमार्ग और द्रव्य-लिंग को व्यवहार मोक्षमार्ग कहा जाता है। निश्चय-व्यवहार नय में प्रतिपाद्य-प्रतिपादक संबंध है, कर्ता-कर्म संबंध आदि नहीं हैं।

इसप्रकार जिनवाणी के माध्यम से हमें साधक दशा में नियम से होने वाले द्रव्य-लिंग और भाव-लिंग को भली-भाँति समझना चाहिए।

प्रश्न ४० : गोम्मटसार जीवकांड गाथा ३२ आदि जिनवाणी के अनुसार जब प्रमत्तसंयत गुणस्थान संज्वलन और नो कषाय के उदय की निमित्तता में होता है; तब फिर यहाँ चारित्र का उस संबंधी औदयिक भाव क्यों नहीं कहा गया है ? क्षायोपशमिक भाव क्यों कहा गया है ?

उत्तर : इस संदर्भ में आचार्य वीरसेन स्वामी ने अपनी धवल टीका में प्रश्नोत्तर शैली द्वारा मीमांसा की है। उसका ही हिन्दी सार यहाँ देखते हैं – 'वर्तमान में प्रत्याख्यानावरणरूप सर्वघाति स्पर्धकों के उदय का क्षय होने से, आगामी काल में उदय आने वाले सत्ता में स्थित उन्हीं के उदय में न आनेरूप उपशम से और संज्वलन कषाय के उदय से प्रत्याख्यान/संयम प्रगट हुआ होने से वह क्षायोपशमिक भावरूप है।

प्रश्न : संज्वलन कषाय के उदय से संयम भाव हुआ होने के कारण उसे औदयिक भाव क्यों नहीं कहा जाता है ?

उत्तर : नहीं; क्योंकि संज्वलन कषाय के उदय से संयम की उत्पत्ति नहीं होती है।

प्रश्न : तब फिर वहाँ संज्वलन का व्यापार/कार्य क्या है।

उत्तर : प्रत्याख्यानावरण कषायरूप सर्वघाति स्पर्धकों के उदयाभावी क्षय (और सदवस्थारूप उपशम) से व्यक्त हुए संयम में मल को उत्पन्न करना, संज्वलन का व्यापार/कार्य है।'

इस सम्पूर्ण मीमांसा से अत्यन्त स्पष्ट है कि संज्वलन के उदय से संयम भाव व्यक्त नहीं हुआ होने के कारण यहाँ उस संबंधी औदयिक भाव नहीं है; वरन् प्रत्याख्यानावरण संबंधी क्षायोपशमिक भाव ही है।

प्रश्न ४१ : इस प्रमत्तसंयत गुणस्थान का काल स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : परिणामों आदि की विविध विचित्रता के कारण इस गुणस्थान का काल भी सामान्य से एक अंतर्मुहूर्त मात्र होने पर भी वह अनेक प्रकार का है; जो इसप्रकार है –

मरण की अपेक्षा इस गुणस्थान का जघन्य-काल एक समय है। मनुष्यायु एक समय मात्र की शेष रहते हुए सातवें अप्रमत्त गुणस्थान से यहाँ आने पर इसमें मात्र एक समय रह पाते ही उन मुनिराज का देहावसान हो जाने से, इसका जघन्य-काल एक समय बन जाता है।

यथायोग्य एक अंतर्मुहूर्त काल इस गुणस्थान का उत्कृष्ट-काल है तथा एक समय से आगे दो आदि समयों से लेकर यथायोग्य एक अंतर्मुहूर्त से एक समय पहले तक का सम्पूर्ण काल मध्यम-काल कहा जाता है। इसमें भी विशेष यह है कि इस प्रमत्तसंयत गुणस्थान से पतित हो सीधे पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में अवरोहण करने वाले मुनि को ही इसका उत्कृष्ट-काल प्राप्त होता है।

प्रश्न ४२ : इस प्रमत्तसंयत गुणस्थान का गमनागमन स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : परिणामों आदि की विविध विचित्रता के कारण इसका गुणस्थानापेक्षा गमनागमन भी विविधता-युक्त है; जो इसप्रकार है –

गमन की अपेक्षा : आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ की तीव्रता में अपना यथायोग्य अंतर्मुहूर्त काल व्यतीत कर इस गुणस्थानवर्ती मुनिराज सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में ही आरोहण करते हैं। इससे आगे आरोहण करने का पुरुषार्थ यहाँ सम्भव नहीं है।

अपने पुरुषार्थ की हीनता आदि वश अवरोहित होने की स्थिति में तीनों ही सम्यक्त्वी यहाँ से पाँचवें देशविरत और चौथे अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान में भी जा सकते हैं। औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि प्रमत्तसंयत से पतित हो तीसरे सम्यग्मिथ्यात्व और पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में भी जा सकते हैं तथा औपशमिक सम्यग्दृष्टि दूसरे सासादन गुणस्थान में भी जा सकते हैं।

आगमन की अपेक्षा : आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ की हीनता आदि वश अवरोहित होने की स्थिति में एकमात्र अप्रमत्तसंयत नामक सातवें गुणस्थान से ही यहाँ आगमन होता है; अन्य कहीं से भी यहाँ आगमन नहीं है।

इस प्रमत्तसंयत नामक छठवें गुणस्थान के गमनागमन को हम संदृष्टि द्वारा इसप्रकार समझ सकते हैं –

छठवें प्रमत्तसंयत गुणस्थान का गमनागमन

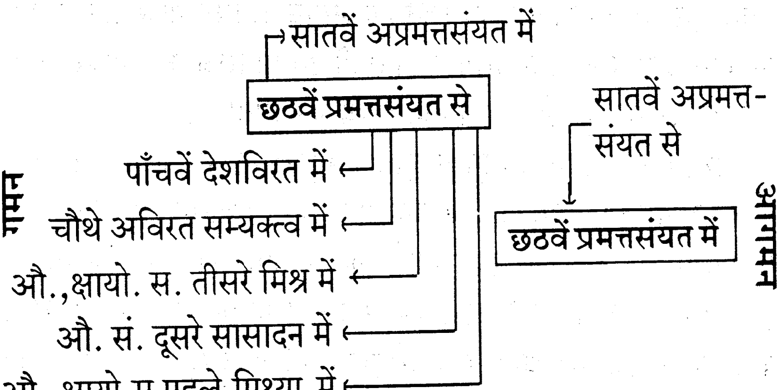

प्रश्न ४३ : सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : *सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री नेमिचंद्र-सिद्धान्त-चक्रवर्ती अपने गोम्मटसार जीवकांड नामक ग्रन्थ में लिखते हैं –*

"संजलणणोकसायाणुदओ मंदो जदा तदा होदि।
अपमत्तगुणो तेण य, अपमत्तो संजदो होदि ॥४५॥

जब संज्वलन और नो कषाय का मंद उदय होता है, तब अप्रमत्त गुण प्रगट होता है/प्रमाद का अभाव हो जाता है और उससे वे संयत अप्रमत्त-संयत हो जाते हैं।"

पूर्वोक्त पंद्रह प्रकार के प्रमादों का व्यक्त या अव्यक्तरूप इस गुणस्थान में विद्यमान नहीं होने से यह अप्रमत्तसंयत कहलाता है। यह तथा इससे आगे के गुणस्थान शुद्धोपयोग दशामय ही होते हैं। यद्यपि दशवें गुणस्थान तक कषाय का अस्तित्व है, तन्निमित्तक औदयिक भाव भी है; उसकी निमित्तता में यथायोग्य कर्मबंध भी होता है; तथापि वह विकृति छद्मस्थ ज्ञान-गोचर नहीं है; मात्र केवलज्ञान-गम्य है; अत: उसे गौणकर इन मुनिराज को शुद्धोपयोगमय आत्मध्यानरूप दशा-सम्पन्न अप्रमत्त ही कहा जाता है। इन भावों से सहित मुनिराज अप्रमत्त-संयमी कहलाते हैं।

अप्रमत्तविरत, सामायिक चारित्र इत्यादि इसके दूसरे नाम हैं। सम्यक्त्व की अपेक्षा इसके स्वस्थान भाग पर्यंत औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक

में से कोई एक रह सकता है; परन्तु सातिशय भाग में औपशमिक (द्वितीयोपशम) या क्षायिक ही रहता है; क्षायोपशमिक नहीं रहता है।

चारित्र की अपेक्षा यहाँ क्षायोपशमिक भाव कहा गया है। 'संयत' शब्द के साथ लगा 'अप्रमत्त' विशेषण यहाँ आदि-दीपक है; अर्थात् यह और इससे आगे के सभी गुणस्थान अप्रमत्त दशामय ही हैं।

यद्यपि इससे आगे के सभी मुनिराज अप्रमत्त-संयत ही होते हैं; तथापि उनके साथ अपूर्वकरण आदि विशेषण होने से उन्हें यहाँ ग्रहण नहीं करना है। यहाँ तो उन सभी से भिन्न एकमात्र अप्रमत्त-संयत नामक सातवें गुण-स्थानवर्ती मुनिराज ही विवक्षित हैं।

बुद्धिपूर्वक शुद्धोपयोगमय दशा होने से एक विवक्षा में यहाँ से ही 'उत्कृष्ट अंतरात्मा' नाम प्राप्त हो जाता है। अन्य विवक्षा में बारहवें गुण-स्थानवर्ती मुनिराज को उत्कृष्ट अंतरात्मा कहा जाता है। इसीप्रकार एक विवक्षा में यह चारित्र की अपेक्षा क्षायोपशमिक भाव का और ध्यान की अपेक्षा धर्म्यध्यान का अंतिम गुणस्थान है। अन्य विवक्षा में चारित्र अपेक्षा क्षायोपशमिक भाव और ध्यान की अपेक्षा धर्म्यध्यान – ये दोनों ही दशवें गुणस्थान पर्यंत रहते हैं।

यहाँ विद्यमान संज्वलन चतुष्क और यथायोग्य नो कषाय के उदय निमित्तक विकृत भाव से आयुष्क कर्म की एक देव आयुष्क कर्म प्रकृति का बंध होता है।

प्रश्न ४४ : अप्रमत्तसंयत नामक सातवें गुणस्थान के भेदों का स्वरूप बताते हुए उनका पारस्परिक अंतर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : अप्रमत्तसंयत नामक सातवें गुणस्थान के श्रेणी-आरोहण की अयोग्यता और योग्यता की अपेक्षा दो भेद हैं – १. स्वस्थान अप्रमत्त और २. सातिशय अप्रमत्त।

१. स्वस्थान अप्रमत्त-संयत : इसे निरतिशय अप्रमत्त-संयत भी कहते हैं। इसका स्वरूप आचार्यश्री नेमिचंद्र-सिद्धान्त-चक्रवर्ती गोम्मटसार जीवकांड में इसप्रकार लिखते हैं –

''णट्ठासेसपमादो, वयगुणसीलोलिमंडिओ णाणी।
अणुवसमओ अखबओ, झाणणिलीणो हु अपमत्तो ॥४६॥

अनुपशमक या अक्षपक अर्थात् उपशम या क्षपक श्रेणी का आरोहण नहीं करने वाले, सम्पूर्ण प्रमादों से रहित, व्रत-गुण और शील से सुसज्जित, ध्यान-लीन ज्ञानी स्वस्थान अप्रमत्त-संयत हैं।''

ये प्रति अंतर्मुहूर्त-अंतर्मुहूर्त में छठवें-सातवें में ही झूलते रहते हैं।

२. सातिशय अप्रमत्त-संयत : इसका स्वरूप बताते हुए वे वहीं लिखते हैं –

''इगवीसमोहखबणुबसमणणिमित्ताणि तिकरणाणि तहिं।
पढमं अधापवत्तं, करणं तु करेदि अपमत्तो ।।४७।।

अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण-संज्वलन संबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ और नौ नो कषायें – इन मोहनीय कर्म की २१ प्रकृतिओं के क्षपण या उपशमन में निमित्त तीन करण हैं। उनमें से प्रथम अध:प्रवृत्त करण को करने वाला सातिशय अप्रमत्त-संयत कहलाता है।''

ये चढ़ते समय नियम से अगले ही क्षण आठवें गुणस्थान को प्राप्त कर लेते हैं।

यद्यपि ये दोनों एक अप्रमत्त-संयत गुणस्थानवर्ती ही हैं; तथापि इनमें कुछ पारस्परिक अंतर भी है। वह इसप्रकार है –

स्वस्थान अप्रमत्त-संयत	**सातिशय अप्रमत्त-संयत**
१. इस दशा से मुनिराज छठवें गुणस्थान में आ सकते हैं।	इससे वे छठवें में नहीं आते हैं। चढ़ते समय आठवें में जाते हैं।
२. इसमें करण नहीं होते हैं।	इसमें अध:प्रवृत्तकरण होता है।
३. इसमें तीनों सम्यक्त्वों में से कोई सा भी हो सकता है।	इसमें क्षायोपशमिक सम्यक्त्ववाले नहीं होते हैं।
४. इसमें श्रेणी के आरोहण का पुरुषार्थ नहीं होता है।	इसमें श्रेणी-आरोहण का पुरुषार्थ होता है।
५. यह अभी इस पंचमकाल में भी होता है।	यह अभी यहाँ नहीं हो सकता है।

६. इसमें मरण हो सकता है।	इसमें मरण नहीं होता है।
७. यह एक भव के मुनि जीवन में अनेकों बार होता रहता है।	यह अनेकों बार नहीं होता है; इसकी संख्या सीमित है।
८. इसमें अनंतगुणी विशुद्धि आदि चार आवश्यक नहीं होते हैं।	इसमें अनंतगुणी विशुद्धि आदि चार आवश्यक होते हैं।
९. इसमें अनुकृष्टि रचना नहीं है।	इसमें अनुकृष्टि रचना होती है।

इत्यादि अनेक प्रकार से इन दोनों में पारस्परिक अंतर है।

प्रश्न ४५ : अप्रमत्त-संयत नामक सातवें गुणस्थान का काल बताइए।

उत्तर : सामान्य से इसका काल यथायोग्य अंतर्मुहूर्त है; तथापि भावों की विविध विचित्रता से उसके अनेक भेद हो जाते हैं। वे इसप्रकार हैं –

मनुष्य आयु के क्षय की अपेक्षा इसका जघन्य-काल एक समय है; इन परिणामों की अपेक्षा उत्कृष्ट-काल अंतर्मुहूर्त है तथा दो समय से लेकर यथायोग्य अंतर्मुहूर्त में से एक समय कम पर्यंत सभी समय-भेद इसके मध्यम-काल हैं।

प्रश्न ४६ : अप्रमत्तसंयत नामक सातवें गुणस्थान का गुणस्थान की अपेक्षा गमनागमन स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : परिणामों आदि की विविधता के कारण गुणस्थान की अपेक्षा इसके गमनागमन में भी विविधता है। जो इसप्रकार है –

गमन की अपेक्षा : सातिशय अप्रमत्त-संयत मुनिराज का आत्मोन्मुखी अपूर्व पुरुषार्थ द्वारा आरोहण मात्र आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान में ही होता है। पुरुषार्थ की हीनता वश अवरोहण की स्थिति में प्रमत्त-संयत नामक छठवें गुणस्थान में गमन होता है। शुद्धोपयोगमय इस गुणस्थान में मरण होने पर विग्रह गति के काल में उन मुनिराज का अविरत सम्यक्त्व नामक चौथा गुणस्थान हो जाता है।

आगमन की अपेक्षा : सादि या अनादि मिथ्यादृष्टि आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ द्वारा आरोहण कर इस गुणस्थान को प्राप्त कर लेता है। कोई चौथे या पाँचवें गुणस्थानवर्ती द्रव्यलिंगी मुनिराज भी आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ द्वारा इसे प्राप्त

कर लेते हैं। छठवें प्रमत्त-संयत गुणस्थानवर्ती मुनिराज तो अपने पुरुषार्थ द्वारा इसे प्राप्त करते ही रहते हैं। नियम से पुरुषार्थ की हीनता आदि की स्थिति में उपशम श्रेणी से च्युत होने पर आठवें अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती मुनिराज भी अवरोहित हो इसे प्राप्त होते हैं।

इस सम्पूर्ण गमनागमन को संदृष्टि द्वारा इसप्रकार समझ सकते हैं –

सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान का गमनागमन

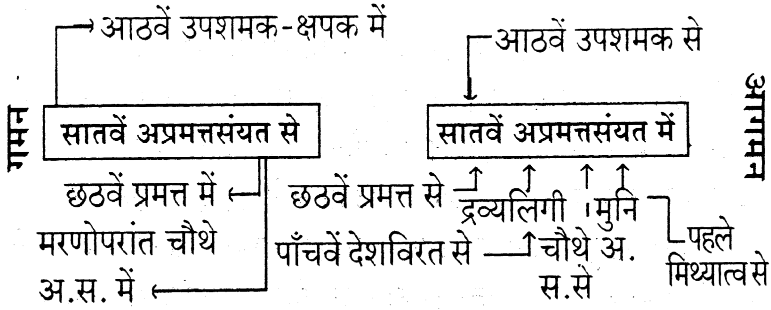

प्रश्न ४७ : अपूर्वकरण गुणस्थान नामक आठवें गुणस्थान का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : प्रतिसमय शुद्ध होते हुए अंतर्मुहूर्त कालवाले अध:प्रवृत्त-करण को व्यतीत कर प्राप्त होने वाले अपूर्वकरण का स्वरूप बताते हुए आचार्यश्री नेमिचंद्र-सिद्धान्त-चक्रवर्ती गोम्मटसार जीवकांड ग्रन्थ में लिखते हैं –

''एदम्हि गुणट्ठाणे विसरिससमयट्ठियेहिं जीवेहिं।
पुव्वमपत्ता जम्हा, होंति अपुव्वा हु परिणामा ।।५१।।
भिण्णसमयट्ठियेहिं दु, जीवेहिं ण होदि सव्वदा सरिसो।
करणेहिं एक्कसमयट्ठियेहिं सरिसो विसरिसो वा ।।५२।।
अंतोमुहुत्तमेते, पडिसमयमसंखलोगपरिणामा।
कमउड्ढापुव्वगुणे, अणुकट्टी णत्थि णियमेण ।।५३।।

इस गुणस्थान में पहले कभी भी प्राप्त नहीं हुए अपूर्व परिणामों को ही भिन्न समयवर्ती जीव प्राप्त करते हैं; अत: इन्हें अपूर्व-करण कहते हैं।

इसमें भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम विशुद्धि की अपेक्षा कभी भी समान नहीं होते हैं; परन्तु एक समयवर्ती जीवों के परिणाम उस विशुद्धि की अपेक्षा समान और असमान – दोनों प्रकार के होते हैं।

इस गुणस्थान के अंतर्मुहूर्त काल में उत्तरोत्तर प्रतिसमय क्रम से बढ़ते हुए असंख्यात लोक प्रमाण अपूर्व परिणाम होते हैं। इसमें नियम से अनुकृष्टि रचना नहीं होती है।''

इस दशा का पूरा नाम अपूर्वकरण-प्रविष्ट-शुद्धि-संयत गुणस्थान है। अपूर्व=पहले कभी नहीं हुए; करण=परिणाम; प्रविष्ट=प्रकृष्टरूप से विराजमान/विद्यमान; शुद्धि-शुद्ध दशा/शुद्धोपयोग से सहित; संयत=सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र से सहित और अंतरंग-बहिरंग आस्रवों से रहित मुनिराज अर्थात् पहले कभी भी प्राप्त नहीं हुए परिणामों से सम्पन्न शुद्धोपयोगमय, सम्यक् रत्नत्रयी मुनिराज अपूर्वकरण प्रविष्ट शुद्धि संयत गुणस्थानवर्ती कहलाते हैं।

इस गुणस्थान में भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम पूर्णतया भिन्न-भिन्न होने से अनुकृष्टि रचना नहीं होती है। यहाँ अध:प्रवृत्त करण में होने वाले चारों आवश्यक तो होते ही हैं; इनके साथ ही इस गुणस्थान संबंधी १. गुणश्रेणी निर्जरा, २. गुण संक्रमण, ३. स्थिति खंडन और ४. अनुभाग खंडन – ये चार आवश्यक भी नियम से होते हैं।

सम्यक्त्व की अपेक्षा यहाँ द्वितीयोपशमरूप औपशमिक अथवा क्षायिक सम्यक्त्व ही रहता है; क्षायोपशमिक सम्यक्त्व नहीं रहता है।

चारित्र की अपेक्षा यहाँ मिथ्यात्व, अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण का यथायोग्य अभाव तथा संज्वलन और नो कषायों का मंदतर उदय होने से वास्तव में क्षायोपशमिक भाव है; परन्तु क्षपक श्रेणी वाले नियम से शीघ्र ही क्षायिक चारित्र को और मरण रहित दशा में उपशम श्रेणी वाले औपशमिक चारित्र को प्राप्त करने वाले होने के कारण भावी नैगमनय की अपेक्षा उपचार से क्रमश: क्षायिक चारित्र और औपशमिक चारित्र भी कहा गया है।

इसे ही आचार्यश्री नेमिचंद्र-सिद्धान्त-चक्रवर्ती वहीं इन अपूर्वकरण परिणामों के फल के रूप में इसप्रकार व्यक्त करते हैं –

''तारिसपरिणामट्ठियजीवा हु जिणेहिं गलियतिमिरेहिं।
मोहस्सपुव्वकरणा, खबणुबसमणुज्जया भणिया ।।५४।।

णिद्दापयले नट्ठे, सदि आउ उबसमंति उबसमया।
खबयं ढुक्के खबया, णियमेण खबंति मोहं तु।।५५।।

अज्ञान-अंधकार से सर्वथा रहित जिनेन्द्रदेव ने कहा है कि उन परिणामों में स्थित ये अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती जीव मोहनीय की शेष प्रकृतिओं का क्षपण या उपशमन करने में उद्यत रहते हैं।

निद्रा और प्रचला नष्ट हो जाने के बाद आयु शेष रहने पर उपशम श्रेणी का आरोहण करने वाले नियम से मोह का उपशम करते हैं और क्षपक श्रेणी का आरोहण करनेवाले उसका क्षय करते हैं।''

संज्वलन और नोकषाय के मंदतर उदय निमित्तक इन भावों से इस गुणस्थान के पहले भाग पर्यंत निद्रा और प्रचलारूप दो दर्शनावरण कर्म प्रकृतिओं का; छठवें भाग पर्यंत तीर्थंकर प्रकृति, निर्माण, प्रशस्त-विहायोगति, पंचेन्द्रिय जाति, तैजस, कार्मण, आहारक शरीर, आहारक शरीर अंगोपांग, समचतुरस्र संस्थान, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, वैक्रियिक शरीर, वैक्रियिक शरीर अंगोपांग, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, त्रस, बादर, पर्याप्ति, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेयरूप नामकर्म की तीस प्रकृतिओं का तथा इसके सातवें भाग पर्यंत हास्य, रति, भय और जुगुप्सारूप मोहनीय कर्म की चार प्रकृतिओं का – इसप्रकार कुल ३६ प्रकृतिओं का बंध होता है।

प्रश्न ४८ : इस अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान के भेदों का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : मोहनीय कर्म के उपशमन या क्षपण निमित्तक श्रेणी/वृद्धिंगत वीतरागी भावों की अपेक्षा इस अपूर्वकरण गुणस्थान के भी दो भेद हैं –

१. उपशमक अपूर्वकरण प्रविष्ट शुद्धि संयत : जिन अपूर्वकरण रूप परिणामों की निमित्तता में मोहनीय की अप्रत्याख्यानावरण आदि २१ प्रकृतिओं का उपशम होता है; उन्हें उपशमक अपूर्वकरण प्रविष्ट शुद्धि संयत कहते हैं। ये क्षायिक और औपशमिक/द्वितीयोपशम सम्यक्त्विओं में से किसी के भी हो सकते हैं। यद्यपि इसके पहले भाग में नियम से मरण नहीं होता है; तथापि आयु-क्षय की स्थिति में अन्य भागों में मरण हो सकता है। यह आरोहण और अवरोहण – दोनों ही स्थितिओं में होता है।

इसमें क्षायोपशमिक चारित्र के साथ ही उपचार से औपशमिक चारित्र भी कहा गया है। यह एक मुनि-जीवन में श्रेणी आरोहण-अवरोहण की अपेक्षा दो-दो बार तथा मोक्ष होने पर्यंत के काल में अधिक से अधिक चार-चार बार हो सकता है; इसके बाद नियम से क्षपक अपूर्वकरण प्रविष्ट शुद्धि संयत दशा ही हो जाती है। इसमें आयु-क्षय होने पर नियम से देवगति ही प्राप्त होती है।

२. क्षपक अपूर्वकरण प्रविष्ट शुद्धि संयत : जिन अपूर्वकरण रूप परिणामों की निमित्तता में मोहनीय की उन २१ प्रकृतिओं का क्षय होता है; उन्हें क्षपक अपूर्वकरण प्रविष्ट शुद्धि संयत कहते हैं। ये मात्र क्षायिक सम्यक्त्विओं के ही होते हैं। यह मात्र आरोहण की स्थिति में ही होता है।

इसमें भी क्षायोपशमिक चारित्र के साथ ही उपचार से क्षायिक चारित्र भी कहा गया है। यह मोक्ष होने पर्यंत के काल में मात्र एक बार ही होता है। इस परिणामवाले नियम से उसी भव में ही आत्म-साधना पूर्ण कर निर्वाण प्राप्त करते हैं।

इसप्रकार श्रेणी की अपेक्षा इस गुणस्थान के दो भेद हैं।

प्रश्न ४९ : इस अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान का काल स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : सामान्य से तो इस गुणस्थान का काल अंतर्मुहूर्त ही है; परन्तु परिणामों आदि की विविध विचित्रता के कारण इस काल में भी विविधता हो जाती है। वह इसप्रकार है –

अवरोहण के समय मनुष्यायु के क्षय की स्थिति में इसका जघन्य-काल मात्र एक समय है। आरोहण के समय उपशम श्रेणी वाले का भी पहले भाग में मरण नहीं होने के कारण उस स्थिति में जघन्य-काल एक समय नहीं बनता है। उत्कृष्ट-काल यथायोग्य अंतर्मुहूर्त है। उपशम श्रेणी वाले के आयु-क्षय की स्थिति में दो समय से लेकर यथायोग्य अंतर्मुहूर्त के एक समय पूर्व पर्यंत के सभी समय मध्यम-काल-भेद हो सकते हैं।

प्रश्न ५० : इस अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान का गुणस्थान की अपेक्षा गमनागमन स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : परिणाम आदि की विविधता-विचित्रता के कारण इसके गमनागमन

में भी विविधता है। जो इसप्रकार है –

गमन की अपेक्षा : श्रेणी आरोहण की स्थिति में दोनों ही श्रेणी वाले नियम से अनिवृत्तिकरण नामक नवमें गुणस्थान में ही गमन करते हैं। उपशम श्रेणीवाले मुनिराज अवरोहण के समय अप्रमत्तसंयत नामक सातवें गुण-स्थान में गमन करते हैं तथा इसी स्थिति वाले मरण की अपेक्षा सीधे चौथे अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान में गमन करते हैं।

आगमन की अपेक्षा – दोनों ही श्रेणीवाले आरोहण की अपेक्षा एकमात्र अप्रमत्तसंयत नामक सातवें गुणस्थान से ही यहाँ आते हैं तथा मात्र उपशम श्रेणीवाले अवरोहित हो, नवमें अनिवृत्तिकरण से भी इसमें आते हैं।

इसे हम संदृष्टि द्वारा इसप्रकार समझ सकते हैं –

आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान का गमनागमन

क्षपक श्रेणी की अपेक्षा **उपशम श्रेणी की अपेक्षा**

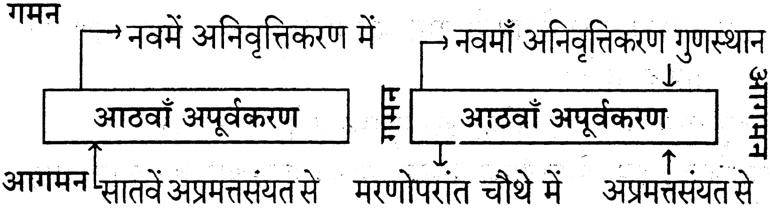

प्रश्न ५१ : अनिवृत्तिकरण नामक नवमें गुणस्थान का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : आचार्य नेमिचंद्र-सिद्धान्त-चक्रवर्ती अपने गोम्मटसार जीव-काण्ड ग्रन्थ में इसका स्वरूप और कार्य बताते हुए लिखते हैं –

"एकम्हि कालसमये, संठाणादीहिं जह णिवट्टंति।
ण णिवट्टंति तहावि य, परिणामेहिं मिहो जेहिं।।५६।।
होंति अणियट्टिणो ते, पडिसमयं जेस्सिमेक्कपरिणामा।
विमलयरझाणहुयवहसिहाहिं णिद्दड्ढकम्मवणा।।५७।।

जैसे एक ही काल में एक समयवर्ती जीव संस्थान/शरीर के आकार आदि की अपेक्षा निवर्तित/भिन्न-भिन्न होते हैं; उसीप्रकार जिन परिणामों से परस्पर में निवर्तित/भेद को प्राप्त नहीं हैं; उन्हें अनिवृत्तिकरण कहते हैं। प्रतिसमयवर्ती एक-एक ही होनेवाले ये परिणाम अत्यंत निर्मल ध्यानरूपी

अग्नि की शिखाओं द्वारा कर्मरूपी वन को भस्म कर देते हैं।''

इस दशा का पूरा नाम अनिवृत्तिकरण-बादर-साम्पराय-प्रविष्ट-शुद्धि-संयत गुणस्थान है। अनिवृत्ति शब्द का जो विश्लेषण आचार्य वीरसेन स्वामी ने अपनी धवल टीका में किया है, उसका हिन्दी-सार इसप्रकार है – ''समान समयवर्ती जीवों के परिणामों की भेदरहित वृत्ति को निवृत्ति कहते हैं अथवा निवृत्ति शब्द का अर्थ व्यावृत्ति भी है। जिन परिणामों की निवृत्ति अर्थात् व्यावृत्ति नहीं होती है; उन्हें अनिवृत्तिकरण कहते हैं।''

बादर=स्थूल, साम्पराय=कषाय; प्रविष्ट=प्रकृष्टरूप से विराजमान/विद्यमान; शुद्धि=शुद्ध दशा/शुद्धोपयोग से सहित; संयत=सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र से सहित और अंतरंग-बहिरंग आस्रवों से रहित मुनिराज अर्थात् भेद रहित परिणामों से युक्त, स्थूल कषाय सहित, शुद्धोपयोगमय, सम्यक् रत्नत्रयी मुनिराज अनिवृत्तिकरण-बादर-साम्पराय-प्रविष्ट-शुद्धि-संयत गुणस्थानवर्ती कहलाते हैं।

इसमें प्रतिसमयवर्ती परिणाम पूर्णतया सुनिश्चित होने से समान समयवर्ती जीवों के परिणाम सुनिश्चित समान और भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम पूर्णतया सुनिश्चित असमान ही होते हैं। यहाँ प्रतिसमयवर्ती परिणामों में जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट का भी भेद नहीं होता है।

इसमें अपूर्वकरण के समान गुण श्रेणी निर्जरा आदि चारों आवश्यक होते हैं। हजारों स्थिति खंडन आदि के माध्यम से अनिवृत्तिकरण के पूर्व पाए जाने वाले पूर्व स्पर्धक अनिवृत्तिकरण के कारण अनुभाग की अनंतगुणी क्षीणता को प्राप्त अपूर्व-स्पर्धकरूप और अपूर्व-स्पर्धक इनसे भी अनंतगुणी क्षीणता वाले अनुभाग युक्त बादर कृष्टिरूप होकर इस गुणस्थान के अंतिम समय तक आते-आते बादर कृष्टि से भी अनंतगुणी क्षीणता वाले अनुभाग युक्त सूक्ष्म-कृष्टिरूप हो जाते हैं अर्थात् चारित्र मोहनीय की पूर्वोक्त २१ प्रकृतिओं में से परस्पर संक्रमित होते-होते इसके अंतिम समय में मात्र सूक्ष्म लोभरूप एक ही प्रकृति शेष रह जाती है।

इस गुणस्थान के नाम में आया 'बादर साम्पराय' पद अंत्य दीपक है अर्थात् यहाँ पर्यंत के सभी गुणस्थानों में स्थूल कषाय ही थी।

सम्यक्त्व की अपेक्षा यहाँ द्वितीयोपशमरूप औपशमिक अथवा क्षायिक सम्यक्त्व ही रहता है; क्षायोपशमिक सम्यक्त्व नहीं रहता है।

चारित्र की अपेक्षा यहाँ मिथ्यात्व, अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण का यथायोग्य अभाव तथा संज्वलन और शेष रहीं नो कषायों का क्रमशः रूपांतरणरूप मंदतम उदय होने से वास्तव में क्षायोपशमिक भाव है; तथापि क्षपक श्रेणीवाले नियम से शीघ्र ही क्षायिक चारित्र को और मरण रहित दशा में उपशम श्रेणीवाले औपशमिक चारित्र को प्राप्त करनेवाले होने के कारण भावी नैगमनय की अपेक्षा उपचार से क्रमशः क्षायिक चारित्र और औपशमिक चारित्र भी कहा गया है।

चारित्र-मोहनीय के मदंतम उदय निमित्तक इन भावों से पुरुषवेद; संज्वलन-क्रोध, मान, माया, लोभरूप चारित्र-मोहनीय की पाँच प्रकृतिओं का बंध होता है।

प्रश्न ५२ : अनिवृत्तिकरण नामक इस नवमें गुणस्थान के भेदों का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : मोहनीय कर्म के उपशमन या क्षपण निमित्तक श्रेणी/वृद्धिंगत वीतरागी भावों की अपेक्षा इसके भी दो भेद हो जाते हैं –

१. उपशमक अनिवृत्तिकरण बादर साम्पराय प्रविष्ट शुद्धि संयत : जिन अनिवृत्तिकरणरूप परिणामों की निमित्तता में मोहनीय कर्म की पूर्वोक्त २१ प्रकृतिओं का उपशम होता है; उन्हें उपशमक अनिवृत्तिकरण बादर साम्पराय प्रविष्ट शुद्धि संयत कहते हैं। ये क्षायिक और औपशमिक/द्वितीयोपशम सम्यक्त्विओं में से किसी के भी हो सकते हैं। यह श्रेणी के आरोहण और अवरोहण – दोनों ही स्थितिओं में हो सकता है। आयुक्षय की स्थिति में इसमें मरण भी हो सकता है।

इसमें क्षायोपशमिक चारित्र के साथ ही उपचार से औपशमिक चारित्र भी कहा गया है। यह एक मुनि जीवन में श्रेणी आरोहण-अवरोहण की अपेक्षा दो-दो बार तथा मोक्ष होने पर्यंत के काल में अधिक से अधिक चार-चार बार हो सकता है; इसके बाद नियम से क्षपक दशा हो जाती है। इसमें आयु-क्षय होने पर नियम से देवगति ही प्राप्त होती है।

२. क्षपक अनिवृत्तिकरण बादर साम्पराय प्रविष्ट शुद्धि संयत : जिन

अनिवृत्तिकरणरूप परिणामों की निमित्तता में मोहनीय कर्म की पूर्वोक्त २१ प्रकृतिओं का क्षय होता है; उन्हें क्षपक अनिवृत्तिकरण बादर साम्पराय प्रविष्ट शुद्धि संयत कहते हैं। ये मात्र क्षायिक सम्यक्त्विओं के ही होते हैं। यह मात्र श्रेणी-आरोहण की स्थिति में ही होता है।

इसमें क्षायोपशमिक चारित्र के साथ ही उपचार से क्षायिक चारित्र भी कहा गया है। यह मोक्ष होने पर्यंत के काल में मात्र एकबार ही होता है। इस परिणामवाले नियम से उसी भव में ही आत्मसाधना पूर्ण कर निर्वाण प्राप्त करते हैं।

इसप्रकार श्रेणी की अपेक्षा इस गुणस्थान के दो भेद हैं।

प्रश्न ५३ : इस अनिवृत्तिकरण नामक नवमें गुणस्थान का काल स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : सामान्य से तो इस गुणस्थान का काल यथायोग्य अंतर्मुहूर्त ही है; परन्तु परिणामों आदि की विविध विचित्रता के कारण इस काल में भी विविधता हो जाती है। वह इसप्रकार है –

श्रेणी आरोहण-अवरोहण के समय मनुष्यायु के क्षय की स्थिति में इस गुणस्थान का जघन्य-काल एक समय है। इसका उत्कृष्ट-काल यथायोग्य अंतर्मुहूर्त है तथा आयु-क्षय की स्थिति में दो समय से लेकर यथायोग्य अंतर्मुहूर्त के एक समय पूर्व पर्यंत के सभी समय इसके मध्यम-काल-भेद हो सकते हैं।

प्रश्न ५४ : इस अनिवृत्तिकरण नामक नवमें गुणस्थान का गुणस्थान की अपेक्षा गमनागमन स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : परिणामों आदि की विविध विचित्रता के कारण इसके गमनागमन में भी विविधता है। जो इसप्रकार है –

गमन की अपेक्षा : श्रेणी-आरोहण की स्थिति में दोनों ही श्रेणी वाले नियम से सूक्ष्म-साम्पराय नामक दशवें गुणस्थान में ही गमन करते हैं। उपशम श्रेणीवाले मुनिराज अवरोहण के समय अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान में तथा आयु-क्षय की स्थिति में सीधे चौथे अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान में गमन करते हैं।

आगमन की अपेक्षा : श्रेणी-आरोहण की अपेक्षा दोनों ही श्रेणी वाले

नियम से अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान से ही यहाँ आते हैं तथा मात्र उपशम श्रेणीवाले अवरोहित हो दशवें सूक्ष्म-साम्पराय-गुणस्थान से भी यहाँ आते हैं।

इसे हम संदृष्टि द्वारा इसप्रकार समझ सकते हैं –

नवमें अनिवृत्तिकरण गुणस्थान का गमनागमन

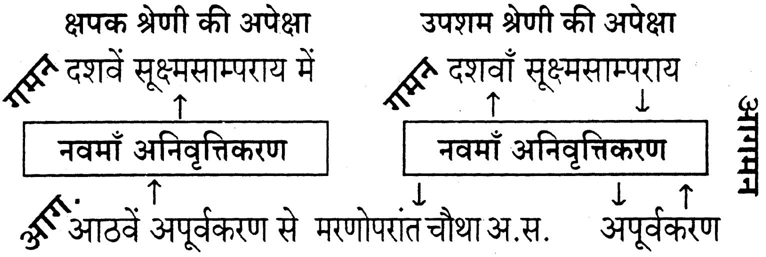

प्रश्न ५५ : अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरणरूप परिणाम पहले मिथ्यात्व गुणस्थान के अंत में करणलब्धि के समय भी हुए थे, यथायोग्य अन्य गुण-स्थानों में भी होते हैं; तब फिर उन्हें पृथक् गुणस्थानरूप में क्यों नहीं गिना जाता है; एकमात्र इन्हें ही पृथक् गुणस्थानरूप में क्यों गिना गया है?

उत्तर : जिन परिणामों से कर्मों के बंध, उदय, सत्त्व आदि कम या नष्ट होते हैं, उन्हें ही पृथक् गुणस्थानरूप में गिना जाता है। इन आठवें, नवमें गुणस्थानवर्ती क्रमशः अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरणरूप परिणामों से कर्मों के बंध आदि कम या नष्ट होने के कारण इन्हें पृथक् गुणस्थान में गिना है; परन्तु अन्यत्र होने वाले इन परिणामों से कर्मों के बंध आदि कम या नष्ट नहीं होते हैं; अतः उन्हें पृथक् से गुणस्थानरूप में नहीं गिना गया है।

प्रश्न ५६ : दशवें सूक्ष्म-साम्पराय गुणस्थान का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : इस गुणस्थान का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्यश्री नेमिचंद्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती अपने गोम्मटसार जीवकांड ग्रन्थ में लिखते हैं –

"धुदकोसुंभयवत्थं, होहि जहा सुहमरायसंजुत्तं।
एवं सुहमकसाओ, सुहमसरागोत्ति णादव्वो ॥५८॥
अणुलोहं वेदंतो, जीवो उबसामगो व खबगो वा।
सो सुहमसांपराओ, जहखादेणूणओ किंचि ॥६०॥

जैसे धुला हुआ कौसुंभी/कसूमी वस्त्र सूक्ष्म लालिमा से सहित होता

है; उसीप्रकार सूक्ष्म कषाय से सहित सूक्ष्म सराग जानना चाहिए।

सूक्ष्म-लोभ का वेदन करता हुआ उपशमक या क्षपक जीव सूक्ष्म-साम्पराय गुणस्थानवर्ती और यथाख्यात चारित्र से कुछ ही कम है।''

इस दशा का पूरा नाम सूक्ष्म-साम्पराय-प्रविष्ट-शुद्धि-संयत गुणस्थान है। सूक्ष्म=अत्यल्प अनुभाग, साम्पराय=कषाय, प्रविष्ट=प्रकृष्टरूप से विराजमान/विद्यमान, शुद्धि=शुद्धदशा/शुद्धोपयोग से सहित, संयत=सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र से सहित और अंतरंग-बहिरंग आस्रवों से रहित मुनिराज अर्थात् अत्यल्प अनुभागवाली मात्र सूक्ष्म-लोभ कषाय से सहित शुद्धोपयोगमय, सम्यक् रत्नत्रयी मुनिराज सूक्ष्म-साम्पराय-प्रविष्ट-शुद्धि-संयत गुणस्थानवर्ती हैं।

अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण संबंधी सभी विशेषताएँ इन परिणामों में भी विद्यमान हैं। यहाँ साम्पराय शब्द अंत्य-दीपक है अर्थात् इससे आगे के सभी गुणस्थान साम्पराय/कषाय रहित, निष्कषायी, वीतरागता-सम्पन्न ही हैं।

सम्यक्त्व की अपेक्षा यहाँ द्वितीयोपशमरूप औपशमिक अथवा क्षायिक सम्यक्त्व ही रहता है; क्षायोपशमिक सम्यक्त्व नहीं रहता है।

चारित्र की अपेक्षा यहाँ मोहनीय की शेष प्रकृतिओं का यथायोग्य अभाव हो जाने पर भी सूक्ष्म-लोभ प्रकृति का उदय होने से वास्तव में क्षायोपशमिक भाव है; परन्तु अति शीघ्र क्षपक श्रेणीवाले नियम से क्षायिक चारित्र को और मरणरहित दशा में उपशम श्रेणीवाले औपशमिक चारित्र को प्राप्त करनेवाले होने के कारण भावी नैगमनय की अपेक्षा उपचार से क्रमशः क्षायिक चारित्र और औपशमिक चारित्र भी कहा गया है।

अति क्षीण अनुभागवाले सूक्ष्म-लोभ के उदय निमित्तक इन भावों से मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरणरूप ५ ज्ञानावरण; चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शना-वरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरणरूप ४ दर्शनावरण; दानांतराय, लाभांतराय, भोगांतराय, उपभोगांतराय और वीर्यांतराय रूप ५ अंतराय; उच्च-गोत्ररूप एक गोत्रकर्म और यशस्कीर्तिरूप एक नामकर्म – इसप्रकार कुल १६ कर्म-प्रकृतिओं का बंध होता है।

प्रश्न ५७ : इस दशवें सूक्ष्म-साम्पराय नामक गुणस्थान के भेदों का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : मोहनीय कर्म के उपशमन या क्षपण निमित्तक श्रेणी/वृद्धिंगत वीतरागी भावों की अपेक्षा इस सूक्ष्म-साम्पराय गुणस्थान के भी दो भेद हो जाते हैं –

१. उपशमक सूक्ष्म-साम्पराय प्रविष्ट शुद्धि संयत : जिन सूक्ष्म-साम्परायरूप परिणामों की निमित्तता में सूक्ष्म-लोभ का उपशम होता है; उन्हें उपशमक सूक्ष्म-साम्पराय प्रविष्ट शुद्धि संयत कहते हैं। ये क्षायिक और औपशमिक/द्वितीयोपशम सम्यक्त्विओं में से किसी को भी हो सकते हैं। यह श्रेणी के आरोहण और अवरोहण – दोनों ही स्थितिओं में हो सकता है। आयु-क्षय की स्थिति में इसमें मरण भी हो सकता है।

इसमें क्षायोपशमिक चारित्र के साथ ही उपचार से औपशमिक चारित्र भी कहा गया है। यह एक मुनि-जीवन में श्रेणी-आरोहण-अवरोहण की अपेक्षा दो-दो बार तथा मोक्ष होने पर्यंत के काल में अधिक से अधिक चार-चार बार हो सकता है; इसके बाद नियम से क्षपक दशा हो जाती है। इसमें आयु-क्षय होने पर नियम से देवगति ही प्राप्त होती है।

२. क्षपक सूक्ष्म-साम्पराय प्रविष्ट शुद्धि संयत : जिन सूक्ष्म-साम्पराय रूप परिणामों की निमित्तता में सूक्ष्म-लोभ का क्षय होता है; उन्हें क्षपक सूक्ष्म-साम्पराय प्रविष्ट शुद्धि संयत कहते हैं। ये मात्र क्षायिक सम्यक्त्विओं के ही होते हैं। यह मात्र श्रेणी-आरोहण की स्थिति में ही होता है।

इसमें क्षायोपशमिक चारित्र के साथ ही उपचार से क्षायिक चारित्र भी कहा गया है। यह मोक्ष होने पर्यंत काल में मात्र एक बार ही होता है। इस परिणामवाले नियम से उसी भव में आत्मसाधना पूर्ण कर निर्वाण प्राप्त करते हैं।

इसप्रकार श्रेणी की अपेक्षा इस गुणस्थान के दो भेद हैं।

प्रश्न ५७ : इस सूक्ष्म-साम्पराय नामक दशवें गुणस्थान का काल स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : सामान्य से तो इस गुणस्थान का काल अंतर्मुहूर्त ही है; परन्तु परिणामों आदि की विविध विचित्रता के कारण इस काल में भी विविधता

हो जाती है। वह इसप्रकार है–

श्रेणी-आरोहण-अवरोहण के समय मनुष्यायु के क्षय की स्थिति में इस गुणस्थान का जघन्य-काल एक समय है। इसका उत्कृष्ट-काल यथायोग्य एक अंतर्मुहूर्त है तथा आयु-क्षय की स्थिति में दो समय से लेकर यथायोग्य अंतर्मुहूर्त के एक समय पूर्व पर्यंत के सभी समय इसके मध्यम-काल-भेद हो सकते हैं।

प्रश्न ५८ : इस सूक्ष्म-साम्पराय नामक दशवें गुणस्थान का गुणस्थान की अपेक्षा गमनागमन स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : परिणामों आदि की विविध विचित्रता के कारण इसके गमनागमन में भी विविधता है। जो इसप्रकार है –

गमन की अपेक्षा : श्रेणी-आरोहण की स्थिति में उपशम-श्रेणीवाले ग्यारहवें उपशांत-मोह और क्षपक-श्रेणीवाले बारहवें क्षीण-मोह गुणस्थान में गमन करते हैं। उपशम-श्रेणीवाले मुनिराज अवरोहण के समय नवमें अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में और आयु-क्षय की स्थिति में सीधे चौथे अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान में गमन करते हैं।

आगमन की अपेक्षा : श्रेणी-आरोहण की स्थिति में दोनों ही श्रेणीवाले नियम से अनिवृत्तिकरण नामक नवमें गुणस्थान से ही यहाँ आते हैं तथा अवरोहण की अपेक्षा मात्र उपशम-श्रेणीवाले ही अवरोहित हो ग्यारहवें उपशांत-मोह गुणस्थान से यहाँ आते हैं।

इसे हम संदृष्टि द्वारा इसप्रकार समझ सकते हैं –

दशवें सूक्ष्म-साम्पराय गुणस्थान का गमनागमन

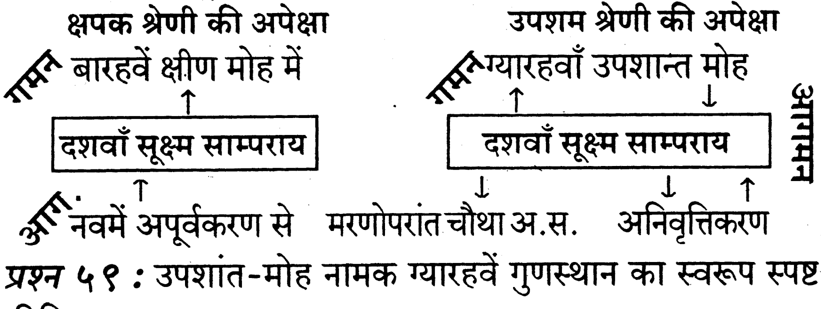

प्रश्न ५९ : उपशांत-मोह नामक ग्यारहवें गुणस्थान का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : एकमात्र उपशम-श्रेणी से ही आरोहण की स्थिति में प्राप्त होनेवाले तथा नियम से नष्ट होनेवाले इस गुणस्थान का स्वरूप बताते हुए आचार्यश्री नेमिचंद्र-सिद्धान्त-चक्रवर्ती अपने गोम्मटसार जीवकाण्ड नामक ग्रन्थ में लिखते हैं –

"**कदकफलजुदजलं वा, सरए सरवाणियं व णिम्मलयं।**
सयलोबसंतमोहो, उबसंतकसायओ होदि ॥६१॥

कतक/निर्मली फल से सहित जल के समान या शरद-कालीन सरोवर के जल के समान सम्पूर्ण मोह के उपशम की निमित्तता में व्यक्त हुई दशा उपशांत-कषाय/मोह कहलाती है।"

इस गुणस्थान का पूरा नाम उपशांत-मोह/कषाय-वीतराग-छद्मस्थ है। इसका जो विश्लेषण आचार्य वीरसेन स्वामी ने अपनी धवल टीका में किया है; उसका हिन्दी-सार इसप्रकार है –

"जिनकी कषायें उपशांत हो गई हैं, उन्हें उपशांत-कषाय कहते हैं। जिनका राग नष्ट हो गया है, उन्हें वीतराग कहते हैं। ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म को 'छद्म' कहते हैं; उनमें स्थित जीव अर्थात् वे कर्म जिनके विद्यमान हैं, वे छद्मस्थ कहलाते हैं। जो वीतराग होते हुए भी छद्मस्थ हैं; उन्हें वीतराग-छद्मस्थ कहते हैं। इसमें आए 'वीतराग' विशेषण से दशम गुणस्थान पर्यंत के सराग छद्मस्थों का निराकरण समझना चाहिए। जो उपशांत-कषाय होते हुए भी वीतराग छद्मस्थ हैं; उन्हें उपशांत-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ कहते हैं। इस 'उपशांत-कषाय' विशेषण से आगे के गुणस्थानों का निराकरण समझना चाहिए।"

भाव यह है कि जैसे मलिन जल में कतक/निर्मली फल डालने से मलिनता नीचे तल में बैठ जाती है; शरद-कालीन सरोवर के जल में कीचड़ नीचे बैठा रहता है; प्रसंग पाकर वह मलिनता या कीचड़ पुनः जल के साथ एकमेक हो जाता है; उसीप्रकार आत्मा के जिन वीतरागी भावों की निमित्तता में मोहनीय कर्म का पूर्णतया उपशम हो जाता है/ उसके स्पर्धक उदय में नहीं आते हैं, दबे रहते हैं; उन भावों को उपशांत-मोह/कषाय-वीतराग-छद्मस्थ कहते हैं। यहाँ औपशमिक वीतरागता हो जाने पर भी ज्ञानावरणादि शेष कर्मों की निमित्तता में औदयिक अज्ञान

आदि विद्यमान होने से ये छद्मस्थ कहलाते हैं। मोहनीय कर्म के उपशम की निमित्तता में ये अंतर्मुहूर्त पर्यंत के लिए पूर्ण सुखी हैं।

यहाँ इन वीतरागी भावों में या पूर्ण सुख में जघन्य, उत्कृष्ट आदि का भेद नहीं है; आदि-मध्य-अंत के सभी परिणाम समान हैं। कर्म के उपशम का समय सदा एक अंतर्मुहूर्त ही होने से काल-क्षय के कारण या मनुष्यायु के क्षयरूप भव-क्षय के कारण ही ये भाव नष्ट होते हैं। यह उपशम-श्रेणी का और औपशमिक भावों का अंतिम गुणस्थान है। इससे आगे औपशमिक भाव का अस्तित्व नहीं है; अतः इसका 'उपशम/उपशांत' विशेषण अंत्य-दीपक है। पूर्ण वीतरागता यहाँ से ही व्यक्त हुई होने से इसका 'वीतराग' विशेषण आदि-दीपक है अर्थात् इसके पूर्व सभी सरागी ही थे। एक अपेक्षा से यह मध्यम अंतरात्मा की चरम सीमा मानी गई है।

चौदह गुणस्थानों में से एकमात्र यह उपशांत-मोह नामक ग्यारहवाँ गुणस्थान ही पुनरागमन वाला गुणस्थान है अर्थात् जहाँ से यह उपशम का कार्य प्रारम्भ हुआ था; उपशमनरूप फल-प्राप्तिमय इस गुणस्थान की प्राप्ति हो जाने के बाद भी यहाँ से च्युत हो पुनः वहीं तक जाना पड़ता है; उसके बाद ही क्षपण का कार्य प्रारम्भ हो सकता है; बीच में सावधान होकर नवीन पुरुषार्थ करने के लिए अवसर नहीं है।

यह एक मुनि-जीवन में अधिक से अधिक दो बार तथा मोक्ष-प्राप्ति पर्यंत के काल में अधिक से अधिक चार बार प्राप्त हो सकता है। यहाँ मरण होने पर नियम से देवगति की प्राप्ति होती है।

सम्यक्त्व की अपेक्षा यहाँ द्वितीयोपशमरूप औपशमिक अथवा क्षायिक सम्यक्त्व ही रह सकता है; क्षायोपशमिक नहीं रहता है।

चारित्र की अपेक्षा इसमें मोहनीय कर्म के उपशम की निमित्ततावाला औपशमिक यथाख्यात चारित्र ही होता है; अन्य नहीं।

"*मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा: बंधहेतव:* – मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग – ये ५, बंध के हेतु हैं" – ऐसा आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र, अष्टमोऽध्याय, सूत्र एक में बताया है। इनमें से यहाँ प्रारम्भिक ४ हेतुओं का अभाव हो जाने से उन संबंधी बंध भी नहीं है। एकमात्र योग विद्यमान होने से उसकी निमित्तता में मात्र सातावेदनीय

कर्म का, एक समय का स्थिति-बंधवाला ईर्यापथ आस्रव होता है; अन्य किसी भी कर्म का तथा अन्य किसी भी स्थिति वाला बंध यहाँ नहीं है।

प्रश्न ९० : उपशांत-मोह नामक इस ग्यारहवें गुणस्थान का काल स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : इस गुणस्थान का सामान्य समय तो यथायोग्य एक अंतर्मुहूर्त ही है; परन्तु आयु की विविधता के कारण इसमें भी विविधता हो जाती है। वह इसप्रकार है –

इस गुणस्थान को प्राप्त करते ही आयु-क्षय हो जाने पर इस गुणस्थान का जघन्य-काल एक समय प्राप्त होता है। इसका उत्कृष्ट-काल यथा-योग्य एक अंतर्मुहूर्त है तथा आयु-क्षय की अपेक्षा ही दो समय से लेकर यथायोग्य एक अंतर्मुहूर्त में एक समय कम पर्यंत सभी समय इसके मध्यम-काल-भेद समझना चाहिए।

प्रश्न ९१ : उपशांत-मोह नामक इस ग्यारहवें गुणस्थान का गुणस्थान की अपेक्षा गमनागमन स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : यह उपशम-श्रेणी का अंतिम गुणस्थान होने के कारण यहाँ से ऊपर गमन नहीं है। गुणस्थान के काल का क्षय होने पर यहाँ से नियमत: दशवें उपशमक सूक्ष्म-साम्पराय गुणस्थान में तथा आयु-क्षय की स्थिति में यहाँ से सीधे चौथे अविरत सम्यक्त्व में गमन होता है।

आगमन की अपेक्षा अन्य मार्गों का अभाव होने से एकमात्र उपशमक सूक्ष्म-साम्पराय नामक दशवें गुणस्थान से ही यहाँ आगमन होता है।

इसे हम संदृष्टि द्वारा इसप्रकार समझ सकते हैं –

ग्यारहवें उपशांत-मोह गुणस्थान का गमनागमन

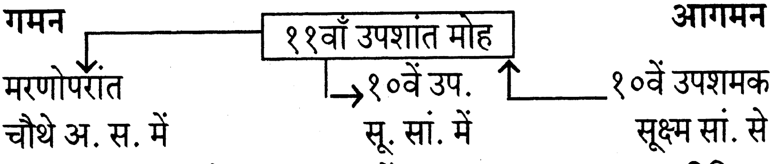

प्रश्न ९२ : क्षीण-मोह नामक बारहवें गुणस्थान का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : इस गुणस्थान का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य नेमिचंद्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती अपने गोम्मटसार जीवकांड नामक ग्रन्थ में लिखते हैं –

"णिस्सेसखीणमोहो, फलिहामलभायणुदयसमचित्तो।
खीणकसाओ भण्णदि, णिग्गंथो वीयरायेहिं॥६२॥

मोहनीय कर्म के पूर्णतया क्षीण होने की निमित्तता में जिन निर्ग्रन्थ का चित्त स्फटिक के निर्मल पात्र में रखे हुए निर्मल जल के समान अति निर्मल हो गया है; उन्हें वीतरागी देव क्षीण-कषाय कहते हैं।"

इस गुणस्थान का पूरा नाम क्षीण-मोह/कषाय-वीतराग-छद्मस्थ है। इसका जो विश्लेषण आचार्य वीरसेन स्वामी ने अपनी धवल टीका में किया है; उसका हिन्दी-सार इसप्रकार है –

"जिनकी कषायें क्षीण हो गईं हैं, उन्हें क्षीण कषाय कहते हैं। जो क्षीण-कषाय होते हुए वीतराग हैं, उन्हें क्षीण-कषाय-वीतराग कहते हैं। जो छद्म अर्थात् ज्ञानावरण-दर्शनावरण में रहते हैं, उन्हें छद्मस्थ कहते हैं; जो क्षीण-कषाय-वीतराग होते हुए छद्मस्थ हैं, उन्हें क्षीण-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ कहते हैं।

इस सूत्र में आया 'छद्मस्थ' पद अंत्य-दीपक है; अतः इसे यहाँ पर्यंत सभी गुणस्थान के सावरणपने का सूचक समझना चाहिए।

यद्यपि क्षीण-कषायी जीव वीतरागी ही होते हैं; तथापि नाम, स्थापना और द्रव्य निक्षेपरूप क्षीण-कषाय का निषेध कर भाव-निक्षेपरूप क्षीण-कषाय का ग्रहण बताने के लिए सूत्र में पुनः 'वीतराग' पद का प्रयोग किया गया है।"

भाव यह है कि जैसे स्फटिक-पात्र में रखा हुआ निर्मल जल पुनः मलिन नहीं होता है; उसीप्रकार आत्मा के जिन वीतरागी भावों की निमित्तता में मोहनीय कर्म का पूर्णतया क्षय हो जाने से अब पुनः रागादि उत्पन्न होने की सम्भावना ही नहीं रही है; उन्हें क्षीण-मोह/कषाय-वीतराग-छद्मस्थ कहते हैं।

'वीतराग' पद का शाब्दिक अर्थ है – विगतः रागः यस्मात् सः वीतरागः = जिसमें से राग निकल गया है, वह वीतराग है। यहाँ 'राग' शब्द द्वेष, मोह, कषाय आदि सम्पूर्ण विकारों का प्रतिनिधि है; अतः उसके अभाव में सभी का अभाव समझ लेना चाहिए। यहाँ क्षायिक वीतरागता हो जाने

पर भी ज्ञानावरणादि शेष कर्मों की निमित्तता में औदयिक अज्ञान आदि विद्यमान होने से ये छद्मस्थ कहलाते हैं। मोह का पूर्ण क्षय हो जाने से ये पूर्ण सुखी हैं। यहाँ 'क्षीणमोह' विशेषण आदि-दीपक है अर्थात् ये तथा इससे आगे सभी पूर्णतया मोह से रहित हैं।

ये सर्वोत्कृष्ट अंतरात्मा हैं। यह गुणस्थान मोक्ष-प्राप्ति पर्यंत के काल में एक बार ही प्राप्त होता है। अंतर्मुहूर्त काल पर्यंत के इन वीतरागी भावों में जघन्य, उत्कृष्ट आदि भेद नहीं होते हैं।

इस गुणस्थानवर्ती निर्ग्रन्थ मुनिराज के औदारिक शरीर का परमौदारिक शरीररूप से परिणमन के लिए इस शरीर के आश्रित रहने वाले अनंत बादर निगोदिया जीवों का मरण इस गुणस्थान के प्रथम समय से लेकर अंतिम समय तक होता रहता है। जिसके परिणाम-स्वरूप इस गुणस्थान के व्यय और तेरहवें गुणस्थान के उत्पाद के समय ही यह शरीर परमौदारिक शरीररूप में परिणमित हो जाता है। इतनी हिंसा हो जाने पर भी उन अहिंसा महाव्रती वीतरागी मुनिराज का अहिंसाव्रत नष्ट नहीं होता है। इस संदर्भ में किए गए आचार्य वीरसेन स्वामी के विश्लेषण का हिन्दी-सार इसप्रकार है–

"***प्रश्न :*** ये निगोद जीव यहाँ क्यों मरते हैं ?

उत्तर : ध्यान द्वारा निगोद जीवों की उत्पत्ति और स्थिति के कारणों का निरोध हो जाने से वे यहाँ मर जाते हैं।

प्रश्न : ध्यान द्वारा अनंतानंत जीव-राशि का हनन करनेवाले जीव का निर्वाण कैसे हो सकता है ?

उत्तर : अप्रमत्त होने के कारण इतनी हिंसा से भी उनका निर्वाण बाधित नहीं होता है।

प्रश्न : हिंसा करनेवाले जीवों के अहिंसा लक्षणयुक्त पाँच महाव्रत कैसे सम्भव हैं ?

उत्तर : यह कहना उचित नहीं है; क्योंकि बहिरंग हिंसा से आस्रव नहीं होता है; अत: मारने के भाव से रहित उन शुद्धोपयोगी मुनिराज के शरीर में अनंतानंत जीवों के मरने पर भी उनके अहिंसा लक्षणयुक्त पाँच महाव्रत विद्यमान हैं।"

मोह का पूर्णतया क्षय हो जाने से ये जीव 'मोह-मुक्त' कहलाते हैं। यहाँ शुक्लध्यान के एकत्व-वितर्क अवीचार नामक द्वितीय भेदरूप शुद्धोपयोग से शेष रहे तीन घाति कर्मों की प्रति समय उत्तरोत्तर असंख्यात गुणी निर्जरा होती रहती है; जिससे इस गुणस्थान का अंतर्मुहूर्त काल पूर्ण होते ही यहाँ पर्यंत ६३ प्रकृतिओं का अभाव हो वे तेरहवें गुणस्थान में अनंत चतुष्टय-सम्पन्न सयोग-केवली हो जाते हैं।

सम्यक्त्व की अपेक्षा यहाँ एक मात्र क्षायिक सम्यक्त्व ही है। चारित्र की अपेक्षा भी यहाँ एक मात्र क्षायिक यथाख्यात चारित्र ही है।

बंध के मिथ्यादर्शन आदि पाँच कारणों में से यहाँ एक मात्र योग विद्यमान होने से, उसकी निमित्तता में मात्र सातावेदनीय कर्म का, एक समय का स्थिति-बंधवाला ईर्यापथ आस्रव होता है; अन्य किसी भी कर्म का तथा अन्य किसी भी स्थितिवाला बंध यहाँ नहीं होता है।

प्रश्न ६३ : क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान का काल स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : इस गुणस्थान का काल सुनिश्चित एक अंतर्मुहूर्त है। इसमें मरण तथा अवरोहण नहीं होने के कारण जघन्य, उत्कृष्ट आदि काल-भेद नहीं बनते हैं; तथापि ग्यारहवें की अपेक्षा इसका काल कुछ कम है। अंतर्मुहूर्त के असंख्य भेद होने से यह सभी व्यवस्था बन जाती है।

यदि सूक्ष्मता से विचार किया जाए तो छठवें प्रमत्त-संयत से बारहवें क्षीण-मोह गुणस्थान पर्यंत सभी गुणस्थानों का उत्कृष्ट-काल यथायोग्य अंतर्मुहूर्त होने पर भी उत्तरोत्तर हीन-हीन है तथा सभी का मिलकर भी एक अंतर्मुहूर्त ही होता है।

प्रश्न ६४ : क्षीणमोह नामक इस बारहवें गुणस्थान का गुणस्थान की अपेक्षा गमनागमन स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : परिणामों आदि की विविधता नहीं होने से यहाँ के गमनागमन में भी विविधता नहीं है। गमन की अपेक्षा यहाँ से नियमतः सयोग केवली नामक तेरहवें गुणस्थान में ही आरोहण करते हैं तथा आगमन की अपेक्षा यहाँ नियम से क्षपक सूक्ष्म-साम्पराय नामक दशवें गुणस्थान से ही आते हैं। इसे संदृष्टि द्वारा इसप्रकार समझ सकते हैं –

बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान का गमनागमन

गमन तेरहवें सयोग केवली गु. में

↑

बारहवाँ क्षीणमोह गुणस्थान

↑

आगमन दशवें क्षपक सूक्ष्म साम्पराय गु. से

प्रश्न ६५ : उपशांतमोह और क्षीणमोह नामक क्रमश: ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थानरूप उपशमन और क्षपण के पृथक्-पृथक् गुणस्थान के समान उपशमक अपूर्वकरण, क्षपक अपूर्वकरण आदि रूप में अपूर्वकरण से सूक्ष्म-साम्पराय पर्यंत के भावों को पृथक्-पृथक् गुणस्थान रूप में विभक्त क्यों नहीं किया गया है ?

उत्तर : उपशमक अपूर्वकरण, क्षपक अपूर्वकरण आदि परिणामों में तथा तन्निमित्तक मोहनीय आदि कर्मों के कार्यों में अंतर नहीं होने के कारण, उन परिणामों में समानता बताने के लिए उन्हें पृथक्-पृथक् विभक्त नहीं किया गया है।

उपशांत-मोह और क्षीण-मोहरूप भावों में वैसी समानता नहीं होने से तन्निमित्तक मोहनीय कर्म के कार्य में अंतर होने के कारण इन भावों संबंधी गुणस्थानों को पृथक्-पृथक् बताया गया है।

इसप्रकार भावों और तन्निमित्तक कार्यों की पृथक्ता के कारण उपशमक और क्षपक श्रेणी के फलभूत इन उपशांत-मोह और क्षीण-मोह गुणस्थानों को पृथक्-पृथक् और क्रमश: ग्यारहवें-बारहवें स्थान पर रखा गया है।

प्रश्न ६६ : सयोग केवली नामक तेरहवें गुणस्थान का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : इस गुणस्थान का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य नेमिचंद्र-सिद्धान्त-चक्रवर्ती अपने ग्रन्थ गोम्मटसार जीवकाण्ड में लिखते हैं –

''केवलणाणदिवायर-किरण-कलाबप्पणासियण्णाणो।
णव-केवल-लद्धुग्गम, सुजणिय-परमप्पववएसो ।।६३।।
असहाय-णाणदंसणसहिओ इदि केवली हु जोगेण।
जुत्तोत्ति सजोगजिणो, अणाइणिहणारिसे उत्तो ।।६४।।

केवलज्ञान रूपी सूर्य के किरण-समूह से पूर्णतया अज्ञान-अंधकार के

नाशक, प्रगट हुई नव लब्धिओं से समुत्पन्न 'परमात्मा' संज्ञा को प्राप्त, असहाय/अनंत सामर्थ्य-सम्पन्न ज्ञान-दर्शन से सहित केवली, योग से संयुक्त होने के कारण सयोग जिन हैं – ऐसा अनादि-निधन आर्ष/आगम परम्परा में कहा गया है।''

इस गुणस्थान का पूरा नाम सयोग केवली जिन है। इसमें से 'सयोग केवली' पद का जो विश्लेषण आचार्यश्री वीरसेन स्वामी ने अपनी 'धवल' नामक टीका में किया है; उसका हिन्दी-सार इसप्रकार है –

''जिसमें इंद्रिय, आलोक, मन आदि की अपेक्षा नहीं है; उसे केवल या असहाय कहते हैं। ऐसा केवल या असहाय ज्ञान जिनके है, उन्हें केवली कहते हैं। मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को योग कहते हैं। जो योग के साथ रहते हैं; उन्हें सयोग कहते हैं। इसप्रकार जो सयोग होते हुए केवली हैं; उन्हें सयोगकेवली कहते हैं।

इस सूत्र में किया गया 'सयोग' पद का ग्रहण अंत्य-दीपक होने से नीचे के सभी गुणस्थानों की सयोगता का प्रतिपादक है।''

प्राकृत पंच संग्रह के अनुसार 'पुण्य-पाप कर्मों के बंध में कारणभूत शुभ-अशुभ भावों से रहित होने के कारण 'जिन' हैं। इसका 'केवली' पद आदि दीपक है अर्थात् यहाँ से पहले के सभी छद्मस्थ ही थे।

भाव यह है कि अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख और अनंत वीर्य रूप अनंत चतुष्टय से सम्पन्न ये सयोग केवली जिन परमात्मा अनंत ज्ञान की अबिनाभावी अनंत/केवल/क्षायिक ज्ञान, अनंत/केवल/क्षायिक दर्शन, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र, क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग और क्षायिक वीर्यरूप नव लब्धिओं से सुशोभित होते हैं। पूर्ण वीतरागी, सर्वज्ञ हो जाने से ये सौ इंद्रों से वंदित, देवाधिदेव अरहंतदेव कहलाते हैं। ये क्षुधा, तृषा आदि १८ दोषों से, उपसर्ग-परिषहों से अंतर्बाह्य पूर्णतया रहित होते हैं; अतः कवलाहार, रोग, निहार आदि दशाएँ यहाँ नहीं होती हैं।

'देवत्व' संज्ञा इस दशा को ही प्राप्त होने से कृत्रिम और अकृत्रिम सभी चैत्यालयों में इनके समान ही अन्तरोन्मुखी वृत्ति-सम्पन्न ध्यानस्थ प्रतिमाएँ विराजमान हैं। इस गुणस्थान में स्थित मुख्यतया तीर्थंकर केवली के

धर्म-तीर्थ की प्रवृत्ति-हेतु चारों संधिकालों में ६-६ घड़ी – इसप्रकार २४ घंटे में से ९ घंटे ३६ मिनिट पर्यंत निरक्षरी, अस्खलित, अनुपम, निरिच्छक वृत्ति से दिव्य-ध्वनि खिरती है; कदाचित् विशिष्ट परिस्थिति में अन्य समयों में भी खिर जाती है। भव्य जीवों के भाग्यवश और केवली के वचनयोग के संयोग में यह दिव्य-ध्वनि का कार्य होता रहता है। उपदेश, विहार आदि क्रियाएँ इस गुणस्थान में एकमात्र कर्मोदय आदि कारणों से निरिच्छक-वृत्ति पूर्वक ही होती हैं।

इस गुणस्थान में तीर्थंकर केवली के 'तीर्थंकर' नामक नामकर्म की सातिशय पुण्य प्रकृति के उदय की निमित्तता में इंद्र की आज्ञा से कुबेर द्वारा तीन लोक में अद्वितीय, आश्चर्यकारी, सर्वोत्कृष्ट सभामंडपरूप में समवसरण की रचना की जाती है। जिसके अंदर बारह सभाओं में एकमात्र नरकगति को छोड़कर शेष तीन गति के भव्य जीव यथास्थान बैठकर सभी प्रकार के भेदभाव से रहित हो आत्मतत्त्व-पोषक धर्मामृत का पान करते हैं।

अन्य केवलिओं के योग्यतानुसार गंधकुटी की रचना होती है।

तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता लेकर गर्भ में आने वाले तीर्थंकर जीव की अपेक्षा जन्म संबंधी दश, केवलज्ञान संबंधी दश, देवकृत चौदह – इस प्रकार ३४ अतिशय, आठ प्रातिहार्य और अनंत चतुष्टययुक्त ४६ गुणमय अलौकिक वैभव, सातिशयता का यहाँ सहज संयोग होता है।

तेरहवें और चौदहवें दोनों गुणस्थानवर्ती क्रमशः सयोग और अयोग केवलिओं को शरीर-संयोग के कारण सकल परमात्मा भी कहते हैं। इन दोनों के ही अरिहंत, अरहंत, अरुहंत, परमात्मा, परमज्योति, जिनेन्द्रदेव, आप्त, परमगुरु, जीवन्मुक्त, भावमुक्त, ईषन्मुक्त इत्यादि अनेकों नाम प्रसिद्ध हैं। स्वयं इंद्र इनकी १००८ नामों द्वारा स्तुति करता है।

सम्यक्त्व की अपेक्षा इनके केवलज्ञान की निमित्तता में 'परमावगाढ़' संज्ञा को प्राप्त क्षायिक सम्यक्त्व तथा चारित्र की अपेक्षा परम यथाख्यात चारित्र ही है।

यहाँ एक मात्र योगजन्य विकृति होने से इस सयोग केवली गुणस्थान में भी एकमात्र एक समय का स्थिति-बंधवाला, एकमात्र सातावेदनीय कर्म का ईर्यापथ आस्रव होता है। योग-निरोध के बाद इसी गुणस्थान के

अंतिम अंतर्मुहूर्त में सूक्ष्म-क्रियाप्रतिपाती नामक तृतीय शुक्लध्यान से इस विकृति का अभाव होते ही यह आस्रव भी समाप्त होकर वे इस गुण-स्थान के अंतिम समय का व्यय होते-होते पूर्ण निरास्रवी हो जाते हैं।

प्रश्न ६७ : सयोगकेवली जिन नामक तेरहवें गुणस्थान के भेद स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : अनंत चतुष्टयमय वीतरागता-सर्वज्ञता की अपेक्षा तो इसके कोई भी भेद नहीं हैं; परन्तु इस गुणस्थान को प्राप्त करते समय बननेवाली बाह्य परिस्थितिओं, इस गुणस्थान के पूर्वचर-सहचर या उत्तरचर संयोगों की अपेक्षा इसके अनेक भेद हो जाते हैं। उनमें से कुछ इसप्रकार हैं –

१. उपसर्ग केवली : मुनिदशा में उपसर्ग की स्थिति के समय ध्यानारूढ़ होने पर श्रेणी का आरोहण हो केवलज्ञान प्राप्त करनेवाले, उपसर्ग केवली कहलाते हैं। जैसे पार्श्वनाथ भगवान आदि।

२. अंत:कृत केवली : उपसर्ग की स्थिति में श्रेणी का आरोहण कर केवलज्ञान होते ही अंतर्मुहूर्त में ही सिद्ध दशा प्राप्त करनेवाले, अंत:कृत केवली हैं। जैसे गजकुमार, युधिष्ठिर आदि।

३. समुद्घातगत केवली : आयु कर्म की स्थिति कम होने पर तीन अघाति कर्मों की स्थिति को केवली समुद्घात के माध्यम से आयु की स्थिति के समान करनेवाले, समुद्घातगत केवली कहलाते हैं।

४. मूक केवली : केवलज्ञान हो जाने पर भी वाणी के योग से रहित, मूक केवली हैं।

५. पाँच कल्याणकवाले तीर्थंकर केवली : पूर्व भव से ही तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता से सहित जीव, पाँच कल्याणकवाले तीर्थंकर केवली कहलाते हैं। जैसे ऋषभदेव आदि तीर्थंकर।

६. तीन कल्याणकवाले तीर्थंकर केवली : इस अंतिम भव की गृहस्थावस्था में तीर्थंकर प्रकृति का बंध करने से दीक्षा, ज्ञान और निर्वाण कल्याणक-सम्पन्न जीव, तीन कल्याणकवाले केवली कहलाते हैं।

७. दो कल्याणकवाले तीर्थंकर केवली : इस अंतिम भव में मुनि-दीक्षा ग्रहण करने के बाद तीर्थंकर प्रकृति का बंध करने से ज्ञान और निर्वाण कल्याणक-सम्पन्न जीव, दो कल्याणकवाले केवली कहलाते हैं।

८. सामान्य केवली : उपर्युक्त सभी संयोगों/परिस्थितिओं से रहित अनंत चतुष्टय आदि सम्पन्न जीव, सामान्य केवली हैं।

इत्यादि अनेकानेक भेद बाह्य संयोगों, परिस्थितिओं की अपेक्षा इस गुणस्थान के हो जाते हैं।

प्रश्न ६८ : सयोग केवली जिन नामक इस तेरहवें गुणस्थान का काल स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : आयु कर्म के उदय निमित्तक मनुष्य पर्याय में रहने की स्थिति की विविधता के कारण इस गुणस्थान के काल में भी विविधता हो जाती है। वह इसप्रकार है –

इस गुणस्थान का जघन्य-काल यथायोग्य अंतर्मुहूर्त है; गर्भ काल सहित आठ वर्ष और आठ अंतर्मुहूर्त कम एक कोटि पूर्व वर्ष उत्कृष्ट-काल है; इससे अधिक की आयु वाले इस गुणस्थान को प्राप्त नहीं कर पाते हैं तथा यथायोग्य अंतर्मुहूर्त में एक समय अधिक से लेकर उपर्युक्त उत्कृष्ट-काल में से एक समय कम पर्यंत सभी समय इसके मध्यम-काल-भेद समझ लेना चाहिए।

प्रश्न ६९ : सयोग केवली जिन नामक इस तेरहवें गुणस्थान का गुणस्थान की अपेक्षा गमनागमन स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : परिणामों की विविधता नहीं होने से आरोहण की सुनिश्चितता के कारण इस गुणस्थान का गमनागमन भी पूर्ण सुनिश्चित है। वह इसप्रकार है – गमन की अपेक्षा ये जीव नियम से अयोग केवली जिन नामक चौदहवें गुणस्थान में ही गमन करते हैं तथा आगमन की अपेक्षा एकमात्र क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान से ही यहाँ आते हैं।

इसे संदृष्टि द्वारा इसप्रकार समझ सकते हैं –

तेरहवें सयोग केवली गुणस्थान का गमनागमन

गमन चौदहवें अयोग केवली गुण. में

↑

| तेरहवाँ सयोग केवली गुण. |

↑

आगमन बारहवें क्षीणमोह गुण. से

प्रश्न ७० : अयोग केवली जिन नामक चौदहवें गुणस्थान का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : आचार्यश्री नेमिचंद्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती अपने ग्रन्थ गोम्मटसार जीवकांड में इस गुणस्थान का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखते हैं –

''सीलेसिं संपत्तो, णिरुद्धणिस्सेसआसवो जीवो।
कम्मरयविप्पमुक्को, गयजोगो केवली होदि ।।६५।।

(अठारह हजार भेदवाले) शीलों की ईश्वरता को प्राप्त, समस्त आस्रवों के निरोध से सहित, कर्मरूपी रज से विशेषरूप में और प्रकृष्टरूप में मुक्त जीव योग रहित/अयोग केवली हैं।''

मुनि दशा संबंधी ८४ लाख उत्तर गुणों और शील संबंधी १८००० भेदों से सहित गुणस्थान के अंतिम समय में ही सम्यक् चारित्र की परिपूर्णता होने से सम्पूर्ण रत्नत्रय-सम्पन्न होने के कारण ये पूर्ण संवर और पूर्ण निर्जरा मय निरास्रवी-निर्बंध दशा संयुक्त हैं। यहाँ 'अयोग' पद आदि-दीपक होने से ये और गुणस्थानातीत सिद्ध भगवान सदा योग-रहित ही हैं। आत्मस्वरूप में परिपूर्ण स्थिरता की निमित्तता में यहाँ उपान्त्य समय में ७२ और अंत समय में १३ – इसप्रकार शेष रहीं समस्त ८५ कर्म-प्रकृतिओं का अभाव हो जाता है।

यह अंतिम गुणस्थान कलंक-सूचक 'संसारी' विशेषणवाले जीव की अंतिम स्थिति है। इसके बाद सदा-सदा के लिए उनके 'संसारी' विशेषण का अभाव हो जाएगा। यहाँ योगों का अभाव हो जाने से आत्मा और शरीर का पूर्ववत् एक क्षेत्रावगाही संबंध विद्यमान होने पर भी निमित्त-नैमित्तिक संबंध सापेक्ष सभी क्रियाओं का पूर्णतया अभाव है। व्युपरत-क्रिया-निर्वृत्ति नामक चतुर्थ शुक्लध्यान की पूर्णता होते ही यह एक क्षेत्रावगाही संबंध भी विघटित होकर सदा-सदा के लिए ये अनादि अनंत द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से पूर्णतया रहित आत्म-स्वभाव के समान पर्याय में भी द्रव्यकर्म, भावकर्म और इस नोकर्म से भी पूर्णतया रहित हो जाएंगे।

सम्यक्त्व की अपेक्षा यहाँ तेरहवें गुणस्थान के समान ही परमावगाढ़ रूप क्षायिक सम्यक्त्व है तथा चारित्र की अपेक्षा परम यथाख्यात चारित्र-

रूप क्षायिक चारित्र है।

प्रश्न ७१ : अयोग केवली नामक इस चौदहवें गुणस्थान का काल और गमनागमन स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : इसमें परिणामों आदि की विविधता नहीं होने से ये दोनों ही पूर्ण सुनिश्चित हैं; जो इसप्रकार हैं –

काल की अपेक्षा यहाँ जघन्य, उत्कृष्ट आदि भेदों की अपेक्षा से रहित एकमात्र अ, इ, उ, ऋ, लृ – इन पाँच ह्रस्व-स्वरों के उच्चारण प्रमाण अंतर्मुहूर्त काल है।

गमनागमन की विवक्षा में गमन की अपेक्षा इनका गमन एकमात्र सिद्ध दशा में ही होता है तथा आगमन एकमात्र सयोगकेवली नामक तेरहवें गुणस्थान से ही होता है।

इसप्रकार संसार दशा में रहते हुए मोक्षमार्ग की मुख्यता से उत्तरोत्तर होने वाली दोषों की हीनता और गुणों की वृद्धि की अपेक्षा बनने वाले चौदह गुणस्थानों की चर्चा यहाँ समाप्त हुई। ○

जिनागम की यह विशेषता है कि इसमें सदा ही जिस प्रकरण को भी चर्चित करते हैं, उसके सद्भाव और अभाव दोनों पर ही विचार किया जाता है। इसी अपेक्षा से यहाँ गुणस्थान की चर्चा के बाद गुणस्थानातीत सिद्ध भगवान की चर्चा नियमत: की जाती है; अत: यहाँ हम भी उन पर दृष्टिपात करते हैं।

प्रश्न ७२ : गुणस्थानातीत सिद्ध भगवान का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : आचार्यश्री नेमिचंद्र-सिद्धान्त-चक्रवर्ती अपनी कृति गोम्मटसार जीवकाण्ड में गुणस्थानातीत सिद्ध भगवान का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखते हैं –

"अट्ठविहकम्मवियला, सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा।
अट्ठगुणा किदकिच्चा, लोयग्गणिवासिणो सिद्धा ॥६८॥

आठ प्रकार के कर्मों से रहित, अव्याबाध सुखरूपी अमृत का अनुभव करने वाले, भावरूपी अंजन/कालिमा से रहित, नित्य, सम्यक्त्व आदि आठ गुण-सम्पन्न, कृतकृत्य, लोकाग्र निवासी सिद्ध भगवान हैं।"

भाव यह है कि सिद्ध भगवान ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोह-

नीय, आयुष्क, नाम, गोत्र और अंतराय – इन आठ प्रकार के द्रव्यकर्मों से पूर्णतया रहित हैं। बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान में मोहनीय कर्म के पूर्णतया क्षय की निमित्तता में पूर्ण सुख व्यक्त हुआ था; क्रमशः सयोग केवली और अयोग केवली नामक तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में चारों घाति कर्मों के अभाव की निमित्ततावाला अनंतसुख था; यहाँ शेष रहे चारों अघाति कर्मों का भी अभाव हो जाने से अव्याबाध सुख व्यक्त हुआ है।

अपने स्वभाव में परिपूर्ण स्थिरता के कारण तथा मोहादि करने का कोई भी कारण शेष नहीं रहने से वे मोहादि अंजन से रहित निरंजन हैं।

चतुर्गति-भ्रमणरूप पंच परावर्तनों का पूर्णतया अभाव हो जाने से परम्परा की अपेक्षा संसार का पुनः उत्पाद-रहित व्यय और सिद्ध दशा का पुनः व्यय-रहित उत्पाद हो जाने के कारण वे सादि-अनंत काल पर्यंत इसी दशा में रहने रूप नित्य हैं।

क्रमशः आठ कर्मों के अभाव-निमित्तक व्यक्त हुए ज्ञान, दर्शन, अव्याबाध, सम्यक्त्व, अवगाहनत्व, सूक्ष्मत्व, अगुरुलघु और वीर्य रूप मुख्य आठ गुणों-सहित अनंतानंत गुणों से वे युक्त हैं।

सम्पूर्ण इष्ट/समग्र स्वात्मा की परिपूर्ण उपलब्धि व्यक्त हो जाने से तथा समस्त अनिष्ट/मोहादि सभी दुःख पूर्णतया नष्ट हो जाने से; करने योग्य कार्य कर लिया होने से वे कृत-कृत्य हैं।

त्रिभुवन चूड़ामणिमय सर्वोत्कृष्ट दशा प्राप्त कर लेने के कारण वे लोकाग्रनिवासी हैं।

यद्यपि सिद्ध भगवान अनंत-अनंत विशेषताओं सहित हैं; तथापि उनमें से यहाँ मात्र उपर्युक्त सात विशेषणों द्वारा उनका स्वरूप स्पष्ट किया गया है। इसका कारण बताते हुए वे ही वहीं लिखते हैं –

"सदसिवसंखो मक्कडि, बुद्धो णेयाइयो य वेसेसी।
ईसरमंडलिदंसणविदूसणट्ठं कयं एदं ॥६९॥

सदाशिव, सांख्य, मस्करी, बौद्ध, नैयायिक-वैशेषिक, ईश्वरवादी, और मण्डली – इन सात मतों के निराकरण के लिए ये सात विशेषण दिए गए हैं।"

मोक्ष के संबंध में इन सात मतों की मान्यताएँ संक्षेप में इसप्रकार हैं–

"सदाशिवः सदाऽकर्मा, सांख्यो मुक्तं सुखोज्झितं।
मस्करी किल मुक्तानां मन्यते पुनरागतिम्।।
क्षणिकं निर्गुणं चैव, बुद्धो यौगश्च मन्यते।
अकृतकृत्यं तमीशानो, मण्डली चोर्ध्वगामिनम्।।

सदाशिव मतवाले जीव को अनादि से ही सिद्ध दशारूप परिणमित, सदा निष्कर्म मानते हैं; सांख्यमतवाले सिद्ध भगवान को सुख से रहित मानते हैं; मस्करी मतवाले सिद्धों का पुनः संसार में आगमन मानते हैं।

बौद्ध सभी पदार्थों को क्षणिक मानने वाले होने से सिद्धों को भी क्षणिक मानते हैं; नैयायिक और वैशेषिक सिद्ध दशा को बुद्धि आदि गुणों से रहित मानते हैं; ईश्वरवादी उन्हें अकृतकृत्य मानते हैं तथा मण्डली मतवाले उन सिद्ध भगवान को सदा ऊपर-ऊपर ही गमन करते रहनेवाला मानते हैं।"

इन सभी मान्यताओं का निराकरण करते हुए सिद्ध भगवान का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए ६८ वीं गाथा में ये विशेषण दिए गए हैं।

इनका विश्लेषण इसप्रकार है –

१. प्रत्येक जीव अनादि-अनंत अपने परम पारिणामिक भाव की अपेक्षा द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से रहित होने पर भी प्रतिसमयवर्ती पर्याय की अपेक्षा कोई भी जीव अनादि से ही इनसे रहित नहीं है; वरन् सभी इनसे सहित ही हैं। अनादि से ही जीव आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ द्वारा ही निमित्त-रूप में ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का अभाव कर सिद्ध हो रहे हैं – यह बताने के लिए '**अट्ठविहकम्मवियला**– अष्टविध कर्मों से रहित' विशेषण दिया है।

२. यद्यपि सिद्ध भगवान सांसारिक सुख/सुखाभास/दुःख की अत्यल्प कमी और दुःख से पूर्णतया रहित हैं; तथापि अव्याबाध अतीन्द्रिय आत्मिक आनंद/अनाकुलता लक्षण सुख से सहित हैं – यह बताने के लिए '**सीदीभूदा** – आनंदामृत का अनुभव करनेवाले शांतिमय' विशेषण दिया है।

३. यद्यपि सभी सिद्ध जीव सिद्ध दशा-प्राप्ति के पूर्व संसारावस्था में मोहादि कालिमा से सहित थे; परन्तु अब उससे विशेष प्रकार से और

प्रकृष्टरूप से रहित हो जाने के कारण पुनः उससे कभी भी सहित नहीं होंगे; पुनः संसार में लौटकर नहीं आएंगे – यह बताने के लिए **'णिरं-जणा** – निरंजन/भाव कर्म से रहित' विशेषण दिया है।

४. सांसारिक सभी दशाएँ क्षणिक विकार की प्रतिफल होने से क्षणिक होती हैं; परन्तु सिद्ध दशा शाश्वत स्वभाव का अवलम्बन लेकर व्यक्त हुई होने से परम्परा की अपेक्षा सादि-अनंत, नित्य है; क्षणिक नहीं है – यह बताने के लिए **'णिच्चा**- नित्य' विशेषण दिया है।

५. यद्यपि परमात्मा-दशा में क्षायोपशमिक बुद्धि आदि गुणों का अभाव हो जाता है; तथापि क्षायिक ज्ञान-दर्शन आदि सभी गुण पूर्णतया शुद्ध हो जाते हैं; परमात्मा गुणों से रहित नहीं हैं; वरन् अवगुणों से रहित हैं – यह बताने के लिए **'अट्ठगुणा** – आठ गुण-सम्पन्न' विशेषण दिया है।

६. स्थाईत्व के साथ परिणमन-सम्पन्न अनंत वैभववान वस्तु-स्वभाव के कारण पर में हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं होने से तथा अपना वैभव पर्याय में प्रगट कर उसका भोगोपभोग करते होने से सिद्ध भगवान पूर्ण-तया कृतकृत्य हैं; उन्हें कुछ भी कार्य करना शेष नहीं रहा है – यह बताने के लिए **'किदकिच्चा** – कृतकृत्य' विशेषण दिया है।

७. लोक का द्रव्य लोक में रहता होने से, यहाँ ही रहने की योग्यता होने से, गति में निमित्तभूत धर्मद्रव्य भी लोकाग्र पर्यंत ही होने से वे सिद्ध भगवान लोकाग्र में जाकर ही स्थिर हो जाते हैं; सतत उत्तरोत्तर गमनरूप नहीं हैं – यह बताने के लिए **'लोयग्गणिवासिणो** – लोक के अग्र भाग में रहनेवाले' विशेषण दिया है।

इसप्रकार पूर्वोक्त सात मान्यताओं का निराकरण करने के लिए सिद्ध भगवान का स्वरूप इन सात विशेषणों द्वारा स्पष्ट किया है।

वास्तव में इस सिद्ध दशा का उत्पाद तो इस मनुष्य क्षेत्र में ही होता है; परन्तु तत्काल ही ऊर्ध्वगमन स्वभाव के कारण वे ऋजुगति से सम-श्रेणी में गमन कर सिद्ध शिला के ऊपर लोकाग्र में विराजमान हो जाते हैं। वहाँ उनका अंतिम शरीर से कुछ कम पुरुषाकार रहता है।

अचल, अनुपम-दशा-सम्पन्न तथा संसारी जीवों को साध्यभूत आत्मा का स्वरूप बताने के लिए प्रतिच्छंद-स्थानीय ये सिद्ध भगवान द्रव्य-

मुक्त, साक्षात्-मुक्त, निकल-परमात्मा, व्यवहारातीत, कार्य-परमात्मा, संसारातीत, निरंजन, निष्काम, ज्ञान-शरीरी, अशरीरी, देह-मुक्त इत्यादि नामों से भी जाने जाते हैं।

सम्यक्त्व की अपेक्षा यहाँ परमावगाढ़रूप क्षायिक सम्यक्त्व और चारित्र की अपेक्षा परम यथाख्यात चारित्ररूप क्षायिक चारित्र है।

यहाँ एकमात्र शुद्ध जीवत्वरूप पारिणामिक भाव और क्षायिक भाव ही हैं; शेष औपशमिक, क्षायोपशमिक और औदयिक भाव नहीं हैं।

प्रश्न ७३ : गुणस्थानातीत सिद्ध दशा के भेद, काल और गमनागमन को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : गुणस्थानातीत सिद्धदशा में पूर्ण आत्माभिव्यक्ति होने से अर्थ-पर्यायों की अपेक्षा तो इनमें कुछ भी भेद नहीं है; परन्तु चौदहवें गुणस्थान-वर्ती अंतिम-शरीर-सापेक्ष आत्म-प्रदेशों की अवगाहना की अपेक्षा भेद होते हैं। यहाँ आत्म-प्रदेशों की उत्कृष्ट अवगाहना कुछ कम ५२५ धनुष और जघन्य अवगाहना कुछ कम साढ़े तीन हाथ होती है। इन दोनों के मध्य संबंधी सभी आकार अवगाहना के मध्यम-भेद जानना चाहिए।

भूतपूर्व प्रज्ञापन नैगम नय की अपेक्षा आचार्यों ने तो क्षेत्र, काल, गति आदि की अपेक्षा भी सिद्धों में भेद किए हैं।

काल की अपेक्षा सिद्ध दशा पर्याय होने से यद्यपि एकसमयवर्ती सादि-सांत है; तथापि सदा एक समान ही उत्पन्न होती रहने के कारण परम्परा की अपेक्षा सादि-अनंत काल पर्यंत पूर्णतया स्थायी है।

गमनागमन की अपेक्षा यह सर्वोत्तम दशा होने के कारण गमन से रहित अचल, अनुपम, ध्रुव है। यहाँ आगमन सदा ही अयोग केवली नामक चौदहवें गुणस्थान से ही होता है। सिद्ध दशा प्राप्त हो जाने के बाद अब ये सिद्ध जीव पूर्णतया सदा-सदा के लिए गमनागमन से रहित हो आत्मानंद में ही निमग्न रहते हैं।

प्रश्न ७४ : प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत दशा नामक क्रमशः छठवें और सातवें गुणस्थान का अंतर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : यद्यपि ये दोनों ही दशाएँ अंतर्बाह्य भावलिंग और द्रव्यलिंग सम्पन्न मुनिराज की ही हैं; तथापि इन दोनों में पारस्परिक कुछ अंतर भी

है; जो इसप्रकार है –

प्रमत्तसंयत	अप्रमत्तसंयत
१. गुणस्थान क्रम में यह छठवाँ गुणस्थान है।	गुणस्थान क्रम में यह सातवाँ गुण-स्थान है।
२. यह शुद्ध-परिणति सहित शुभोप-योगमय दशा है।	यह शुद्ध-परिणति सहित शुद्धो-पयोगमय दशा है।
३. यहाँ संज्वलन और नो कषायों का तीव्र उदय है।	यहाँ उनका मंद उदय है।
४. यहाँ से श्रेणी-आरोहण का पुरुषार्थ प्रारम्भ नहीं होता है।	इसके सातिशय भाग से श्रेणी-आरोहण का पुरुषार्थ होता है।
५. यहाँ से गमन करने पर ऊपर सातवें तथा नीचे के पाँचवें आदि सभी गुणस्थानों में जा सकते हैं।	यहाँ से गमन करने पर ऊपर आठवें तथा नीचे छठवें में और मरण की अपेक्षा मात्र चौथे में जा सकते हैं।
६. यहाँ आगमन एकमात्र सातवें से ही होता है।	यहाँ आगमन उपशमक आठवें से तथा दूसरे, तीसरे को छोड़कर नीचे के सभी गुणस्थानों से होता है।
७. आहार, विहार, निहार, ऋद्धि-प्रयोग आदि सभी शुभ-क्रियाएं इसमें होती हैं।	यह इन सभी क्रियाओं से रहित ए-कमात्र आत्म-ध्यान की दशा है।
८. इसमें व्यक्त और अव्यक्त दोनों प्रकार के प्रमाद रहते हैं।	यह प्रमाद-रहित दशा है।
९. संज्वलनादि के तीव्रोदयरूप इन भावों से असातावेदनीय आदि छह प्रकृतिओं का बंध होता है।	संज्वलनादि के मंदोदयरूप यहाँ स्थित विकृत भावों से मात्र एक देवायु का ही बंध हो सकता है।
१०. इसका उत्कृष्ट काल यथा-योग्य अंतर्मुहूर्त होने पर भी अप्रमत्त से अधिक है।	इसका उत्कृष्ट काल यथायोग्य अं-तर्मुहूर्त होने पर भी प्रमत्त से कम है।
११. आचार्य, उपाध्याय आदि पदों का भेद इसमें ही होता है।	इसमें ये भेद नहीं होते हैं।

इत्यादि अनेक प्रकार से इन दोनों में पारस्परिक अंतर है।

प्रश्न ७५ : अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण में अंतर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : ये दोनों ही करण के भेद होने पर भी इनमें कुछ पारस्परिक अंतर भी है। जो इसप्रकार है –

अपूर्वकरण	अनिवृत्तिकरण
१. गुणस्थान-क्रम में यह आठवाँ गुणस्थान है।	गुणस्थान-क्रम में यह नवमाँ गुण-स्थान है।
२. इसमें संज्वलन और नो कषाय का मंदतर उदय है।	इसमें उनका मंदतम उदय है।
३. यहाँ से गमन दोनों श्रेणिओं की अपेक्षा नवमें, उपशमक की अपेक्षा सातवें और मरण की अपेक्षा चौथे में होता है।	यहाँ से गमन दोनों श्रेणिओं की अपेक्षा दशवें, उपशमक की अपेक्षा आठवें और मरण की अपेक्षा चौथे में होता है।
४. यहाँ आगमन उपशमक की अपेक्षा नवमें से और दोनों की अपेक्षा सातवें से होता है।	यहाँ आगमन उपशमक की अपेक्षा दशवें से और दोनों की अपेक्षा आठवें से होता है।
५. यथायोग्य अंतर्मुहूर्त होने पर भी इसका काल अनिवृत्तिकरण की अपेक्षा कुछ अधिक है।	यथायोग्य अंतर्मुहूर्त होने पर भी इसका काल अपूर्वकरण की अपेक्षा कुछ कम है।
६. इसमें समान समयवर्ती जीवों के परिणाम समान-असमान – दोनों प्रकार के होते हैं।	इसमें समान समयवर्ती जीवों के परिणाम पूर्णतया सुनिश्चित समान होते हैं।
७. इसमें रहनेवाली विकृति से निद्रा आदि ३६ का बंध होता है।	इसमें रहनेवाली विकृति से पुरुष-वेद आदि ५ का बंध होता है।
८. इसमें बादर कृष्टि-सूक्ष्म कृष्टि नहीं होती है।	इसमें बादर कृष्टि-सूक्ष्म कृष्टि होती है।
९. इसके प्रथम भाग में मरण नहीं होता है।	इसके सभी भागों में मरण हो सकता है।

इत्यादि अनेक प्रकार से इन दोनों में पारस्परिक अंतर है।

प्रश्न ७६ : उपशांत-कषाय और क्षीण-कषाय नामक क्रमशः ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान का अंतर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : इन दोनों का पारस्परिक अंतर इसप्रकार है –

उपशांत कषाय	क्षीण कषाय
१. गुणस्थान क्रम में यह ग्यारहवाँ गुणस्थान है।	गुणस्थान क्रम में यह बारहवाँ गुणस्थान है।
२. इसमें मोहनीय की इक्कीस प्रकृतिओं का उपशम है।	इसमें मोहनीय की इक्कीस प्रकृतिओं का क्षय हो गया है।
३. यहाँ से उन्नति नहीं होती है, नियम से नीचे ही लौटते हैं।	यहाँ से नियमतः उन्नति हो तेरहवें गुणस्थान में जाते हैं।
४. इसमें द्वितीयोपशम और क्षायिक में से कोई भी एक सम्यक्त्व है।	इसमें क्षायिक सम्यक्त्व ही रहता है।
५. इसमें औपशमिक चारित्र है।	इसमें क्षायिक चारित्र है।
६. इन्हें एक अपेक्षा से मध्यम अंतरात्मा भी कहा गया है।	ये उत्कृष्ट अंतरात्मा ही कहलाते हैं।
७. ये उपचार से मोह-मुक्त हैं।	ये वास्तव में मोह-मुक्त हैं।
८. यहाँ शुक्लध्यान का दूसरा भेद नहीं माना है।	यहाँ शुक्लध्यान का दूसरा भेद होता है।
९. यथायोग्य अंतर्मुहूर्त होने पर भी इसका काल क्षीण-कषाय की अपेक्षा अधिक है।	यथायोग्य अंतर्मुहूर्त होने पर भी इसका काल उपशांत-कषाय की अपेक्षा कम है।
१०. यहाँ मरण सम्भव है।	यहाँ मरण नहीं होता है।
११. यह मोक्ष जाने पर्यंत काल में अधिकाधिक चार बार होता है।	यह मोक्ष जानेवाले प्रत्येक जीव के मात्र एक बार ही होता है।
१२. इसे प्राप्त करने के बाद भी पुरुषार्थ की हीनता आदि कारणों से कुछ कम अर्ध पुद्गल परावर्तन	ये तद्भव मोक्षगामी ही होते हैं।

काल तक संसार में रह सकते हैं।	
१३. यह मोक्षमार्ग में नियम से प्राप्त होनेवाला गुणस्थान नहीं है।	यह मोक्षमार्ग में नियम से प्राप्त होनेवाला गुणस्थान है।
१४. इसमें किसी भी कर्म-प्रकृति का अभाव नहीं होता है।	इसके अंत पर्यंत ६३ कर्म प्रकृतिओं का अभाव हो जाता है।

इत्यादि अनेक प्रकार से इन दोनों में पारस्परिक अंतर है।

प्रश्न ७७ : सयोग केवली जिन और अयोग केवली जिन नामक क्रमश: तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान का अंतर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : इन दोनों का पारस्परिक अंतर इसप्रकार है –

सयोग केवली	अयोग केवली
१. गुणस्थान क्रम में यह तेरहवाँ गुणस्थान है।	गुणस्थान क्रम में यह चौदहवाँ गुण-स्थान है।
२. यहाँ योगों का कम्पन होने से सातावेदनीय का ईर्यापथ आस्रव है।	यहाँ योग-कम्पन नहीं होने से ईर्या-पथ आस्रव भी नहीं है।
३. इनके विहार, दिव्यध्वनि आदि क्रियाएं होती हैं।	इनके कोई भी क्रियाएं नहीं होती हैं।
४. यहाँ बारहवें से आगमन होता है।	यहाँ तेरहवें से आगमन होता है।
५. यहाँ से अयोग केवली में गमन होता है।	यहाँ से सिद्ध दशा में गमन होता है।
६. इनके सामान्य केवली आदि अनेकों भेद होते हैं।	इनके वैसे भेद नहीं होते हैं।
७. इनके काल में जघन्य, उत्कृष्ट आदि भेद बनते हैं।	इनके काल में काल-भेद नहीं है।
८. आयु की विविधता के कारण यहाँ रहने की भी विविधता है।	यहाँ ५ ह्रस्वाक्षरों के उच्चारण प्रमाण काल मात्र ही रहते हैं।
९. यहाँ समुद्घात हो सकता है।	यहाँ वह नहीं होता है।
१०. इसके अंत में सूक्ष्म क्रिया-	इसमें व्युपरत क्रिया निर्वृत्ति नामक

प्रतिपाती शुक्ल-ध्यान है।	चौथा शुक्ल-ध्यान होता है।
११. ये उपचार से कारण परमात्मा कहलाते हैं।	ये वास्तव में कारण परमात्मा हैं।
१२. इसमें किसी भी कर्म-प्रकृति का अभाव नहीं होता है।	इसमें शेष रहीं सम्पूर्ण ८५ प्रकृतिओं का अभाव हो जाता है।

इत्यादि अनेकप्रकार से इन दोनों में पारस्परिक अंतर है।

प्रश्न ७८ : इतना विस्तृत गुणस्थान का यह प्रकरण समझने में हमें क्या लाभ है ?

उत्तर : गुणस्थान का यह प्रकरण समझने से हमें अनेकानेक लाभ हैं। जिनमें से कुछ मुख्य निम्नलिखित हैं –

१. गुणस्थान-निर्देश का प्रयोजन बताते हुए भट्ट अकलंकदेव अपने 'तत्त्वार्थराजवार्तिक' ग्रन्थ में लिखते हैं – "**तस्य संवरस्य विभावनार्थं गुणस्थानविभागवचनं क्रियते** – उस संवर के स्वरूप का विशेष परिज्ञान करने के लिए गुणस्थान के विभाग का वचन अर्थात् चौदह गुणस्थानों का विवेचन किया जाता है।"

संवर मोक्षमार्ग है, सम्यक्रत्नत्रय-स्वरूप है, भूमिकानुसार अतीन्द्रिय आनंदमय दशा और अतीन्द्रिय आनंद का कारण है। उपर्युक्त कथन से अत्यंत स्पष्ट है कि उस संवर का यदि विशेष ज्ञान करना चाहते हैं तो गुणस्थानों का स्वरूप जानना अत्यंत आवश्यक है।

२. गुणस्थानों के ज्ञान से सच्चे देव, धर्म, शास्त्र, गुरु का निर्णय होता है; जिससे इनसे भिन्न को सच्चे देव आदि मानने आदि रूप गृहीत मिथ्यात्व तो नष्ट होता ही है; अगृहीत मिथ्यात्व को नष्ट करने का भी सही मार्ग समझ में आ जाता है।

३. इनके ज्ञान से हमें अपनी भूमिका का भी यथार्थ ज्ञान हो जाता है; जिससे उससे आगे बढ़ने के लिए सही दिशा में सही पुरुषार्थ करने का मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

४. जीव के भावों और कर्मों के बंध आदि के मध्य होने वाले सहज घनिष्ठतम निमित्त-नैमित्तिक संबंध का भी ज्ञान इस प्रकरण से हो जाता है;

जिससे कर्म को बलवान मानने, उन्हें परेशान करने वाला मानने इत्यादि तत्संबंधी विपरीत मान्यताएं नष्ट हो जाती हैं तथा अपना अपराध स्वीकार कर उसे नष्ट करने की दिशा में सम्यक् पुरुषार्थ जागृत हो जाता है।

५. जीव की अनादि-अनंत, शाश्वत सत्ता का भी निर्णय इस प्रकरण को समझने से हो जाता है; जो अंतरोन्मुखी पुरुषार्थ के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

६. गुणस्थानानुसार होने वाले औदयिक-भावों की विविध विचित्रता का परिज्ञान भी इससे हो जाता है; जिससे व्यर्थ के राग-द्वेष से बच जाते हैं।

७. गुणस्थानानुसार नियम से होने वाले औदयिक-भाव महिमा-सूचक नहीं हैं; वरन् पुरुषार्थ की कमी के प्रतीक हैं – यह समझ में आ जाने पर अपने या अन्य के उन भावों को देखकर दीनता, हीनता, घमंड आदि का भाव नष्ट हो जाने से व्यक्तिवाद को बढ़ावा देने वाली दुष्प्रवृत्तिआँ नष्ट हो जाती हैं; जिससे अंतर्बाह्य वातावरण में सहज शांति-सामंजस्य बना रहता है।

८. गुणस्थानों का परिज्ञान होने से अपनी आत्मोन्मुखी वृत्ति बनाने-हेतु जीवन सहज, शुद्ध, सात्त्विक, न्याय-नीति-सम्पन्न, तनावरहित, निर्भार हो जाता है।

९. गुणस्थानों का स्वरूप समझ में आ जाने पर अनादि संसार से लेकर सिद्ध दशा पर्यंत का पथ समग्र दृष्टिओं से अत्यंत स्पष्टतया दृष्टिगोचर होने लगता है; जिससे सम्पूर्ण वाद-विवादों से पार हो, निश्शंकतया आत्मस्थिर रहने का पुरुषार्थ जागृत होता है।

१०. इतना सूक्ष्म, सुव्यवस्थित विवेचन करनेवाले सर्वज्ञ-प्रणीत जैनधर्म की महिमा भी ऐसे प्रकरणों को समझने से वृद्धिंगत होती है। सर्वज्ञ की महिमा से अपने सर्वज्ञ-स्वभाव का भी बोध होता है; जिससे सहज ही अन्य की महिमा नष्ट होकर दृष्टि स्वभाव-सन्मुख होने से जीवन अतीन्द्रिय आनंदमय सम्यक् रत्नत्रय-सम्पन्न हो जाता है।

इत्यादि अनेकानेक लाभ इस प्रकरण को समझने से प्राप्त होते हैं। ○

पाठ ८ : तीर्थंकर भगवान महावीर

प्रश्न १ : तीर्थंकर परंपरा में तीर्थंकर भगवान महावीर का क्रम स्पष्ट करते हुए उनका जीवन-परिचय लिखिए।

उत्तर : स्थाईत्व के साथ परिणमनशील, अनादि-अनंत, अकृत्रिम, स्वतः-सिद्ध, सुव्यवस्थित व्यवस्था-सम्पन्न इस विश्व में कर्तृत्व के अहंकार और अपनत्व के ममकार से दूर रहकर स्व और पर को समग्र रूप से जानते हुए आत्म-निमग्नतामय अतीन्द्रिय आनन्द-दशा-सम्पन्न व्यक्तित्व भगवान कहलाता है।

जिससे संसार-सागर तिरा जाता है, उसे तीर्थ कहते हैं। जो इस तीर्थ को करें अर्थात् संसार-सागर से स्वयं पार उतरें तथा अन्य को भी उतरने का मार्ग बताएं, उन्हें तीर्थंकर कहते हैं। सभी तीर्थंकर तो नियम से भगवान होते ही हैं; परन्तु तीर्थंकर हुए बिना भी भगवान होते हैं। परिवर्तनशील कर्मभूमि वाले भरत-ऐरावत क्षेत्र में २० कोड़ा-कोड़ी सागरवाले एक कल्पकाल में उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी संबंधी २४-२४ तीर्थंकर ही होते हैं।

तीर्थंकरों का यह क्रम अनादि से चला आया होने से और अनंत काल पर्यंत चलता रहने वाला होने से भगवान महावीर के तीर्थंकरत्व का क्रमांक सुनिश्चित कर पाना असम्भव है; तथापि इस अवसर्पिणी काल संबंधी भरत क्षेत्र के वे चौबीसवें और अंतिम तीर्थंकर थे। यहाँ उनसे पूर्व उनके समान ही ऋषभादि तेईस तीर्थंकर और भी हो गए हैं।

तीर्थंकर महावीर के वर्तमान भव की जीवन-गाथा मात्र इतनी सी ही है कि वे आरम्भ के तीस वर्षों में वैभव और विलास के बीच जल से भिन्न कमलवत् रहे; मध्य के बारह वर्षों में जंगल में परम मंगल की साधना करते हुए एकांत आत्म-आराधना रत रहे और अंतिम तीस वर्षों में प्राणी मात्र के कल्याण-हेतु सर्वोदय धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन, प्रचार व प्रसार करते रहे।

भगवान महावीर का वर्तमान जीवन यद्यपि घटना-बहुल नहीं है। उनके सर्वांगीण विकसित सर्वोत्कृष्ट व्यक्तित्व को घटनाओं में खोजना

भी व्यर्थ है; तथापि ऐसी कौन-सी लौकिक घटना शेष है, जो उनके अनंत पूर्वभवों में उनके साथ न घटी हो।

वे पूर्वभवों में चक्रवर्ती, अर्धचक्रवर्ती भी हुए हैं। अनेकों बार नरक के नारकी तथा अनेकों बार सिंहादि क्रूर पशु भी हुए हैं। अनादि से तो प्रत्येक जीव ही निगोद में रहा है; परन्तु इस जीव ने तो वहाँ से निकलने के बाद पुन: वहाँ पहुँच कर अनेक भव निगोद में व्यतीत किए हैं। इस युग के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के कुल में, इस युग के प्रथम चक्रवर्ती भरत का पुत्र बन, दिगम्बर दीक्षा लेने के बाद भी प्रथम तीर्थंकर द्वारा प्रतिपादित वस्तु-व्यवस्था का विरोध कर अनन्त दु:ख सहन किए हैं। निष्कर्ष यह है कि सभी सांसारिक अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों के बीच रहकर भी परलक्षी परिणामों से इस जीव ने एकमात्र दु:ख ही दु:ख सहन किए हैं।

सिंह पर्याय में स्वोन्मुखी वृत्ति द्वारा सम्यक्रत्नत्रय व्यक्त कर आत्मिक उन्नति का क्रम प्रारंभ कर यह जीव क्रमश: बढ़ते-बढ़ते उससे दशवें भव में तीर्थंकर भगवान महावीर वर्धमान हुआ।

बालक वर्धमान का जन्म वैशाली गणतंत्र के प्रसिद्ध राजनेता लिच्छवि राजा सिद्धार्थ की रानी प्रियकारिणी त्रिशला के उदर से कुण्डग्राम कुण्डलपुर में हुआ था। उनकी माँ वैशाली गणतंत्र के अध्यक्ष राजा चेटक की प्रथम पुत्री थीं।

बालक वर्धमान के गर्भ में आने से पूर्व रात्रि के पिछले प्रहर में शांत चित्त से निद्रावस्था में उन्होंने महान शुभ सूचक सोलह स्वप्न देखे। जिनका फल बताते हुए राजा सिद्धार्थ ने अपनी प्रसन्न मुखाकृति से कहा कि तुम्हारे उदर से तीन लोक के हृदयों पर शासन करने वाले, धर्मतीर्थ के प्रवर्तक, महाभाग्यशाली, भावी तीर्थंकर बालक का जन्म होगा। आषाढ़ शुक्ला षष्ठी के दिन बालक वर्धमान माँ के गर्भ में आए। यह उनका अंतिम गर्भा-वास था। इंद्रादि ने आकर गर्भकल्याणक मनाया।

गर्भकाल पूर्ण होने पर आज (सन् २००८) से लगभग २६०८ वर्ष पूर्व चैत्र शुक्ला त्रयोदशी की शुभ बेला में उनका जन्म हुआ। परिजन, पुरजनों के साथ ही इंद्रादि ने भी उनके जन्म का महा उत्सव किया। जन्म कल्याणक

मनाने के लिए अभिषेक करने हेतु इंद्रादि उन्हें ऐरावत हाथी पर बिठाकर सुमेरु पर्वत पर ले गए।

कंचनवर्णी सर्वांग सुन्दर कायावाले बालक वर्धमान जन्म से ही आत्म-ज्ञानी, विचारवान, विवेकी, निडर, स्वस्थ और आकर्षक व्यक्तित्व के धनी सत्पुरुष थे।

प्रत्युत्पन्नमति, विपत्तिओं में भी संतुलित चित्त वाले बालक वर्धमान की वीरता, धीरता, निर्भीकता की परीक्षा लेने का भाव एक बार संगम नामक देव को आ गया। बालक वर्धमान अन्य बाल-मित्रों के साथ एक बार क्रीड़ा वन में खेलते हुए जब एक वृक्ष पर चढ़ गए थे; तब वह देव भयंकर कुपित, फुफकारते हुए काले नागराज का रूप बनाकर वृक्ष से लिपट गया। अन्य सभी बालक तो भय से काँपने लगे; परन्तु वर्धमान को निश्शंक, निर्भयरूप में अपनी ओर आता देख असली रूप में आ, उन्हें 'वीर' कहकर वह चला गया।

एकबार एक मदोन्मत्त हाथी कुपित हो गजशाला का बंधन तोड़कर नगर में यहाँ-वहाँ विध्वंस करने लगा। राजकुमार वर्धमान ने अपनी शक्ति और युक्ति से क्षणभर में उसे निर्मद कर दिया। यह देख सभी उन्हें 'अतिवीर' कहने लगे।

संजय और विजय नामक दो चारण ऋद्धिधारी मुनिराजों की शंका का समाधान वर्धमान को देखने मात्र से हो जाने के कारण उन्होंने उन्हें 'सन्मति' नाम से सम्बोधित किया।

यौवनावस्था में प्रविष्ट होते ही दुनिया ने उन्हें अपने रंग में रँगना चाहा; परन्तु आत्मा के रंग में सर्वांग सरावोर वर्धमान पर उसका रंग न चढ़ सका। अनेक-अनेक प्रकार से समझाने पर भी, विविध प्रलोभन बताने के बाद भी वे विवाह करने के लिए तैयार नहीं हुए तथा अबंध-स्वभावी आत्मा का आश्रय ले मोह-बंधन को तोड़कर, तीस वर्षीय भरे यौवन में मंगसिर कृष्ण दशमी के दिन दीक्षा लेने वन को चल दिए।

इस प्रसंग पर उनके वैराग्य की अनुमोदना करने के लिए स्वर्ग से लौकांतिक देव भी आए। तत्पश्चात् इंद्रादि ने आकर तप कल्याणक का

उत्सव किया। दीक्षा के बाद उनका सर्वप्रथम आहार कुलग्राम नामक नगर के राजा कूल (नन्दन/विश्वसेन) के यहाँ हुआ था।

बारह वर्ष पर्यंत अंतर्बाह्य घोर तपश्चरण के बाद जृंभिका ग्राम के निकट ऋजुकूला नदी के किनारे मनोहर नामक वन में शालवृक्ष के नीचे प्रतिमायोग धारण कर आत्मलीनता की स्थिति में बैसाख शुक्ला दशमी के अपरान्ह में मुनि वर्धमान को केवलज्ञान हो गया। वे अनन्त चतुष्टय-सम्पन्न अरहंत भगवान हो गए; घाति-कर्मरूपी महा शत्रु को नष्ट कर महावीर तीर्थंकर बन गए। इंद्रादि ने आकर उनका केवलज्ञान कल्याणक महोत्सव मनाया।

इसप्रकार उनके वर्धमान, वीर, अतिवीर, सन्मति और महावीर – ये पाँच नाम प्रसिद्ध हो गए।

तीर्थंकर नामक महा पुण्य प्रकृति का उदय आ जाने से वे तीर्थंकर भगवान महावीर नाम से विश्रुत हुए। इंद्र की आज्ञा से कुबेर ने तत्त्वोपदेश-हेतु बारह सभायुक्त समवसरण की रचना की। भगवान बनने के ६६ दिन बाद श्रावण कृष्ण प्रतिपदा के दिन उनकी देशना प्रारम्भ हुई। तब से ही यह दिन वीर शासन जयन्ती के रूप में याद किया जाने लगा।

उनकी समवसरण सभा में इंद्रभूति गौतम आदि ११ गणधर थे। मात्र नारकिओं को छोड़कर शेष तीन गतिवाले जीव वहाँ बैठकर उनकी देशना को सुनते थे। उनकी दिव्यध्वनि में जीवादि सभी द्रव्यों की परिपूर्ण स्व-तंत्रता की घोषणा हुआ करती थी। उनका उपदेश था कि प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र है, कोई किसी के अधीन नहीं है। पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त करने का मार्ग स्वावलंबन है। रंग, राग और भेद से भिन्न निज शुद्धात्मा पर दृष्टि केन्द्रित करना ही स्वावलम्बन है। अपने बल पर ही स्वतंत्रता प्राप्त की जा सकती है। अनन्त सुख और स्वतंत्रता भीख में प्राप्त होने वाली वस्तु नहीं है और न उसे दूसरों के बल पर ही प्राप्त किया जा सकता है।

इत्यादि प्रकार का उपदेश देते हुए लगातार तीस वर्ष पर्यंत उनका विहार सम्पूर्ण देश में होता रहा।

अंत में ७२ वर्ष की आयु पूर्ण कर पावापुर से कार्तिक कृष्ण अमावस्या

(दीपावली पर्व) के दिन ब्रम्हमुहूर्त में आपने द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से रहित हो निर्वाण पद प्राप्त कर लिया। इंद्रादि ने आकर निर्वाण कल्याणक का उत्सव किया। उसी दिन सायंकाल उनके प्रमुख शिष्य इंद्रभूति गौतम को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई थी।

ज्ञानी जनों द्वारा उनका शासन अभी भी सुरक्षित चला आ रहा है। हम भी उनसे आत्मा से परमात्मा बनने की कला सीखकर परमात्मा बनें यही उनके जीवन की सद्प्रेरणा है।

प्रश्न २ : बालक वर्धमान के गर्भ में आने से पूर्व उनकी माँ ने कितने और कौन-कौन से स्वप्न देखे थे ? फल सहित स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : प्रत्येक तीर्थंकर की माँ बालक के गर्भ में आने से पूर्व अपूर्व अद्-भुत १६ स्वप्न देखती हैं; तदनुसार बालक वर्धमान के गर्भ में आने से पूर्व उनकी माँ प्रियकारिणी त्रिशला ने भी सोलह स्वप्न देखे थे। जो क्रमश: इसप्रकार हैं –

१. मदोन्मत्त गज, २. ऊँचे कंधों वाला शुभ्र बैल, ३. गरजता सिंह, ४. कमल के सिंहासन पर बैठी लक्ष्मी, ५. दो सुगंधित मालाएं, ६. नक्षत्रों की सभा में बैठा चंद्र, ७. उगता हुआ सूर्य, ८. कमल के पत्तों से ढ़ँके दो स्वर्ण कलश, ९. जलाशय में क्रीड़ारत मीन-युगल, १०. स्वच्छ जल से परिपूर्ण जलाशय, ११. गंभीर घोष करता सागर, १२.मणि जड़ित सिंहासन, १३. रत्नों से प्रकाशित देव विमान, १४. धरणेंद्र का गगनचुम्बी विशाल भवन, १५. रत्नों की राशि और १६. निर्धूम अग्नि।

प्रात:कालीन क्रियाओं से निवृत्त हो जब होनेवाले तीर्थंकर की माँ, होने वाले तीर्थंकर के पिता सिद्धार्थ के पास इनका फल जानने के लिए जाती हैं; तब निमित्त-शास्त्र के ज्ञाता उन्होंने इनका फल क्रमश: इसप्रकार बताया –

तुम्हारा पुत्र १. गज-सा बलिष्ठ, २. वृषभ-सा कर्मठ, ३. सिंह-सा प्रतापी, ४. अनन्त चतुष्टय लक्ष्मी का धारी, ५. सुमनों-सा कोमल, ६. चंद्र-सा शीतल, ७. सूर्य-सा अज्ञानांधकार नाशक, ८. स्वर्ण कलश-सा मंगलमय, ९. जलाशय में क्रीड़ारत मीनयुगल के समान ज्ञानानन्द

सागर में मग्न रहने वाला, १०. निर्मल समकित-ज्ञान से परिपूर्ण वात्सल्य भावयुक्त, ११. सागर-सा गंभीर/केवलज्ञान-सम्पन्न, १२. तीन लोक के दिलों पर शासन करने वाला, १३. सोलहवें स्वर्ग से आने वाला, १४. अवधिज्ञान का धनी, १५. रत्न-राशि-सा दैदीप्यमान या गुणों का स्वामी और १६. अग्निशिखा-सा जाज्वल्यमान या ध्यानाग्नि से कर्मों को जलाने वाला होगा।

इन्हें हम आमने-सामने रखकर चार्ट द्वारा समग्रतया इसप्रकार समझ सकते हैं –

देखे गए स्वप्न	स्वप्न फल
१. मदोन्मत्त गज	प्रतापशाली, बलिष्ठ।
२. ऊँचे कंधोंवाला शुभ्र बैल	संसार में श्रेष्ठ, कर्मठ।
३. गरजता सिंह	शक्तिशाली, पराक्रमी।
४. कमल सिंहासन पर बैठी लक्ष्मी या कमलयुक्त कलश द्वारा लक्ष्मी को स्नान कराते हुए दो हाथी	अनन्त चतुष्टय लक्ष्मी का धारक या सुमेरु पर्वत पर अभिषिक्तवान।
५. दो सुगंधित मालाएं	सुमनों-सा कोमल या धर्मतीर्थ प्रवर्तक।
६. नक्षत्रों की सभा में बैठा चंद्र	संसार को आनन्ददायी या चंद्र-सा शीतल।
७. उगता हुआ सूर्य	सूर्य-समान तेजस्वी।
८. कमल के पत्तों से ढ़ँके दो स्वर्ण कलश	निधिओं का भोक्ता या स्वर्ण कलश-सा मंगलमय।
९. जलाशय में क्रीड़ारत मीन-युगल	ज्ञानानन्द सागर में मग्न रहनेवाला।
१०. स्वच्छ जल से परिपूर्ण जलाशय	निर्मल समकित-ज्ञान से परिपूर्ण या वात्सल्य भाव-सम्पन्न।
११. गंभीर घोष करता सागर	सागर-सा गंभीर या केवलज्ञान-सम्पन्न।

१२. मणि जड़ित सिंहासन	तीन लोक के दिलों पर शासन करने वाला।
१३. रत्नों से प्रकाशित देव विमान	सोलहवें स्वर्ग से आनेवाला।
१४. धरणेंद्र का विशाल भवन	अवधिज्ञान का धनी।
१५. रत्नों की राशि	रत्न-राशि-सा दैदीप्यमान या गुणों का स्वामी।
१६. निर्धूम अग्नि	अग्निशिखा-सा जाज्वल्यमान या ध्यानाग्नि से कर्मों को जलाने वाला।

प्रश्न ३ : पंच कल्याणक महोत्सवों का सामान्य परिचय दीजिए।

उत्तर : जिनागम में प्रत्येक तीर्थंकर के जीवन काल की पाँच प्रसिद्ध घटनाओं का उल्लेख मिलता है। ये घटनाएँ जगत के लिए अत्यन्त कल्याणमय और मंगलकारी होने से पंच कल्याणक कहलाती हैं। विदेह क्षेत्र में तीन या दो कल्याणकवाले तीर्थंकर भी होते हैं; परन्तु भरत और ऐरावत क्षेत्र में पाँचों कल्याणक वाले तीर्थंकर ही होते हैं।

नवनिर्मित जिनबिम्ब की शुद्धि करने के लिए पंच कल्याणक प्रतिष्ठा पाठ में जो विधि की जाती है; वह सभी इन्हीं प्रधान पाँच कल्याणकों की कल्पना है।

जम्बूद्वीप-पण्णत्ति में इन्हें इसप्रकार व्यक्त किया गया है –

गाथा का सार : "जिनदेव गर्भावतारकाल, जन्मकाल, निष्क्रमण काल, केवलज्ञानोत्पत्तिकाल और निर्वाणकाल में पाँच महाकल्याणकों को प्राप्त होकर महा ऋद्धियुक्त सुरेंद्रों से पूजित होते हैं।"

इन पंच कल्याणकों का संक्षिप्त परिचय इसप्रकार है –

१. गर्भावतरण या गर्भ कल्याणक : तीर्थंकर भगवान होनेवाले जीव के गर्भ में आने के ६ माह पूर्व से लेकर जन्म पर्यंत अर्थात् लगभग १५ माह पर्यंत उनके जन्म स्थान पर, इंद्र की आज्ञा से कुबेर द्वारा प्रातः, मध्यांह, सायंकाल और मध्यरात्रि – इसप्रकार चार बार प्रतिदिन साढ़े तीन करोड़-साढ़े तीन करोड़ प्रमाण अर्थात् एक दिन में १४ करोड़ रत्नों की वर्षा होती है। जिससे सम्पूर्ण नगरी धन-धान्य से समृद्ध हो जाती है।

कुंडलगिरी पर रहनेवालीं चूलावती, मालनिका, नवमालिका, त्रिशिरा, पुष्पचूला, कनकचित्रा, कनकादेवी और वारुणी देवी नामक अष्ट दिक्कन्याएं देवीं आकर माता की सेवा प्रच्छन्न और अप्रच्छन्नरूप में करती हैं।

इनके साथ ही कल्पवासी देवेंद्रों की १२ इंद्राणिआँ, भवनवासी देवेंद्रों की २० इंद्राणिआँ, व्यंतर देवेंद्रों की १६ इंद्राणिआँ, ज्योतिष्क देवेंद्रों की २ इंद्राणिआँ और कुलाचल वासिनी श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी नामक छह देविआँ – कुल ५६ देवांगनाएँ माता की सेवा में सतत तत्पर रहती हैं। इनमें से श्री आदि छह देविआँ तो माता के गर्भशोधन का कार्य करती हैं; शेष सभी अनेक-अनेक प्रकार से उनकी सेवा-सुश्रूषा में लीन रहती हैं।

गर्भ वाले दिन की पूर्वरात्रि में माता सोलह स्वप्न देखती हैं। जिनके फलरूप में तीर्थंकर अवतरण का निश्चय कर माता-पिता अत्यधिक प्रसन्न होते हैं।

विविध निमित्तों से गर्भावतरण को जानकर देवेंद्र आदि भी यहाँ आकर, उस नगरी की प्रदक्षिणा दे, माता-पिता का सम्मान कर गर्भावतरण का महोत्सव मनाते हैं।

तीर्थंकर माता के शरीर में गर्भ-वृद्धि के कोई भी चिन्ह दिखाई नहीं देते हैं। जग-कल्याण की तीव्र भावनारूप उनके दोहले से ही गर्भ का निश्चय किया जाता है।

२. जन्म कल्याणक : बाल तीर्थंकर का जन्म होते ही वातावरण में सर्वत्र एक अद्‌भुत सुख-शांति छा जाती है; देव भवनों व स्वर्गों आदि में स्व-यमेव घंटे आदि बजने लगते हैं, इंद्रों के आसन कम्पित हो जाते हैं। बालक के जन्म का निश्चय कर वे जन्मोत्सव मनाने के लिए बड़ी धूमधाम से उस नगर में आते हैं। दिक्कुमारी देविआँ बालक का जातकर्म करती हैं। कुबेर नगर की अद्‌भुत शोभा करता है। सौधर्मेंद्र की आज्ञा से शची इंद्राणी प्रसूतिगृह में जाकर, बाल तीर्थंकर और माता की स्तुति कर माता को मायामयी निद्रा में निमग्न कर, उनके पास मायामयी शिशु रख, अति सम्मांन पूर्वक अपने हाथों में बाल तीर्थंकर को उठाकर वहाँ से बाहर आती है। इनके आगे छत्र आदि अष्ट मंगल द्रव्य धारण किए

दिक्कुमारी देविआँ चलती हैं। इंद्राणी भावी-जगद्-गुरु बालक को इंद्र के हाथों में सौंप देती है।

हजार नेत्र बनाकर देखने के बाद भी इंद्र बालक का अद्भुत सौन्दर्य देखते हुए संतुष्ट नहीं होता है। बाल तीर्थंकर की स्तुति कर इंद्र उन्हें अपनी गोद में लेकर ऐरावत हाथी पर विराजमान हो सुमेरु पर्वत की ओर जाता है। सौधर्मेंद्र की गोद में भावी त्रिलोकीनाथ हैं। ईशानेंद्र उनके ऊपर धवल वर्ण का छत्र लगाए है। सानत्कुमार और माहेंद्र नामक देवेंद्र उनके ऊपर चँवर ढोरते हैं। शेष सभी इंद्र आदि जय-जयकार करते हुए उनके पीछे चलते हैं।

सुमेरु पर्वत पर पहुँचने के बाद बाल तीर्थंकर को पांडुक शिला के सिंहासन पर विराजमान कर, क्षीर सागर से देवों द्वारा लाए गए १००८ जल कलशों द्वारा एकसाथ उनका अभिषेक होता है। तदनंतर इंद्राणी उन्हें देवोपनीत वस्त्राभूषणों से समलंकृत करती है। पुनः सभी जन्म-नगरी में आकर सौधर्मेंद्र उन भावी भगवान को सिंहासन पर विराजमान कर उनके अँगूठे में अमृत भर देता है तथा दाहिने पैर के अँगूठे में दिखाई दिए चिंह को, उनका चिंह घोषित कर देता है। ये बाल तीर्थंकर जन्म से ही दश अतिशय सम्पन्न होते हैं।

तत्पश्चात् ताण्डव नृत्य आदि अनेकों विक्रियामय आश्चर्यकारी लीलाएँ प्रगट कर जन्मकल्याणक महोत्सव मना, उनकी सेवा में अनेक देव-गणों को रखकर वह सौधर्मेंद्र अपने स्थान पर लौट जाता है। दिक्कु-मारी देविआँ भी अपने-अपने स्थान पर चली जाती हैं।

३. तप या निष्क्रमण कल्याणक : राज्य-वैभव के बीच रहते हुए कोई कारण पाकर राजकुमार या राजा भावी तीर्थंकर का चित्त विषय-भोगों से अत्यन्त उदास होते ही ब्रम्ह स्वर्ग से लौकांतिक देव आकर उनके वैराग्य की अनुमोदना/प्रशंसा करते हैं। सौधर्मेंद्र आकर उनका अभिषेक कर, उन्हें वस्त्राभूषणों से अलंकृत कर, कुबेर द्वारा लाई गई पालकी उनके समक्ष रख देता है। भावी भगवान के उसमें विराजमान होते ही इंद्रगण उन्हें आकाश-मार्ग से तपोवन में ले जाते हैं।

वहाँ एक मणिमयी शिला पर पूर्व या उत्तर की ओर मुख कर विराजमान

हो भावी तीर्थंकर 'नमः सिद्धेभ्यः' कहते हुए वस्त्राभूषण का त्यागकर, पंचमुष्टि केशलोंच कर, सदा-सदा के लिए मौन हो आत्म-निमग्न हो जाते हैं। इसप्रकार वे स्वयं दीक्षित हो नग्न, दिगम्बर, सर्व आरम्भ-परिग्रह-त्यागी, स्वरूप-साधक साधु/मुनि हो जाते हैं। इंद्रादि सभी मिलकर उनका तप या निष्क्रमण कल्याणक महोत्सव मनाते हैं।

यथावसर भूमिकानुसार विकल्प आने पर उनका विविध स्थानों पर विधिवत् आहार-विहार होता रहता है। निहार तो उन्हें जन्म से ही नहीं था।

४. केवलज्ञान कल्याणक : ज्ञानानन्द-स्वभावी अपने भगवान आत्मा में परिपूर्ण स्थिरता होते ही भावी तीर्थंकर वे मुनिराज अनन्त चतुष्टय-सम्पन्न अरहंत हो जाते हैं। चार घाति कर्मों का अभाव होकर उन्हें नव केवल-लब्धि व्यक्त हो जाती हैं। उनका विद्यमान औदारिक शरीर भी सात धातु से रहित परमौदारिक हो जाता है। वे पृथ्वी से पाँच हजार धनुष ऊपर आकाश में चले जाते हैं।

तीर्थंकर प्रकृति का उदय आ जाने से वे तीर्थंकर अरहंत हो जाते हैं; केवलज्ञान संबंधी दश अतिशय प्रगट हो जाते हैं। समस्त देवों के यहाँ अपने-अपने वाद्ययंत्र बजने लगते हैं; इंद्रों के आसन कंपित होने लगते हैं इत्यादि चिंहों से मुनिराज के केवलज्ञान का निर्णयकर इंद्रादि सभी यहाँ पृथ्वी पर आकर उनके केवलज्ञान कल्याणक का महोत्सव मनाते हैं। इंद्र की आज्ञा से कुबेर समवसरण की रचना करता है।

यह समवसरण सभा (भगवान का प्रवचन मंडप) विश्व की एक अद्-भुत, आश्चर्य कारक, सर्वोत्तम रचना होती है। पृथ्वी से पाँच हजार धनुष ऊपर आकाश में बना होने के कारण इसके चारों ओर नीचे से ऊपर तक बीस-बीस हजार स्वर्णमयी सीढ़िआँ होती हैं। जो बाल, वृद्ध, लूले, लंगड़े, अंधे आदि सभी के द्वारा अंतर्मुहूर्त में पार कर ली जाती हैं।

धूलिशाल नामक रत्नमय कोट (परकोटा) से घिरे इस समवसरण में सर्वप्रथम चारों दिशाओं में एक-एक मान-स्तम्भ होता है। तत्पश्चात् क्रमशः १. चैत्य भूमि, २. खातिका भूमि, ३. लता भूमि, ४. उपवन भूमि, ५. ध्वजा भूमि, ६. कल्पांग भूमि, ७. गृह भूमि, ८. सद्गण भूमि, ९-१०-११. तीन पीठिका भूमिका – इसप्रकार ग्यारह भूमिआँ होती हैं।

तीसरी पीठिका के ऊपर निर्मित अष्ट प्रातिहार्यों सहित गंधकुटी के उत्कृष्ट-तम सिंहासन पर चार अंगुल ऊपर रह तीर्थंकर भगवान पूर्व या उत्तर की ओर मुख कर विराजमान रहते हैं; परन्तु सातिशयता के कारण उनका मुख सभी ओर दिखाई देता है।

समवसरण की आठवीं सद्गण भूमि में बारह सभाएँ होती हैं। जहाँ बैठकर भव्य जीव दिव्यध्वनि-श्रवण करते हैं। उनमें बैठनेवाले जीवों का क्रम इसप्रकार है – भगवान के दाहिनी ओर से १. गणधर आदि सभी मुनि-राज, २. कल्पवासिनी देविआँ, ३. आर्यिकाएं तथा सभी मनुष्य स्त्रिआँ, ४. ज्योतिष्क देवागंनाएँ, ५. व्यंतर देवांगनाएँ, ६. भवनवासी देवांगनाएँ, ७. भवनवासी देव, ८. व्यंतर देव, ९. ज्योतिष्क देव, १०. कल्पवासी देव, ११. चक्रवर्ती आदि सभी मनुष्य, १२. सिंह-हिरण-कबूतर आदि सभी पशु-पक्षी।

समवसरण में दिन-रात, उच्च-नीच, धनी-निर्धन आदि किसी भी प्रकार का भेद-भाव नहीं होता है। परस्पर बैर-विरोध भूलकर, आधि-व्याधि-उपाधि से रहित, पूर्ण निश्चिंत, निर्भय हो शांत चित्त से सभी दिव्यध्वनि सुनते हैं। यह समवसरण सभा सर्वप्राणी समभाव का अद्वितीय अप्रतिम प्रतीक है।

देवकृत चौदह अतिशयों से सम्पन्न, अष्ट मंगलद्रव्यों से सुशोभित ध्व-जाओं सहित तीर्थंकर भगवान का कर्म-योग वश क्षेत्र-काल आदि की योग्यतानुसार विहार भी होता है।

भगवान का श्रीविहार अन्यत्र दुर्लभ, अद्भुत महिमामय होता है। इस समय सभी सभीप्रकार से संतुष्टि का अनुभव करते हैं। भगवान के चरणों से चार अंगुल नीचे देवगण २२५ स्वर्ण कमलों की रचना करते जाते हैं। आगे-आगे धर्म-चक्र चलता है; देव-दुंदभी, वाद्य बजते रहते हैं, जय-जयकार की ध्वनि होती रहती है, अष्ट मंगल द्रव्य साथ-साथ चलते हैं, ऋषिगण आदि पीछे-पीछे चलते हैं।

योग-निरोध काल कम शेष रही मनुष्य आयु पर्यंत तीर्थंकर भगवान का योग्यतानुसार इसीप्रकार श्रीविहार और सदुपदेश होता रहता है।

५. *निर्वाण कल्याणक :* तीर्थंकर भगवान के योग-निरोध समय की

समाप्ति पर सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति और व्युपरत-क्रिया-निर्वृत्ति नामक शुक्लध्यान द्वारा अघाति कर्मों का भी पूर्णतया क्षय हो जाने से वे अरहंत भगवान सर्वांग परिपूर्ण शुद्ध सिद्ध दशा को प्राप्त हो जाते हैं। द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म का सर्वदा के लिए सर्वथा अभाव हो वे अशरीरी, निष्कर्म, कृत-कृत्य, अठारह हजार शील के परिपूर्ण स्वामी हो जाते हैं। उनका परमौदारिक शरीर कपूर के समान विलीन हो जाता है। इंद्रादि आकर निर्वाण कल्याणक का महोत्सव मनाते हैं।

वे अरहंत तीर्थंकर सकल परमात्मा अब निकल परमात्मा बनकर अनन्त काल पर्यंत ऐसी ही समग्र स्वात्मोपलब्धि रूप सिद्ध दशा में अतीन्द्रिय अव्याबाध सुख का भोगोपभोग करते हुए विराजमान रहते हैं।

इसप्रकार कल्याणकारी तीर्थंकरों के जीवनकाल में घटनेवाली पंच कल्याणकरूप में प्रसिद्ध ये पाँच घटनाएँ हमारे कल्याण में भी कारण बनें – इस भावना के साथ आचार्यों के स्वर में स्वर देते हुए आचार्यश्री वट्ट-केर स्वामी-कृत मूलाचार की गाथा उद्धृत करती हूँ –

"जा गदी अरहंताणं, णिट्ठिदट्ठाणं च जा गदी।
जा गदी वीदमोहाणं, सा मे भवदु सस्सदा।।११६।।

जो गति अरहंतों की है, जो गति कृत-कृत्य सिद्धों की है, जो गति वीतमोह जिनों की है, वह शाश्वत गति सदा मेरी भी हो।"

प्रश्न ४ : भगवान महावीर के गणधरों की संख्या और नाम लिखते हुए उनके शिष्य-परिवार का उल्लेख कीजिए।

उत्तर : भगवान महावीर स्वामी के समवसरण में ११ गणधर थे। जिनके नाम इसप्रकार हैं – १. इंद्रभूति, २. अग्निभूति, ३. वायुभूति, ४. शुचिदत्त, ५. सुधर्म, ६. मांडव्य, ७. मौर्यपुत्र, ८. अकम्पन, ९. अचल, १०. मेदार्य और ११. प्रभास।

उनके कर्मठ शिष्य परिवार में सामान्य केवली ७००, पूर्वधारी मुनिराज ३००, शिक्षक/उपाध्याय मुनिराज ९९००, विपुलमति मन:पर्यय ज्ञानी ५००, विक्रिया ऋद्धिधारी ९००, अवधिज्ञानी मुनि १३००, वादी मुनि ४०० – इसप्रकार कुल मुनिराजों की संख्या १४००० थी। चंदना आदि

३६००० आर्यिकाएँ, एक लाख श्रावक और तीन लाख श्राविकाएं उनके समवसरण में धर्म-लाभ लेती थीं। देव आदि रूप में तो उनके अनुयायिओं की संख्या अगणित थीं। श्री 'तिलोयपण्णत्ति' के अनुसार समवसरण में पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण जीव जिन भगवान के वंदनार्थ प्रवृत्त होते हुए स्थित रहते हैं।

प्रश्न ५ : कुमार वर्धमान बाल्यावस्था में महत्त्वपूर्ण दार्शनिक सिद्धान्तों को बातों ही बातों में कैसे समझा देते थे ?

उत्तर : वस्तु-स्वातंत्र्य-सम्पन्न धार्मिक वृत्तिवान होने से बालक वर्धमान अल्पवय में भी प्रत्येक घटना को इसी दृष्टि से देखते थे। यही कारण है कि उनके साथ वार्तालाप में सहज ही अनेकानेक दार्शनिक सिद्धान्त स्पष्ट हो जाते थे। इसके कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं –

१. नागराज बनकर परीक्षा लेने के बाद संगम देव द्वारा 'वीर' की उपाधि से सम्बोधित किए जाने पर उन्होंने कहा – इसमें वीरता की क्या बात है ? क्या साँप से न डरना ही वीरता और महावीरता है ? क्या अब दुनियाँ में वीरता की कषौटी यही रह गई है ? यदि हाँ ! तो फिर सभी सपेरे महावीर हैं।

तुम आए तो थे मेरी परीक्षा लेने ! और अब मुझे 'वीर' का प्रमाण-पत्र भी दे रहे हो !! पर मुझे आपके प्रमाण-पत्र की आवश्यकता नहीं है। क्या भविष्य में वीरता प्रमाण-पत्रों से ही चलेगी ? यदि जाँचना है तो अपने को जाँचो, परखना है तो अपने को परखो; पर को क्यों परखते हो? सब दूसरों को ही परखना चाहते हैं, दूसरों को ही जानना चाहते हैं। आत्मा का स्वभाव स्व-पर प्रकाशक है। 'स्व' को पहले जानो; तत्पश्चात् 'पर' का ज्ञान भी हो जाएगा।

२. मदोन्मत्त हाथी को वश में कर लेने पर जनता द्वारा 'अतिवीर' उपाधि से सम्बोधित किए जाने के प्रसंग में उन्होंने कहा – साधारण पशुओं को जीतने में कौन सी वीरता की बात है ? अपने को जीतना ही सच्ची वीरता है। मोह-राग-द्वेष को जीतना ही अपने को जीतना है। दूसरों को तो इस जीव ने अनेकों बार जीता है, पर अपने को नहीं जीता। दूसरों को जानने और जीतने में अनन्त भव खोने के बाद भी इस जीव ने अनन्त दुःख ही

पाए हैं। यदि एक बार अपने को जान लेता, अपने को जीत लेता तो ज्ञानानन्दमय हो जाता; भवभ्रमण से छूटकर भगवान बन जाता।

यदि हाथी को वश में कर लेना ही वीरता हो तो सभी महावत वीर ही होंगे। वे तो हाथिओं पर सदा अनुशासन भी करते हैं; परन्तु दूसरों पर अनुशासन करना कोई बड़ी बात नहीं है। बड़ी बात तो आत्मानुशासन है। अपने पर अनुशासन करने वालों ने ही अपने को पाया है।

३. शंका का समाधान हो जाने के कारण संजय-विजय नामक दो चारण ऋद्धिधारी मुनिओं द्वारा 'सन्मति' शब्द से सम्बोधित किए जाने की चर्चा ज्ञात होने पर उन्होंने कहा कि स्वयं ज्ञानस्वरूप होने से अपना आत्मा ही सर्वसमाधान कारक है। दूसरों को देखना-सुनना तो निमित्तमात्र है। मुनिराजों की शंकाओं का समाधान स्वयं उनके अंदर से हुआ है। वे उस समय मुझे देख रहे थे; अतः मुझे देखने पर आरोप आ गया; यदि सुन रहे होते तो सुनने पर आरोप आ जाता। ज्ञान तो अंदर से ही आता है, किन्हीं पर-पदार्थों में से नहीं आता है।

दूसरी बात यह भी तो है कि मैं यदि 'सन्मति' हूँ तो अपनी सद्बुद्धि के कारण; तत्त्वार्थों का सही निर्णय करने के कारण हूँ; न कि मुनिराजों की शंका के समाधान के कारण। यदि किसी जड़ पदार्थ को देखकर किसी को ज्ञान हो जाए तो क्या उस जड़ पदार्थ को भी 'सन्मति' कहा जाएगा ? ज्ञान का निमित्त तो जड़ भी हो सकता है, होता है। पाँचों द्रव्य-इन्द्रियाँ जड़ हैं, भाषा जड़ है, कागज-स्याही के परिणमन रूप पुस्तकें भी जड़ हैं; तथापि ज्ञान में निमित्त तो हो ही जाती हैं तो क्या इन्हें भी सन्मति कहा जा सकता है ?

मैं अपने सम्यग्ज्ञान के कारण सन्मति हूँ, दूसरों को शंका का समाधान -कर्ता होने के कारण नहीं। हमें औपचारिक/व्यावहारिक कथनों का रहस्य भली-भाँति समझना चाहिए।

४. एक बार राजकुमार वर्धमान राजमहल की चौथी मंजिल पर एकांत में विचार-मग्न बैठे थे। मिलने को आए बाल-साथिओं द्वारा वर्धमान के संबंध में पूछे जाने पर गृहकार्य में संलग्न माँ ने सहज ही कह दिया 'ऊपर'। सब बालक चढ़ते-हाँफते सातवीं मंजिल पर पहुँचे। वहाँ वर्धमान

को नहीं पाने पर स्वाध्याय में संलग्न पिता सिद्धार्थ से वर्धमान के संबंध में पूछा। उन्होंने बिना गर्दन उठाए ही कह दिया 'नीचे'।

माँ और पिता के परस्पर विरुद्ध कथनों को सुनकर बालक असमंजस में पड़ गए। अंततः उन्होंने एक-एक मंजिल खोजना प्रारम्भ किया और चौथी मंजिल पर वर्धमान को विचार-मग्न बैठे पाया। सब साथिओं ने उलाहने के स्वर में कहा 'तुम यहाँ छिपे-छिपे दार्शनिकों की-सी मुद्रा में बैठे हो और हमने सातों मंजिलें छान डालीं।'

माँ से क्यों नहीं पूछा ? वर्धमान ने सहज प्रश्न किया। साथी बोले 'पूछने से ही तो सब गड़बड़ हुआ है'। माँ कहती हैं 'ऊपर' और पिताजी 'नीचे'। कहाँ खोजें ? कौन सत्य है ?

वर्धमान ने कहा 'दोनों सत्य हैं'। मैं चौथी मंजिल पर होने से माँ की अपेक्षा 'ऊपर' और पिताजी की अपेक्षा 'नीचे' हूँ; क्योंकि माँ पहली मंजिल पर है और पिताजी सातवीं मंजिल पर। ऊपर-नीचे की स्थिति सापेक्ष होती है। बिना अपेक्षा ऊपर-नीचे का प्रश्न ही नहीं उठता है। वस्तु की स्थिति पर से निरपेक्ष होने पर भी उसका कथन सापेक्ष होता है।

इत्यादि उदाहरणों से स्पष्ट है कि बालक वर्धमान गहन सिद्धान्तों को भी अत्यंत सहज-सरल कर समझा देते थे।

प्रश्न ६ : भगवान महावीर के मुख्य उपदेश क्या-क्या हैं ?

उत्तर : श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को देशना प्रारम्भ होने के बाद से कार्तिक कृष्ण त्रयोदशी अर्थात् लगभग ३० वर्ष पर्यंत प्रतिदिन प्रातः, मध्यान्ह, अपरान्ह और अर्ध रात्रि – इसप्रकार ४ बार छह-छह घड़ी पर्यंत अर्थात् प्रतिदिन ९ घंटे ३६ मिनिट पर्यंत तीर्थंकर भगवान महावीर की दिव्यध्वनि खिरा करती थी। जिसमें निरक्षरी ओं-ध्वनि के माध्यम से प्रतिसमय समग्र विश्व-व्यवस्था, वस्तु-व्यवस्था का सहज प्रतिपादन होता था। सम्पूर्ण द्वादशांग वाणी उसका ही सार है।

यद्यपि अन्य तीर्थंकरों के समान भगवान महावीर की वाणी में भी जो कुछ आया था, वह कोई नया सत्य नहीं था। सत्य में नये-पुराने का भेद कैसा ? उन्होंने जो भी बताया है, वह सदा से/सनातन है और सदा रहेगा। उन्होंने सत्य की स्थापना नहीं की थी, उद्घाटन किया था। देश-काल

की योग्यता के अनुसार उन्होंने जिस त्रैकालिक सत्य को उद्‌घाटित किया था, जिस सर्वोदयी-तीर्थ का प्रस्फुटन किया था; उसका विस्तृत विवेचन आचार्यों की कृपा दृष्टि से चार अनुयोगों में विभक्त हो लिपिबद्धरूप में आज हमें भी उपलब्ध है। जिसका संक्षिप्त-सार इसप्रकार है –

प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र है। कोई किसी के अधीन नहीं है। सभी आत्माएं समान हैं। कोई छोटा-बड़ा नहीं है। प्रत्येक आत्मा स्वयं अनन्त ज्ञान, सुख आदि अनन्त गुणों का अखंड पिंड है। ज्ञान, सुख कहीं बाहर से नहीं आते हैं। आत्मा ही नहीं वरन् प्रत्येक पदार्थ स्वयं स्थाईत्व के साथ परिणमनशील है। उसके परिणमन में पर-पदार्थ का कुछ भी हस्तक्षेप नहीं है। जीव स्वयं अपनी भूल से ही दुखी है और स्वयं ही भूल सुधारकर सुखी हो सकता है। स्वयं को नहीं पहिचानना ही सबसे बड़ी भूल है तथा अपना सही स्वरूप समझ कर उसमें ही संतुष्ट/लीन रहना ही भूल सुधारना है।

भगवान कोई पृथक् नहीं होते हैं। प्रत्येक जीव भगवत्-स्वरूप है। यदि वह सही दिशा में पुरुषार्थ करे तो पर्याय में भी भगवान बन जाता है। स्वयं को अपनत्वरूप से जानकर, पहिचानकर, स्वयं में ही समा जाना भगवान बनने का उपाय है। भगवान जगत के कर्ता-धर्ता नहीं हैं। वे तो समस्त विश्व के मात्र ज्ञाता-दृष्टा हैं। जो समस्त विश्व को जानकर उससे पूर्ण अलिप्त, वीतराग रह सके या पूर्णरूप से अप्रभावित रहकर जान सके, वही भगवान है।

आचार्य समंतभद्र स्वामी ने भगवान महावीर के उपदेश को सर्वोदयी तीर्थ कहा है। वे अपने युक्त्यनुशासन ग्रंथ में लिखते हैं –

"सर्वांतवत् तद्‌गुणमुख्यकल्पं, सर्वांतशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं, सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥६२॥

हे भगवन! सभी धर्मों से सम्पन्न आपके सर्वोदय तीर्थ में मुख्य-गौण की विवक्षा से कथन करने पर, किसी भी प्रकार का, कहीं भी विरोध नहीं आता है। अन्य वादिओं के कथन निरपेक्ष होने से समग्र वस्तु-स्वरूप का प्रतिपादन करने में असमर्थ हैं। आपका शासन/तत्त्वोपदेश समस्त आपदाओं का अंत करने में और समस्त संसारी प्राणिओं को संसार-सागर से पार करने में समर्थ है; अतः सर्वोदयी तीर्थ है।"

जिसमें सबका उदय हो, वही सर्वोदय है। तीर्थंकर महावीर ने जिस सर्वोदय तीर्थ का प्रणयन किया, उसके जिस धर्म-तत्त्व को लोक के सामने रखा; उसमें किसी भी प्रकार की संकीर्णता या सीमा नहीं है। आत्मधर्म सभी आत्माओं के लिए है। धर्म को मात्र मानव से जोड़ना भी एक प्रकार की संकीर्णता है। वह तो समस्त चेतन जगत से संबंधित है; क्योंकि सभी प्राणी सुख और शांति से रहना चाहते हैं।

इसप्रकार भगवान महावीरस्वामी ने पर-पदार्थ के हस्तक्षेप से रहित, सर्व सत्ताओं की पूर्ण स्वतंत्रता, स्वावलम्बनमय आत्मधर्म का उपदेश प्राणीमात्र को दिया था।

उनके उपदेश को विस्तार से जानने के लिए चार अनुयोगों में निबद्ध उपलब्ध जैन साहित्य का गहराई से अध्ययन करना चाहिए। ○

सदा-सेवनीय 'अनुपम' सुतीर्थ

अर्हन्महानदस्य त्रिभुवनभव्यजनतीर्थयात्रिकदुरित-
प्रक्षालनैककारण-मतिलौकिक-कुहकतीर्थमुत्तमतीर्थम् ॥२३॥
लोकालोक - सुतत्त्व - प्रत्यवबोधन-समर्थदिव्यज्ञान-
प्रत्यह-वहत्प्रवाहं व्रत-शीलामल-विशाल-कूलद्वितयम् ॥२४॥
शुक्लध्यानस्तिमित-स्थितराजद्राजहंस-राजितमसकृत्।
स्वाध्यायमन्द्रघोषं नानागुणसमितिगुप्तिसिकतासुभगम् ॥२५॥
क्षान्त्यावर्तसहस्रं सर्वदयाविकचकुसुमविलसितलतिकम्।
दुःसह - परीषहाख्य - द्रुततररङ्गत्तरंग - भङ्गुरनिकरम् ॥२६॥
व्यपगतकषायफेनं रागद्वेषादि-दोषशैवलरहितं।
अत्यस्तमोहकर्दम - मतिदूरनिरस्त - मरण - मकरप्रकरम् ॥२७॥
ऋषिवृषभस्तुतिमन्द्रोद्रेकितनिर्घोषविविध-विहगध्वानम्।
विविधतपोनिधिपुलिनं सास्रवसंवरणनिर्जरानिःस्रवणम् ॥२८॥
गणधर - चक्रधरेन्द्रप्रभृते - महाभव्यपुण्डरीकैः पुरुषैः।
बहुभिस्नातुं भक्त्या कलिकलुषमलापकर्षणार्थममेयम् ॥२९॥
अवतीर्णवतः स्नातुं ममापि दुस्तर-समस्त-दुरितं दूरम्।
व्यपहरतु परम - पावन - मनन्यजय्य -स्वभावगम्भीरम् ॥३०॥

– श्री चैत्यभक्ति

पाठ ९ : देवागम स्तोत्र (आप्तमीमांसा)

प्रश्न १ : आचार्य समन्तभद्र स्वामी का व्यक्तित्व-कर्तृत्व लिखिए।

उत्तर : अन्य जैनाचार्यों के समान लोकैषणा से अत्यंत दूर रहनेवाले स्वामी समन्तभद्राचार्य का जीवन-परिचय भी वास्तव में अज्ञात जैसा ही है। इस कलिकाल में जैन और जैनेतरों के मध्य सर्वज्ञ भगवान की सर्वज्ञता का विशद विवेचन करने के कारण कलिकाल-सर्वज्ञ नाम से सुविख्यात तथा जैनदर्शन के सभी पक्षों को अपनी लेखनी से समृद्ध करनेवाले परमपूज्य समन्तभद्र स्वामी ने अपने विषय में कहीं कुछ भी नहीं लिखा है। शिलालेख या परवर्ती साहित्य में उन संबंधी जितना जो कुछ भी मिलता है, वह वास्तव में नगण्य-प्राय ही है।

आप कदम्ब वंश के क्षत्रिय राजकुमार थे। आपके बचपन का नाम शांतिवर्मा था। आपका जन्म कावेरी नदी के किनारे स्थित दक्षिण भारत के उरगपुर नामक नगर में विक्रम सम्वत् द्वितीय शताब्दी के पूर्वार्ध में हुआ था। आपने अल्पवय में ही जैन दिगम्बर मुनि दीक्षा धारण की थी। दिगम्बर जैन साधु होकर आपने घोर तपश्चरण किया तथा अगाध ज्ञान भी प्राप्त किया। आप जैनसिद्धान्त के तलस्पर्शी विद्वान होने के साथ ही तर्क, न्याय, व्याकरण, छन्द, अलंकार, काव्य इत्यादि विषयों के भी अद्वितीय विद्वान थे। आपने अपनी असामान्य वादशक्ति के कारण अनेक स्थानों पर विहारकर अज्ञानीजनों का मद नष्ट किया था। एक स्थान पर आत्मविश्वास के साथ आप स्वयं लिखते हैं – "**वादार्थी विचराम्यहं नरपतेर्शार्दूल-विक्रीडितम्** – हे राजन ! वाद के लिए मैं शार्दूल/शेर के समान विहार करता हूँ।"

इसीप्रकार अन्यत्र भी आप लिखते हैं - "**राजन ! यस्यास्ति शक्तिः, स वदतु पुरतो जैननिर्ग्रन्थवादी** – हे राजन ! मुझ जैन निर्ग्रन्थवादी के सामने जिसकी शक्ति हो, वह बोले !!"

इसप्रकार आपने अनेक स्थानों पर वाद-विवाद के माध्यम से सर्वज्ञता

की पुनर्प्रतिष्ठा कर कलिकाल-सर्वज्ञ की उपाधि को सार्थक किया। आप जैनन्याय के प्रतिष्ठापक आचार्य/न्यायाचार्य हैं। **आप संस्कृत साहित्य के सर्वप्रथम स्तुतिकार हैं।** आपने स्तुति साहित्य को प्रौढ़ता प्रदान करने के साथ ही उसे अत्यंत गंभीर न्यायों से भरा है।

आपके द्वारा लिखित साहित्य में से आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन, स्वयम्भू-स्तोत्र, जिनस्तुति-शतक, रत्नकरण्ड-श्रावकाचार, प्राकृत-व्याकरण, प्रमाण-पदार्थ, कर्मप्राभृत टीका उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त अनुपलब्ध ग्रन्थों में गंध-हस्ति महाभाष्य प्रचलित है।

इनमें से प्रारम्भिक पाँच ग्रंथों का संक्षिप्त परिचय इसप्रकार है –

१. आप्त-मीमांसा : ११४ कारिकाओं में रचित यह भगवान की स्तुति करने के बहाने अनेकानेक विपरीत मान्यताओं का निराकरण कर अनन्त-धर्मात्मक वस्तु-व्यवस्था का प्रतिपादक दार्शनिक ग्रन्थ है।

२. युक्त्यनुशासन : ६४ पद्यों में रचित यह दार्शनिक शैली में 'वीर जिन' की स्तुति परक ग्रन्थ है।

३. स्वयम्भू-स्तोत्र : १४३ पद्यों में रचित इसमें दार्शनिक शैली द्वारा चौबीस तीर्थंकरों का गुण-स्तवन है।

४. जिनस्तुति-शतक : ११६ पद्यों में निबद्ध यह अलंकारिक अपूर्व काव्य रचना है। इसमें भी चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति की गई है। इसका एक नाम 'स्तुति विद्या' भी है।

५. रत्नकरण्ड-श्रावकाचार : १५० पद्यों द्वारा इसमें श्रावकधर्म की मुख्यता से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप सम्यक् रत्नत्रय का चरणानुयोग की शैली से विवेचन है।

आपके पश्चात् हुए आचार्यों ने आपका स्मरण अत्यंत सम्मानसूचक शब्दों में किया है। वादिराजसूरी यशोधरचरित्र में आपको 'काव्यमणिकों का आरोहण' तथा वादीभसिंहसूरी गद्यचिन्तामणि में आपको 'सरस्वती की स्वच्छन्द विहारभूमि' कहते हैं।– इत्यादि रूप में अनेकों आचार्यों ने आपको अनेकों विशिष्ट उपाधिओं से सम्बोधित किया है; जिनका उल्लेख कृतिओं तथा शिलालेखों में उपलब्ध है।

आपने काशी नरेश के समक्ष अपना परिचय देते हुए अपनी दश विशेषताओं का परिचय दिया है। वे इसप्रकार हैं – "**हे राजन! मैं आचार्य हूँ, कवि हूँ, वादिराट् (शास्त्रार्थिओं में श्रेष्ठ हूँ), पण्डित (दूसरों की रचनाओं को स्वयं समझने और दूसरों को समझाने में कुशल) हूँ, दैवज्ञ (ज्योतिषी) हूँ, वैद्य हूँ, मंत्र-विशेषज्ञ हूँ, तंत्र-विशेषज्ञ हूँ, इस सम्पूर्ण समुद्र-वलया भूमि पर आज्ञासिद्ध हूँ, अधिक क्या कहूँ? मैं सिद्धसारस्वत हूँ।**"

आप अपने समय के एक महान धर्म-प्रचारक रहे हैं। आपने जैन-सिद्धान्तों और जैनाचरणों को दूर-दूर तक विस्तार के साथ फैलाने का प्रयास किया है। आपका अन्य सम्प्रदायवालों ने भी कभी विरोध नहीं किया।

आपके अविरोध प्रवर्तन का प्रधान कारण आपके अंत:करण की शुद्धता, चारित्र की निर्मलता और वाक्पटुता है। पक्षपात से रहित, स्याद्वाद से संयुक्त होना, आपकी वाणी की मुख्य विशेषता है। आपको पक्षाग्रह, दुराग्रह रंचमात्र स्वीकार नहीं है। आप स्वयं तो परीक्षा-प्रधानी हैं ही; अन्य को भी निष्पक्षदृष्टि से स्व-पर सिद्धान्तों के ऊपर गंभीरता से विचारकर परीक्षा-प्रधानी बनने की प्रेरणा देते हैं।

इसप्रकार आपके पवित्र, बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न जीवन का तथा साहित्य-सृजन का जैनधर्म के प्रचार-प्रसार में महान योगदान रहा है।

प्रश्न २ : विषयवस्तु सहित देवागम स्तोत्र का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

उत्तर : स्तोत्र शैली में रची गई आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी की प्रस्तुत कृति का एक नाम आप्तमीमांसा भी है। प्रारम्भिक शब्दों के आधार पर नामकरणवाले अन्य स्तोत्रों (भक्तामर स्तोत्र, कल्याणमंदिर स्तोत्र आदि) के समान 'देवागम' शब्द से प्रारम्भ होने के कारण प्रस्तुत कृति भी 'देवागम स्तोत्र' नाम से प्रसिद्ध हो गई है। दार्शनिक एवं कारिकात्मक सूत्र शैली में रचित ११४ अनुष्टुप् छंदोंवाली प्रस्तुत कृति दश परिच्छेदों में विभक्त है। उनकी विषयवस्तु इसप्रकार है –

१. प्रथम परिच्छेद : प्रारम्भिक २३ कारिकाओं वाले इस परिच्छेद की प्रारम्भिक ६ कारिकाओं द्वारा देव-आगमन आदि बाह्य विशेषताओं से

आप्त/तीर्थंकर को महान मानने का निषेध कर वीतरागता और सर्वज्ञता से ही महानता के तथ्य को स्पष्ट करते हुए सामान्य और विशेष दोनों रूपों में सर्वज्ञता की सिद्धि की गई है।

तदनन्तर सर्वथा एकान्तवादिओं के मत में लोक-परलोक आदि की कुछ भी व्यवस्था सम्भव नहीं होने का निरूपण २ कारिकाओं द्वारा करके वस्तु को सर्वथा भावरूप मानने पर अर्थात् अभावों का सर्वथा निषेध करने पर प्रत्येक कार्य अनादि या अनन्त हो जाएगा; सर्व संकर हो जाएगा, किसी भी वस्तु का अपना प्रतिनियत स्वरूप नहीं रहेगा – यह तथ्य ९ से ११ पर्यंत तीन कारिकाओं द्वारा स्पष्ट किया है।

बारहवीं कारिका में सर्वथा अभावमात्र को मानने पर आने वाली समस्याओं का निरूपण कर तेरहवीं कारिका में सर्वथा उभय तथा सर्वथा अवाच्य एकान्त मानने पर उत्पन्न समस्याओं का निरूपण करने के बाद १४ से २२ पर्यंत ९ कारिकाओं द्वारा स्याद्वादनय से वस्तु को परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले भाव-अभावरूप धर्म युगलमय अनेकान्तात्मक बताकर उन्हें सप्तभंगात्मक सिद्ध किया है। अंतिम तेईसवीं कारिका द्वारा एक-अनेक, नित्य-अनित्य आदि धर्मयुगलों में भी इसीप्रकार सप्तभंगी की योजना करना चाहिए – ऐसी सूचना देकर परिच्छेद पूर्ण किया है।

२. द्वितीय परिच्छेद : २४ से ३६ पर्यंत १३ कारिकाओं वाले इस परिच्छेद में सर्वप्रथम चार कारिकाओं द्वारा सर्वथा अद्वैत एकान्त की समीक्षा की गई है। २८वीं कारिका द्वारा सर्वथा द्वैत एकान्त की आलोचना कर, २९ से ३१ पर्यंत तीन कारिकाओं द्वारा बौद्धों के अनेकवाद की मीमांसा की गई है। ३२वीं कारिका द्वारा वस्तु को सर्वथा एक और सर्वथा अनेकरूप सर्वथा उभय एकान्त मानने पर आने वाले दोषों की समीक्षा कर ३३ से ३६ पर्यंत ४ कारिकाओं द्वारा स्याद्वाद नय से परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले एक-अनेक युगल में सप्तभंगी घटितकर, अनेकान्त की स्थापना करते हुए यह प्रकरण पूर्ण किया है।

३. तृतीय परिच्छेद : ३७ से ६० पर्यंत २४ कारिकाओं वाले इस तृतीय परिच्छेद में सर्वप्रथम ३७ से ४० पर्यंत ४ कारिकाओं द्वारा सांख्यों के सर्वथा नित्य एकान्त की मीमांसा करके ४१ से ५४ पर्यंत १४ कारिकाओं

द्वारा सर्वथा अनित्य एकान्त की विस्तृत समीक्षा की गई है। ५५वीं कारिका द्वारा सर्वथा नित्य और सर्वथा अनित्य रूप सर्वथा उभय एकान्त की मीमांसा कर ५६ से ६० पर्यंत ५ कारिकाओं द्वारा वस्तु को कथंचित् नित्य, कथंचित् अनित्य आदि सप्तभंगात्मक अनेकान्तमयी सिद्ध कर परिच्छेद पूर्ण किया है।

४. *चतुर्थ परिच्छेद :* ६१ से ७२ पर्यंत १२ कारिकाओं वाले इस परिच्छेद में वस्तु के भेदाभेदात्मक धर्म का विचार किया गया है। ६१ से ६६ पर्यंत ६ कारिकाओं द्वारा सर्वथा भेद एकान्त की तथा ६७ से ६९ पर्यंत तीन कारिकाओं द्वारा सर्वथा अभेद एकान्त की मीमांसा कर, ७०वीं कारिका द्वारा सर्वथा भेदाभेदरूप उभय एकान्त तथा सर्वथा अवाच्यरूप एकान्त की समीक्षा करके, अन्त में ७१-७२ पर्यंत दो कारिकाओं द्वारा कथंचित् भेदाभेदात्मक वस्तु को सप्तभंगात्मक सिद्ध कर परिच्छेद पूर्ण किया है।

५. *पंचम परिच्छेद :* ७३ से ७५ पर्यंत ३ कारिकाओं वाले इस परिच्छेद की प्रथम ७३वीं कारिका द्वारा सर्वथा अपेक्षा एकान्त और सर्वथा अनपेक्षा एकान्त की मीमांसा कर, ७४वीं कारिका में सर्वथा उभय एकांत और सर्वथा अनुभय एकांत की समीक्षा की गई है। अंत में ७५वीं कारिका द्वारा कथंचित् अपेक्षा और कथंचित् अनपेक्षारूप धर्मों में सप्तभंगी की योजनाकर स्याद्वादनय से अनेकान्तात्मक वस्तु-स्वरूप की सिद्धि करते हुए यह प्रकरण पूर्ण किया है।

६. *षष्ठम परिच्छेद :* ७६ से ७८ पर्यंत ३ कारिकाओं वाले इस परिच्छेद की प्रथम ७६वीं कारिका द्वारा सर्वथा हेतुवाद, सर्वथा अहेतुवाद रूप एकान्त मान्यताओं की समीक्षा कर, ७७वीं कारिका में सर्वथा हेतु-अहेतुरूप उभय एकान्त और अवाच्यता एकांत की मीमांसा कर, अंत में ७८वीं कारिका द्वारा कथंचित् हेतुवाद, कथंचित् अहेतुवाद को सप्तभंगी द्वारा स्पष्ट कर स्याद्वाद शैली द्वारा अनेकान्तात्मक वस्तु-स्वरूप की सिद्धि करते हुए प्रकरण पूर्ण किया है।

७. *सप्तम परिच्छेद :* ७९ से ८७ पर्यंत ९ कारिकाओं वाले इस परिच्छेद में सर्वप्रथम ७९-८० पर्यंत दो कारिकाओं द्वारा सर्वथा ज्ञान एकान्त की

समीक्षा कर, ८१वीं कारिका द्वारा सर्वथा बाह्य अर्थ एकांत की मीमांसा की गई है। ८२वीं कारिका द्वारा सर्वथा ज्ञान-अर्थरूप उभय और अनुभय एकांत का भी निराकरण कर ८३ से ८७ कारिका पर्यंत विस्तार से कथंचित् ज्ञान, कथंचित् अर्थरूप में ज्ञानात्मक, शब्दात्मक और अर्थात्मक पदार्थ की व्यवस्था को सप्तभंगात्मक स्याद्वाद शैली से स्पष्ट कर वस्तु को अनेकांतात्मक सिद्ध करते हुए प्रकरण पूर्ण किया है।

८. अष्टम परिच्छेद : ८८ से ९१ पर्यंत ४ कारिकाओं वाले इस परिच्छेद में सर्वप्रथम ८८वीं कारिका द्वारा सर्वथा दैव एकांत की समीक्षा कर ८९वीं कारिका द्वारा सर्वथा पौरुष एकांत की मीमांसा की गई है। तदुपरांत ९०वीं कारिका द्वारा सर्वथा दैव-पौरुष उभय और अनुभय एकांत में विरोध दिखाकर ९१वीं कारिका द्वारा कथंचित् दैव, कथंचित् पौरुष धर्मों को सप्तभंगात्मक स्याद्वाद शैली से स्पष्ट कर वस्तु को अनेकान्तात्मक सिद्ध करते हुए परिच्छेद पूर्ण किया है।

९. नवम परिच्छेद : ९२ से ९५ पर्यंत ४ कारिका वाले इस परिच्छेद में ९२-९३ पर्यंत दो कारिकाओं द्वारा पुण्य-पाप की मीमांसा कर, ९४वीं कारिका द्वारा सर्वथा उभय और अनुभय एकांत की समीक्षा कर, ९५वीं कारिका द्वारा स्याद्वाद शैली से पुण्य-पाप का विश्लेषण करते हुए प्रकरण पूर्ण किया है।

१०. दशम परिच्छेद : *९६ से ११४ पर्यंत २० कारिकाओं वाले इस परिच्छेद* में सर्वप्रथम ९६वीं कारिका द्वारा अज्ञान से बंध और ज्ञान से मोक्ष मानने वाली मान्यता का खंडन कर ९७वीं कारिका द्वारा सर्वथा उभय-अनुभय एकान्त की मीमांसा कर ९८वीं कारिका द्वारा स्याद्वाद शैली से बंध-मोक्ष की व्यवस्था को स्पष्ट किया है। तत्पश्चात् ९९, १०० – दो कारिकाओं द्वारा जीव के शुद्ध-अशुद्ध भावों की मीमांसा की गई है।

तदनन्तर १०१ और १०२वीं कारिका द्वारा जैन प्रमाण-स्वरूप-भेद और फल बताकर १०३ से १०५ पर्यंत ३ कारिकाओं द्वारा अनन्त धर्मात्मक वस्तु का प्रतिपादन करनेवाली जैन/जिन-वाणी में स्यात् पद की अनिवार्यता, स्याद्वाद का स्वरूप और स्याद्वाद-केवलज्ञान में मात्र परोक्ष-प्रत्यक्षरूप भेद को स्पष्ट किया गया है।

तत्पश्चात् नय, द्रव्य, नयों की स्थिति, स्याद्वाद शैली द्वारा अनंत-धर्मात्मक वस्तु का प्रतिपादन करने वाली वाणी की सत्यता का निरूपण १०६ से ११३ पर्यंत ८ कारिकाओं द्वारा करके, 'कल्याण के इच्छुक जीवों को सम्यक् उपदेश और मिथ्या उपदेश के अर्थ-विशेष की प्रतिपत्ति के लिए यह आप्तमीमांसा ग्रन्थ लिखा गया है' – इत्यादि भाव ११४वीं कारिका द्वारा व्यक्त करते हुए यह ग्रन्थ समाप्त किया है।

इसप्रकार इस ग्रन्थ में सांकेतिक शैली द्वारा लोक प्रचलित सर्वथा एकांत मान्यताओं का निराकरण कर, सप्तभंगात्मक स्याद्वाद शैली द्वारा अनंत धर्मात्मक वस्तु-व्यवस्था का प्रतिपादन किया गया है।

टीकाएँ : इस लघुकाय ग्रन्थ पर तीन टीकाएँ/व्याख्याएँ उपलब्ध हैं – १. देवागम-विवृत्ति, २. देवागमालंकार और ३. देवागमवृत्ति।

१. देवागम-विवृत्ति : भट्ट अकलंकदेव कृत और आप्तमीमांसा-भाष्य, देवागम-भाष्य तथा अष्टशती – इन नामों से ख्यात यह देवागम-विवृत्ति भारतीय दर्शन-साहित्य की बेजोड़ रचना है। यह उपलब्ध व्याख्याओं में सर्वाधिक प्राचीन और अत्यंत दुरूह व्याख्या है।

२. देवागमालंकार : आचार्य विद्यानन्दकृत और आप्तमीमांसालंकृति, आप्तमीमांसालंकार तथा अष्टसहस्री – इन नामों से प्रसिद्ध यह देवागमा-लंकार विस्तृत और प्रमेय-बहुल व्याख्या है। इसमें देवागम की कारिकाओं के प्रत्येक पद-वाक्यादि का विस्तार पूर्वक अर्थोद्घाटन के साथ ही उपर्युक्त अष्टशती के भी प्रत्येक पद-वाक्यादि का विशद अर्थ और मर्म प्रस्तुत किया गया है। इसके महत्त्व की उद्घोषणा करते हुए स्वयं व्या-ख्याकार ने लिखा है कि –

"श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः।
विज्ञायेत ययैव स्वसमय-परसमय-सद्भावः॥

अष्टसहस्री सुनने/पढ़नेवालों के लिए अन्य हजारों शास्त्रों से क्या प्रयोजन है ? क्योंकि उन्हें स्वसमय-परसमय का सद्भाव इसके द्वारा ही ज्ञात हो जाता है।"

३. देवागमवृत्ति : आचार्य वसुनन्दि कृत यह टीका मूल कारिकाओं का अर्थ समझने के लिए अत्यंत उपयोगी है। इसमें न तो अष्टशती की

दुरूहता है और न ही अष्टसहस्री की विशालता तथा गंभीरता; कारिकाओं का व्याख्यान भी लम्बा नहीं है और न ही दार्शनिक विस्तृत ऊहापोह है। इसमें मात्र कारिकाओं के पद-वाक्यों का शब्दार्थ और कहीं-कहीं फलितार्थ अतिसंक्षेप में प्रस्तुत किया गया है।

इनके अतिरिक्त प्रस्तुत कृति आप्तमीमांसा पर अन्य कोई टीकाएं दृष्टिगोचर नहीं हुई हैं।

प्रश्न ३ : प्रत्येक कारिका का सामान्य अर्थ लिखिए।

उत्तर : प्रत्येक कारिका का सामान्य अर्थ क्रमशः इसप्रकार है –

सर्वप्रथम इस पहली कारिका द्वारा बाह्य विभूति के कारण जिनेन्द्र भगवान महिमावान नहीं हैं; यह बताते हैं –

(सभी कारिकाएँ अनुष्टुप् छन्द में हैं तथा प्रत्येक का हिन्दी पद्यानुवाद वीर-छन्द में है।)

देवागम-नभोयान, चामरादि - विभूतयः।
मायाविष्वपि दृष्यन्ते, नातस्त्वमसि नो महान्॥१॥

देव आगमन विहार नभ में, चामर आदि विभूति भी।
मायावी में देखी जातीं, इससे आप महान नहीं॥१॥

शब्दशः अर्थ : देव-आगम=देवों का आना, नभोयान=आकाश में विहार, चामर-आदि विभूतयः=चामर/चँवर आदि विभूतिआँ, मायाविषु=मायाविओं में, अपि=भी, दृष्यन्ते=दिखाई देती हैं, न=नहीं, अतः= इसलिए, त्वं=तुम/भगवान आप!, असि=हो, नः=हमारे लिए, महान्=बड़े।

सरलार्थ : हे भगवन ! (आपके दर्शनादि के लिए) देवगण आते हैं, (आपका) आकाश में विहार होता है, (आप) चँवर आदि विभूतिओं/अष्ट प्रातिहार्यों से सहित हैं; इसकारण मेरे लिए महान नहीं हैं; क्योंकि ये सब विशेषताएँ तो मायाविओं में भी दिखाई देती हैं॥१॥

अब अंतरंग-बहिरंग शारीरिक विशेषताओं के कारण भी आप महिमावान नहीं हैं; यह बताते हैं –

अध्यात्मं बहिरप्येष, विग्रहादिमहोदयः।
दिव्यः सत्यो दिवौकष्वप्यस्ति रागादिमत्सु सः॥२॥

सात धातु विरहित छाया से रहित आदि तन की महिमा।
रागादियुत देवों के है, अत: आपकी न गरिमा॥२॥

शब्दश: अर्थ : अध्यात्म=अंतरंग, बहि:=बहिरंग, अपि=भी, एष=यह, विग्रह आदि=शरीर आदि में विद्यमान, महोदय=महा उदय/विशिष्ट विशेषताएँ, दिव्य:=दिव्य/पवित्र, सत्य:=होने पर भी, दिवौकस्सु= देवताओं में, अपि=भी, अस्ति=है, रागादिमत्सु=रागादिमान, स:=वह।

सरलार्थ : (सात धातुओं से रहितपना आदि) अंतरंग और (छाया नहीं पड़ना आदि) बहिरंग महोदय/विशेषताओं से सम्पन्न शरीर (यद्यपि मायाविओं के तो नहीं देखा जाता है; तथापि) दिव्य होने पर भी रागादिमान (देव गति के) देवताओं में/के पाया जाता है; अत: इस कारण भी आप हमारी दृष्टि में महान नहीं हैं॥२॥

अब, सभी तीर्थ-प्रवर्तक आदि गुरु क्यों नहीं हैं ? यह बताते हैं –

तीर्थकृत्समयानां च परस्परविरोधत:।
सर्वेषामाप्तता नास्ति कश्चिदेव भवेद्गुरु:॥३॥

तीर्थ चलाने शास्त्र बनाने, वालों में विरोध मिलता।
अत: नहीं सब आप्त हो सकें, किसी एक के ही गुरुता॥३॥

शब्दश: अर्थ : तीर्थकृत=तीर्थ करने/चलानेवालों, च=और, समयानां= शास्त्र बनानेवालों के, परस्पर=आपस में, विरोधत:=विरोध होने से, सर्वेषां=सभी के, आप्तता=आप्तपना, नास्ति=नहीं है, कश्चित्=कोई एक, एव=ही, भवेद्=हो सकता है, गुरु:=गुरु (प्रकारान्तर से इस पंक्ति का प्रश्नोत्तर शैली में भी सन्धि-विच्छेद कर अर्थ किया जा सकता है। वह इसप्रकार है – कोई एक ही गुरु हो सकता है। क:=वह कौन हो सकता है? चिद्-एव=वह चैतन्यात्मक आत्मा ही गुरु हो सकता है)।

सरलार्थ : तीर्थ चलानेवालों और शास्त्र बनानेवालों के परस्पर विरुद्धता होने से सभी के तो आप्तपना सम्भव नहीं है। उनमें से कोई एक ही गुरु हो सकता है। वह कौन हो सकता है ? एक चैतन्यात्मा ही हो सकता है॥३॥

अब, 'कोई वीतराग-सर्वज्ञ हो सकता है' यह एक हेतु द्वारा सिद्ध करते हैं अर्थात् सामान्य सर्वज्ञता की सिद्धि करते हैं –

दोषावरणयोर्हानि:, नि:शेषास्त्यतिशायनात्।
क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो, बहिरन्तर्मलक्षय: ।।४।।

दोष आवरण घटते-बढ़ते, अत: किसी के पूरे नष्ट।
जैसे स्व साधन से धातु के अंतर्बहि मल हों नष्ट ।।४।।

शब्दश: अर्थ : दोष=मोहादि भावकर्म, आवरणयो:=ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्म की, हानि:=हानि/हीनता, नि:शेषा=पूर्ण रूप से, अस्ति=हो जाती है, अतिशायनात्=अतिशायन होने से/हीनाधिक होते रहने से, क्वचित्=कहीं पर/किसी के; यथा=जैसे, स्वहेतुभ्यो=अपने कारणों से, बहि:=बाहर के, अन्त:=अन्दर के, मलक्षय:=मल का क्षय।

सरलार्थ : जैसे (लोक में) अपने कारणों से (भट्टी में तपाने आदि से) अशुद्ध स्वर्ण आदि के (किट्ट-कालिमा आदि) अंतरंग-बहिरंग मल/गंदगी का अभाव हो जाता है; उसीप्रकार दोष (मोहादि भावकर्म) और आवरण (ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म) अतिशायन होने से/हीनाधिक/घटने-बढ़ने के स्वभाववाले होने से, किन्हीं के (शुद्धोपयोग आदि) अपने कारणों से पूर्णतया क्षय को प्राप्त हो जाते हैं। (इससे प्रगट होने वाली वीतरागता-सर्वज्ञता ही आपकी महानता का कारण है।)।।४।।

अब, इसे ही दूसरे हेतु द्वारा सिद्ध करते हैं –

सूक्ष्मान्तरितदूरार्था: प्रत्यक्षा: कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थिति: ।।५।।

सूक्ष्म अन्तरित दूर क्षेत्रगत, अर्थ किसी के हैं प्रत्यक्ष।
अनलादि अनुमेयपना सम, सिद्ध हुए इससे सकलज्ञ ।।५।।

शब्दश: अर्थ : सूक्ष्म=द्रव्य की अपेक्षा से इन्द्रिय-अगोचर/परमाणु आदि, अन्तरित=काल की अपेक्षा से इन्द्रिय-अगोचर/राम-रावण आदि, दूर=क्षेत्र की अपेक्षा से इन्द्रिय-अगोचर/मेरु आदि, अर्था:=पदार्थ, प्रत्यक्षा:=प्रत्यक्ष ज्ञानगोचर, कस्यचित्=किसी के, यथा=जैसे, अनुमेयत्वत:=अनुमेय/अनुमान ज्ञान के विषय होने से, अग्नि-आदि:=अग्नि आदि पदार्थों के समान, इति=इसप्रकार, सर्वज्ञ-संस्थिति:=सर्वज्ञ की सत्ता सम्यक् रूप से सिद्ध हुई।

सरलार्थ : जैसे अग्नि आदि पदार्थ अनुमान के विषय होने से किसी के द्वारा प्रत्यक्ष भी ज्ञात होते हैं; उसीप्रकार परमाणु आदि सूक्ष्म, राम-रावण आदि अन्तरित और मेरु आदि दूरवर्ती पदार्थ हमारे अनुमान ज्ञान के विषय होने से किसी के प्रत्यक्ष भी हैं; अर्थात् कोई उन्हें प्रत्यक्ष भी जानता है। जो उन्हें प्रत्यक्ष जानता है, वह सर्वज्ञ है – इसप्रकार सर्वज्ञ की सत्ता भली-भाँति सिद्ध हो गई ॥५॥

अब, वीतरागी और सर्वज्ञ एकमात्र जिनेन्द्र भगवान ही हैं; यह हेतु द्वारा सिद्ध करते हैं अर्थात् विशेष सर्वज्ञता की सिद्धि करते हैं –

स त्वमेवासि निर्दोषो, युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्।
अविरोधो यदिष्टं ते, प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥६॥

युक्ति शास्त्र अविरोधी वाणी, होने से निर्दोषी आप।
प्रत्यक्षादि से न बाधित वस्तु अविरोधीमय आप ॥६॥

शब्दश: अर्थ : स=वह, त्वं=तुम/हे भगवन आप !, एव=ही, असि=हो, निर्दोष:=निर्दोष, युक्तिशास्त्राऽविरोधिवाक्=युक्ति और शास्त्र से अविरुद्धवचन होने के कारण, अविरोध:=अविरोध, यद्=जो, इष्टं=इष्ट/मान्य, ते=आपके लिए, प्रसिद्धेन=प्रसिद्ध प्रमाण से, न=नहीं, बाध्यते=बाधित होता है।

सरलार्थ : हे भगवन ! वे निर्दोष/वीतरागी और सर्वज्ञ आप ही हैं; क्योंकि आपके वचन युक्ति और शास्त्र से अविरुद्ध हैं। आपको जो इष्ट है, आपने वस्तु आदि का जो स्वरूप बताया है; वह प्रत्यक्ष, तर्क, अनुमान आदि प्रसिद्ध प्रमाणों से बाधित नहीं होता है ॥६॥

अब, हेतु द्वारा अन्य के गुरुता का निषेध करते हैं –

त्वन्मतामृतबाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम्।
आप्ताभिमानदग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते ॥७॥

जिनमत अमृत से बाहर, आप्ताभिमान से ग्रसित सभी।
हैं वे सर्वथा एकान्ती, उन इष्ट दृष्ट से बाधित ही ॥७॥

शब्दश: अर्थ : त्वत्=तुम्हारे/हे भगवन ! आपके, मत-अमृत=मत रूपी अमृत से, बाह्यानां=बाहर/भिन्न/अन्य, सर्वथा=पूर्णतया, एकान्त-

वादिनां=एकान्तवादिओं के, आप्त-अभिमान-दग्धानां=आप्त नहीं होने पर भी 'मैं आप्त हूँ' – इस अभिमान से दग्ध/ग्रसित, स्व-इष्टं=स्वयं को मान्य, दृष्टेन=प्रत्यक्ष से, बाध्यते=बाधित हो जाता है।

सरलार्थ : हे भगवन ! आपके द्वारा प्रतिपादित अनेकान्तरूपी अमृत से बाहर/पृथक्, आप्त नहीं होने पर भी 'मैं आप्त हूँ' – ऐसे अभिमान से ग्रसित, सर्वथा एकान्तवादिओं के मत में, उनके द्वारा प्रतिपादित वस्तु-स्वरूप प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से बाधित हो जाता है; अत: वे गुरु नहीं हो सकते हैं ॥७॥

अब, इस हेतु को ही विशेष स्पष्ट करते हैं –

कुशलाकुशलं कर्म परलोकश्च न क्वचित्।
एकान्तग्रहरक्तेषु नाथ ! स्वपरबैरिषु ॥८॥

कर्म शुभाशुभ परलोकादि, नहीं बनें उनके मत में।
जो एकान्त पक्षवाले, स्व-पर के बैरी पर मत में ॥८॥

शब्दश: अर्थ : कुशल=शुभ, अकुशल=अशुभ, कर्म=द्रव्यकर्म/भाव-कर्म/कार्य/प्रवृत्तिआँ, परलोक:=परलोक, च=और, न=नहीं, क्वचित्=कुछ भी, एकान्तग्रहरक्तेषु=एकान्त के आग्रह में रक्त अथवा एकान्तरूपी पिशाच के अधीन, नाथ !=हे भगवन !, स्वपरबैरिषु=स्व और पर – दोनों के ही शत्रु सर्वथा एकांतवादिओं के यहाँ।

सरलार्थ : हे भगवन ! एकान्तरूपी पिशाच के अधीन, स्व-पर – दोनों के ही शत्रु/बुरा करने वाले सर्वथा एकान्तवादिओं के यहाँ शुभ-अशुभ कर्म और परलोक आदि कुछ भी व्यवस्थित सिद्ध नहीं होता है ॥८॥

अब, वस्तु को सर्वथा भावात्मक मान लेने पर आनेवाले दोषों को बताते हैं –

भावैकान्ते पदार्थाना- मभावाना- मपह्नवात्।
सर्वात्मक- मनाद्यन्त- मस्वरूप- मतावकम् ॥९॥

भावमात्र हैं मान्य वस्तुएं, अभाव से सर्वथा रहित।
उनके सभी सभीमय आदि-अन्तविहीन स्वरूप रहित ॥९॥

शब्दश: अर्थ : भाव-एकान्ते=सर्वथा भाव/सद्भाव स्वीकार करने पर, पदार्थानां=पदार्थों के, अभावानां=अभावों का, अपह्नवात्=निषेध करने

पर, सर्वात्मकं=सभी स्वरूप, अनादि=प्रारम्भ से रहित, अनन्तं=अन्त से रहित, अस्वरूपं=स्वरूप से रहित, अतावकं=तुम्हारा/आपका मत नहीं है/आपको स्वीकृत नहीं है।

सरलार्थ : हे भगवन ! पदार्थों का एकान्त भाव/सर्वथा सद्भाव स्वीकार करने पर, अभावों का सर्वथा निषेध हो जाने के कारण सभी पदार्थ सर्वात्मक/सभीमय हो जाएंगे, अनादि और अनन्त हो जाएंगे, किसी का कुछ भी पृथक् स्वरूप नहीं रह जाएगा; परन्तु ऐसा आपको स्वीकृत नहीं है ॥९॥

अब, अभाव की सर्वथा अस्वीकृति में आनेवाले दोषों को स्पष्ट करते हैं –

कार्यद्रव्यमनादि स्यात् प्रागभावस्य निह्नवे।
प्रध्वंसस्य च धर्मस्य प्रच्यवेऽनन्ततां व्रजेत् ॥१०॥

प्रागभाव के निह्नव से, सब पर्यायें अनादि होंगीं।
प्रध्वंसाभाव नहीं मानें तो, हर हालत अनन्त होगी ॥१०॥

शब्दश: अर्थ : कार्य द्रव्य=किसी विशिष्ट कार्य/पर्यायरूप से परिणमित द्रव्य, अनादि=प्रारम्भ रहित, स्यात्=हो जाना चाहिए/हो जाएगा, प्राक्-अभावस्य=प्राक् अभाव/प्रागभाव का, निह्नवे=निषेध करने पर, प्रध्वंसस्य =प्रध्वंसरूप, च=और, धर्मस्य=धर्म का, प्रच्यवे=निषेध करने पर, अनंततां =अनन्तता को, व्रजेत्=प्राप्त हो जाना चाहिए/हो जाएगा।

सरलार्थ : प्रागभाव का निषेध करने पर कार्यरूप द्रव्य/द्रव्य की पर्यायें अनादि हो जाएंगीं और प्रध्वंसाभाव का निषेध करने पर द्रव्य की पर्यायें अनन्तता को प्राप्त हो जाएंगीं ॥१०॥

अब, दशवीं कारिका द्वारा शेष रहे दो दोषों को स्पष्ट करते हैं –

सर्वात्मकं तदेकं स्यादन्यापोह-व्यतिक्रमे।
अन्यत्र समवाये न, व्यपदिश्येत सर्वथा ॥११॥

अन्यापोह निषेध करे तो, सभी एक ही हो जाएं।
पूर्णाभाव नहीं मानें तो, कथन असम्भव हो जाए ॥११॥

शब्दश: अर्थ : सर्वात्मकं=दृश्यमान सभी, तद्=वे, एकं=एक, स्यात्=हो जाएंगे, अन्य-अपोह=अन्य अभाव/अन्योन्याभाव का, व्यतिक्रमे= निषेध

करने पर, अन्यत्र=दूसरे में, समवाये=मिल जाने पर, न=नहीं, व्यपदिश्येत= व्यपदेश बनना चाहिए/बन सकेगा, सर्वथा=किसी भी रूप में।

सरलार्थ : अन्योन्याभाव का निषेध करने पर दृश्यमान सभी पदार्थ/पुद्-गल-स्कन्ध वर्तमान में एकरूप हो जाएंगे और अत्यन्ताभाव का निषेध करने पर सभी द्रव्य एक दूसरे के साथ मिल जाने से किसी भी रूप में किसी भी द्रव्य का कथन भी नहीं हो सकेगा ॥११॥

अब, वस्तु को सर्वथा अभावात्मक मान लेने पर आनेवाले दोषों को बताते हैं –

अभावैकान्त-पक्षेऽपि भावापह्नव-वादिनाम्।
बोधवाक्यं प्रमाणं न केन साधन-दूषणम् ॥१२॥

भाव छोड़कर अभाव के, एकान्तपक्ष में नहीं बनें।
बोधवाक्य प्रामाणिक तब, साधन दूषण होगा किससे?॥१२॥

शब्दशः अर्थ : अभाव-एकान्तपक्षे=अभाव का एकान्त/भाव का पूर्ण-तया निषेध कर सर्वथा अभाव मानने पर, अपि=भी, भाव-अपह्नव-वादिनां=भाव का सर्वथा निषेध करनेवालों के यहाँ, बोध=ज्ञान, वाक्यं= वाक्य, प्रमाणं=प्रामाणिक, न=नहीं, केन=किसके द्वारा, साधन=स्वमत की स्थापना, दूषणं=परमत का खण्डन।

सरलार्थ : भाव का सर्वथा निषेध करनेवाले वादिओं के यहाँ अभाव के एकान्त/सर्वथा अभाव के पक्ष में भी बोध/ज्ञान और वाक्य प्रामाणिक सिद्ध नहीं हो सकेंगे; तब फिर वे स्वमत की स्थापना और परमत का खण्डन किससे करेंगे ?॥१२॥

अब, उभयैकान्त आदि अन्य एकान्तों को सर्वथा स्वीकार कर लेने पर आनेवाले दोषों को स्पष्ट करते हैं –

विरोधान्नोभयैकान्तं स्याद्वादन्याय-विद्विषां।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥१३॥

स्याद्वाद नय विद्वेषी के, उभयैकान्त नहीं बनता।
विरुद्धता से अवाच्यता, एकान्त अवाच्य नहीं रहता ॥१३॥

शब्दशः अर्थ : विरोधात्=विरुद्ध होने से, न=नहीं, उभय-एकान्त=उभय

एकान्त, स्याद्वाद-न्याय-विद्विषां=स्याद्वाद-न्याय के साथ विद्वेष रखने वालों के यहाँ, अवाच्यता=वचन अगोचर का, एकान्ते=एकान्त मानने पर, अपि=भी, उक्तिः=कथन, न=नहीं, अवाच्यं=वचन अगोचर, इति=ऐसा, युज्यते=कहा जा सकेगा।

सरलार्थ : स्याद्वाद-न्याय के साथ विद्वेष रखनेवाला यदि कोई भावैकान्त और अभावैकान्त में आने वाले दोषों से बचने के लिए उभयैकान्त को स्वीकार करता है तो उन दोनों में परस्पर विरुद्धता होने से उभयैकान्त में दोनों के ही दोष आ जाते हैं। इन सब दोषों से बचने के लिए अवाच्यता का एकान्त स्वीकार करने पर 'अवाच्य' – यह कथन भी सम्भव नहीं हो सकेगा; क्योंकि अवाच्य कहने पर वस्तु 'अवाच्य' शब्द से वाच्य हो जाएगी ॥१३॥

अब, जिनेन्द्र भगवान द्वारा स्याद्वाद शैली से प्रतिपादित अनेकान्तात्मक वस्तु-व्यवस्था का निरूपण करते हैं –

कथंचित्ते सदेवेष्टं कथंचिदसदेव तत्।
तथोभयमवाच्यं च नययोगान्न सर्वथा ॥१४॥

प्रभो! आपको वस्तु कथंचित् सत् ही असत् इष्ट ही है।
उभय अवाच्य सप्तभंगात्मक, नय से वस्तु स्वीकृत है ॥१४॥

शब्दशः अर्थ : कथंचित्=किसी अपेक्षा से, ते=आपके लिए, सत्=विद्यमान/भाव स्वरूप वस्तु, एव=ही, इष्टं=मान्य है, कथंचित्=किसी अपेक्षा से, असद्=अविद्यमान/अभाव स्वरूप वस्तु, एव=ही, तत्=वह, तथा=उसीप्रकार, उभयं=सद्-असद् – दोनों रूप, अवाच्यं=नहीं कह सकने-योग्य, च=और, नययोगात्=नय योग से/विवक्षा-भेद से, न=नहीं, सर्वथा=पूर्णरूप से।

सरलार्थ : हे भगवन ! आपके द्वारा मान्य/बताया गया वस्तु-स्वरूप नय की अपेक्षा/विवक्षा-भेद से कथंचित् सत् ही है, कथंचित् असत् ही है, कथंचित् उभय ही है, कथंचित् अवाच्य/अवक्तव्य ही है, कथंचित् सत् अवक्तव्य ही है, कथंचित् असत् अवक्तव्य ही है, कथंचित् उभय/सद-सत् अवक्तव्य ही है। ये सप्तभंग नय अपेक्षा से ही हैं, सर्वथा नहीं हैं ॥१४॥

अब, कथंचित् सत् और असत् कहने की अपेक्षा स्पष्ट करते हैं –

सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादि-चतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥१५॥

स्व-रूपादि चतुष्टय से सब, सत् ही कौन नहीं चाहे?
पर-रूपादि चतुष्टय से सब, असत् न माने नहीं बने ॥१५॥

शब्दश: अर्थ : सत-एव=सत् ही, सर्वं=सभी को, क:=कौन, न=नहीं, इच्छेत्=चाहेगा, स्वरूप-आदि=स्व-रूपादि/स्वद्रव्य-स्वक्षेत्र-स्वकाल -स्वभावरूप, चतुष्टयात्=चतुष्टय की अपेक्षा से, असद्-एव=असत् ही, विपर्यासात्=इससे विपरीत परद्रव्य-परक्षेत्र-परकाल-परभावरूप पर-चतुष्टय की अपेक्षा, न=नहीं, चेत्=यदि, न=नहीं, व्यवतिष्ठते=व्यवस्था सिद्ध होगी।

सरलार्थ : स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभावमय स्वरूप-चतुष्टय की अपेक्षा सभी वस्तुएं सत् हैं – ऐसा कौन स्वीकार नहीं करेगा ? तथा परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल, परभावमय पररूप-चतुष्टय की अपेक्षा सभी वस्तुएं असत् हैं – ऐसा कौन स्वीकार नहीं करेगा ? अर्थात् सभी स्वीकार करेंगे। यदि स्वीकार नहीं करेगा तो उसके विचारानुसार वस्तु-व्यवस्था ही सिद्ध नहीं हो सकेगी ॥१५॥

अब, शेष रहे कथंचित् उभय आदि भंगों की अपेक्षा स्पष्ट करते हैं –

क्रमार्पित-द्वयाद् द्वैतं सहावाच्यमशक्तित:।
अवक्तव्योत्तरा: शेषास्त्रयो भंगा: स्वहेतुत: ॥१६॥

क्रम से ग्रहण करो उभयात्मक युगपत् अवक्तव्य वह ही।
अपने-अपने कारण से सद् असद् उभय वक्तव्य नहीं ॥१६॥

शब्दश: अर्थ : क्रम-अर्पित-द्वयाद्=क्रम से दोनों को ग्रहण करने की अपेक्षा, द्वैतं=दोनों रूप, सह=एक साथ दोनों को ग्रहण करने की अपेक्षा, अवाच्यं=अवाच्य, अशक्तित:=कहने की शक्ति नहीं होने से, अवक्तव्य-उत्तरा:=अवक्तव्य के आगे, शेषा:=शेष, त्रयो=तीन, भंगा:= भंग, स्व-हेतुत:=अपने-अपने कारण से।

सरलार्थ : सत्-असत् – दोनों को क्रमश: ग्रहण करने पर वस्तु उभयरूप

है और इन दोनों को एक साथ ग्रहण करने पर कहने की क्षमता नहीं होने से वस्तु अवक्तव्य-स्वरूप है। अपनी-अपनी अपेक्षा इस अवक्तव्य के साथ पूर्वोक्त तीन भंगों को मिलाने से, शेष तीन भंग बन जाते हैं; जो इसप्रकार हैं – कथंचित् सत् अवक्तव्य, कथंचित् असत अवक्तव्य और कथंचित् सत्-असत् अवक्तव्य ॥१६॥

प्रश्न ४ : 'सामान्यरूप में सर्वज्ञ की सिद्धि करना' किसे कहते हैं – यह बताते हुए सामान्यरूप में सर्वज्ञ की सिद्धि कीजिए ?

उत्तर : सर्वज्ञता, सकलज्ञता, अतीन्द्रिय ज्ञानपना, पूर्ण निरावरण ज्ञानपना, केवलज्ञानपना, सकल प्रत्यक्ष ज्ञानपना सिद्ध करने को 'सामान्य रूप में सर्वज्ञ की सिद्धि करना' कहते हैं।

अनेक मतवादी ऐसा मानते हैं कि तीनकाल-तीनलोकवर्ती समस्त पदार्थ किसी एक ज्ञान द्वारा ज्ञात नहीं हो सकते हैं। यद्यपि वे अपने-अपने मत-प्रवर्तक को सर्वज्ञ मानते हैं; परन्तु सर्वज्ञ का अर्थ सबको जानना नहीं मानते हैं। भूत और वर्तमान को जाननेवाला ज्ञान अथवा स्वयं को छोड़-कर अन्य सभी को जाननेवाला ज्ञान सर्वज्ञ कहलाता है – इत्यादि रूप में वे सर्वज्ञ को परिभाषित करते हैं।

दार्शनिक ग्रन्थों में इसे लेकर सर्वांगीण ऊहापोह किया गया है। आप्त -मीमांसा भी एक दार्शनिक ग्रन्थ होने से वह भी इस विषय से अछूता नहीं है। इस युग में न्याय के प्रतिष्ठापक आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी ने अपने अकाट्य तर्कों द्वारा यह सिद्ध किया है कि कोई एक ज्ञान सम्पूर्ण लोकालोक को जान सकता है। तीनकाल-तीनलोकवर्ती स्व-पर – समस्त पदार्थों को जो ज्ञान एक साथ जानता है, उसे सर्वज्ञ कहते हैं। ऐसा ज्ञान नियम से पूर्ण निरावरण, पर-निरपेक्ष, अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष, स्वाधीन, आत्मोत्पन्न ही होता है। इसे ही सामान्यरूप में सर्वज्ञ की सिद्धि करना कहते हैं।

इस सामान्य-सर्वज्ञता को हम अनेक तर्कों द्वारा इसप्रकार सिद्ध कर सकते हैं –

१. यह स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि सभी व्यक्तिओं में रागादि और ज्ञानादि समान नहीं हैं। इनमें सतत हीनाधिकता होती रहती है; अतः यह

भी सम्भव है कि किसी के रागादि पूर्णतया नष्ट हो गए हों तथा ज्ञानादि पूर्णतया व्यक्त हो गए हों। आचार्यश्री समन्तभद्र स्वामी इस तथ्य को आप्तमीमांसा में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''दोषावरणयोर्हानि: नि:शेषास्त्यतिशायनात्।
क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो, बहिरन्तर्मलक्षय: ।।४।।

जैसे लोक में स्व हेतुओं से/अग्नि-ताप आदि से कनक-पाषाणादि की अन्तर्बाह्य मलरूप अशुद्धता पूर्णतया नष्ट हो जाने के कारण स्वर्ण पूर्णतया शुद्ध होता देखा जाता है; उसीप्रकार मोहादि दोष और ज्ञानावरण आदि आवरण हीनाधिक स्वभाववाले होने से किसी जीव के शुद्धोपयोग रूप ध्यानाग्नि के ताप द्वारा वे पूर्णतया नष्ट हो जाने के कारण वह जीव पूर्ण शुद्ध अर्थात् वीतराग-सर्वज्ञ हो जाता है।''

ये सर्वज्ञ ही तीनकाल-तीनलोकवर्ती स्व-पर सभी पदार्थों को एक-साथ प्रत्यक्ष जानते हैं।

मोहादि दोषरूप अंतरंगमल/भावकर्म और ज्ञानावरण आदि आवरण रूप बहिरंगमल/द्रव्यकर्म ही सर्वज्ञता के बाधक कारण हैं। जिनके ये दोनों नहीं हैं; वे वीतराग-सर्वज्ञ हैं। उनके पर से पूर्ण निरपेक्ष, अनन्त सामर्थ्य-सम्पन्न अतीन्द्रिय ज्ञान व्यक्त हुआ है। जो सभी को एकसाथ जानता है।

२. अग्नि अनुमेय/अनुमान ज्ञान की विषय होने से, उसके समीप नहीं होने पर भी हमें वह धूम (धुँआ) आदि साधन से ज्ञात हो जाती है; परन्तु उसके समीप स्थित व्यक्ति उसे प्रत्यक्ष देख लेता है; अर्थात् जिसे कोई अनुमानरूप परोक्ष-ज्ञान से जान लेता है, उसे कोई न कोई प्रत्यक्ष-ज्ञान से अवश्य ही जान लेता है। सूक्ष्म, अन्तरित, दूरवर्ती पदार्थों को; क्योंकि हम अपने अनुमानरूप परोज्ञ-ज्ञान से जान रहे हैं; अत: कोई न कोई उन्हें अपने प्रत्यक्ष-ज्ञान से अवश्य ही जानता होगा। उन्हें प्रत्यक्ष जाननेवाला ज्ञान ही सर्वज्ञ कहलाता है। इसे वे वहीं इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''सूक्ष्मान्तरितदूरार्था:, प्रत्यक्षा: कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थिति: ।।५।।

अग्नि आदि के समान अनुमेय होने के कारण सूक्ष्म, अन्तरित और दूर

-वर्ती पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष हैं। – इसप्रकार सर्वज्ञ की सत्ता भली-भाँति सिद्ध हो गई।”

इन्द्रिय-ज्ञान द्वारा ज्ञात नहीं होनेवाले परमाणु आदि सूक्ष्म कहलाते हैं; काल से दूरवर्ती अर्थात् भूत-भावीकालीन राम-रावण-महापद्म आदि अन्तरित हैं तथा क्षेत्र से दूरवर्ती/सुदूर क्षेत्र में स्थित मेरु पर्वत आदि दूर-वर्ती पदार्थ हैं।

वस्त्र आदि दिखाई देनेवाले स्थूल-स्कन्धों के माध्यम से हम सूक्ष्मरूप परमाणु का अनुमान-ज्ञान कर लेते हैं; परन्तु कोई सूक्ष्म-द्रष्टा उन्हें प्रत्यक्ष देख लेता है। हमारे पिता, पिता के पिता, उनके भी पिता और उनके भी पिता इत्यादि रूप में हम दीर्घकालीन अपने पूर्वजों आदि का अनुमान ज्ञान कर लेते हैं; परन्तु उनके समयवर्ती व्यक्ति उन्हें प्रत्यक्ष देखते हैं।

इसी प्रकार अपने समीपस्थ पर्वत, नदी आदि को देखकर हम अन्यत्र स्थित पर्वत, नदी आदि का भी अनुमान-ज्ञान कर लेते हैं; परन्तु वहाँ रहनेवाले व्यक्ति उन्हें प्रत्यक्ष देख रहे हैं अर्थात् जिन्हें कोई अनुमान से जानता है, उन्हें कोई न कोई प्रत्यक्ष से अवश्य जानता ही है। तीनकाल-तीनलोकवर्ती स्व-पर सभी पदार्थों को यत: हम अनुमान से जान लेते हैं; अत: कोई न कोई उन्हें नियम से प्रत्यक्ष जानता ही है। उन्हें प्रत्यक्ष जानने वाला विशद ज्ञान ही सर्वज्ञ है।

३. प्रमाण-प्रमेय या ज्ञान-ज्ञेय पद परस्पर संबंध-वाचक हैं। यत: तीन-काल-तीनलोकवर्ती समस्त पदार्थ युगपत् प्रमेयत्वशक्ति-सम्पन्न हैं; अत: उन्हें जाननेवाला ज्ञान भी ऐसी शक्ति-सम्पन्न अवश्यमेव होना चाहिए। ज्ञान की इसी सामर्थ्य का नाम सर्वज्ञता है।

४. आगम में सूक्ष्मादि पदार्थों का वर्णन उपलब्ध है। बिना जाने वर्णन/निरूपण करना असम्भव होने से आगम के वक्ता/आप्त उनके ज्ञाता होने ही चाहिए। उनके प्रत्यक्ष ज्ञाता सर्वज्ञ हैं।

इत्यादि अनेकानेक तर्कों से यह सिद्ध है कि तीनकाल-तीनलोकवर्ती सभी पदार्थों को युगपत् जाननेवाला अर्थात् सर्वज्ञ विश्व में है।

इसप्रकार सामान्यरूप में सर्वज्ञ की सिद्धि हुई।

प्रश्न ५ : 'विशेषरूप में सर्वज्ञ की सिद्धि करना' किसे कहते हैं ? – यह स्पष्ट करते हुए विशेषरूप में सर्वज्ञ की सिद्धि कीजिए।

उत्तर : किसी विशिष्ट व्यक्ति को सर्वज्ञ सिद्ध करना – 'विशेषरूप में सर्वज्ञ की सिद्धि करना' कहलाता है। जैसे भगवान महावीर सर्वज्ञ हैं – यह सिद्ध करना 'विशेषरूप में सर्वज्ञ की सिद्धि करना' है।

यद्यपि सभी मतवाले अपने-अपने मत-प्रवर्तक को सर्वज्ञ कहते हैं; तथापि वे सभी सर्वज्ञ नहीं हैं; क्योंकि उनमें परस्पर विरोध है। उनके वचन आगम-युक्ति संगत नहीं हैं; उनसे इहलोक-परलोक की व्यवस्था भी नहीं बनती है। उनमें सर्वज्ञता क्यों नहीं है ? – इसकी विस्तृत चर्चा दार्शनिक ग्रन्थों में की गई है। उनमें से कोई एक ही सर्वज्ञ हो सकता है। वह सर्वज्ञ कौन होगा ? – इसे स्पष्ट करते हुए आचार्यश्री समन्तभद्र स्वामी अपने आप्तमीमांसा नामक ग्रंथ में लिखते हैं –

''स त्वमेवासि निर्दोषो, युक्ति-शास्त्राविरोधिवाक्।
अविरोधो यदिष्टं ते, प्रसिद्धेन न बाध्यते॥६॥

हे भगवन ! वह निर्दोष/वीतरागी और सर्वज्ञ आप ही हैं; क्योंकि आपके वचन युक्ति और शास्त्र से अविरुद्ध हैं। आपने जो भी बताया है, वह प्रत्यक्ष आदि प्रसिद्ध प्रमाणों से बाधित नहीं है।

वस्तु-स्वभाव के विरुद्ध या प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरुद्ध कथन दो कारणों से ही होता है – १. रागादि दोषों के कारण, २. अज्ञानता के कारण। जिनेन्द्र भगवान निर्दोष/वीतरागी होने से उनमें रागादि दोष नहीं हैं तथा आवरण नष्ट हो जाने के कारण वे पूर्ण ज्ञानी/सर्वज्ञ हो जाने से उनमें अज्ञानता नहीं है; अतः उनका सम्पूर्ण प्रतिपादन वस्तु-स्वभाव के अनुसार और प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से अबाधित ही होता है। यही उनके सर्वज्ञ होने का प्रमाण है।

अन्य-मतवादी सर्वज्ञ नहीं हैं; – इस तथ्य को वे वहीं इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''त्वन्मतामृतबाह्यानां, सर्वथैकान्तवादिनाम्।
आप्ताभिमानदग्धानां, स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते॥७॥

कुशलाकुशलं कर्म, परलोकश्च न क्वचित्।
एकान्तग्रहरक्तेषु, नाथः स्वपरवैरिषु ।।८।।

हे भगवन ! आपके (अनेकान्त) मतरूपी अमृत से बाहर/पृथक् तथा आप्त नहीं होने पर भी 'मैं आप्त हूँ' इस अभिमान से दग्ध/गर्वित सर्वथा एकान्तवादिओं के द्वारा मान्य वस्तु-स्वरूप प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से बाधित है।

हे नाथ ! स्व-पर के बैरी/अपना और अन्य का बुरा करने वाले, एकान्त के आग्रह में आसक्त अथवा एकान्तरूपी पिशाच से ग्रसित मतवादिओं के यहाँ शुभ-अशुभ कर्म, परलोक आदि कुछ भी व्यवस्था सिद्ध नहीं होती है।''

इसप्रकार एकान्त-मतवादिओं द्वारा प्रतिपादित वस्तु-स्वरूप प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से बाधित होने के कारण उनके प्रवर्तक सर्वज्ञ नहीं हैं; परन्तु वीतरागी सर्वज्ञ जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्रतिपादित वस्तु-स्वरूप प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से अबाधित है; उसमें शुभ-अशुभ कर्म, परलोक आदि सभी कुछ भली-भाँति सिद्ध हो जाते हैं; इससे सिद्ध होता है कि वे सर्वज्ञ हैं/पर से पूर्ण निरपेक्ष अपने अतीन्द्रिय-प्रत्यक्ष-ज्ञान द्वारा तीन-काल-तीनलोक-वर्ती स्व-पर सभी पदार्थों को एकसाथ जानते हैं।

इसप्रकार 'जिनेन्द्र भगवान सर्वज्ञ हैं' – यह सिद्ध हुआ अर्थात् विशेष रूप में सर्वज्ञ की सिद्धि हुई।

प्रश्न ६ : सामान्य सर्वज्ञ सिद्धि और विशेष सर्वज्ञ सिद्धि में अंतर बताइए।

उत्तर : ये दोनों सर्वज्ञ को ही सिद्ध करनेवाली होने पर भी इन दोनों में कुछ अन्तर है; जो इसप्रकार है –

सामान्य सर्वज्ञ सिद्धि	विशेष सर्वज्ञ सिद्धि
१. इसमें सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध किया जाता है।	इसमें विवक्षित व्यक्ति सर्वज्ञ है– यह सिद्ध किया जाता है।
२. इसे ज्ञेयों या अन्य परोक्ष ज्ञानों के माध्यम से सिद्ध किया जाता है।	इसे व्यक्ति के निर्दोष व्यक्तित्व-वचन के माध्यम से सिद्ध किया जाता है।

३. इसमें ज्ञान मुख्य होता है।	इसमें मत-प्रवर्तक मुख्य होता है।
४. इसमें विशेषण या विशेषता सिद्ध की जाती है।	इसमें विशेष्य सिद्ध किया जाता है।
५. इसका बाधक कारण एक ही है -'उपलब्ध नहीं होने के कारण'।	इसके बाधक कारण अनेकों हैं।
६. इसमें सर्वज्ञता सिद्ध की जाती है।	इसमें सर्वज्ञवान सिद्ध किया जाता है।
७. इसकी सिद्धि होने पर ही विशेष सर्वज्ञ सिद्धि होती है।	इसके बिना भी सामान्य सर्वज्ञ सिद्धि हो जाती है।
८. आत्मार्थी के लिए यह जानना अत्यंत आवश्यक है।	प्रत्येक व्यक्ति के संदर्भ में यह जानना आवश्यक नहीं है।
९. इससे व्यक्ति की पूज्यता-अपूज्यता का निर्णय नहीं होता है।	इससे व्यक्ति की पूज्यता-अपूज्यता का निर्णय होता है।
१०. धर्मायतन आदि धार्मिक व्यवहार का यह मूलाधार नहीं है।	धर्मायतन आदि धार्मिक व्यवहार का यह मूलाधार है।

इत्यादि प्रकार से इन दोनों में अन्तर है।

प्रश्न ७ : भावैकान्त और अभावैकान्त में पारस्परिक अन्तर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : ये दोनों मिथ्या-मान्यताओं के ही भेद होने पर भी इनमें कुछ अंतर है; जो इसप्रकार है –

भावैकान्त	अभावैकान्त
१. इसमें वस्तु की सर्वथा सत्तामात्र स्वीकार की जाती है।	इसमें वस्तु की सर्वथा असत्ता ही स्वीकार की जाती है।
२. मात्र इसे मानने पर प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव, अत्यन्ताभाव सिद्ध नहीं होते हैं।	मात्र इसे मानने पर किसी भी वस्तु की सत्ता सिद्ध नहीं होती है।
३. मात्र इसे मानने पर द्रव्य, गुण, पर्यायों की अनन्तता, पृथक्ता सिद्ध नहीं होती है।	मात्र इसे मानने पर किसी भी प्रकार का व्यवहार, प्रवृत्तिआँ चर्चा-वार्ताएँ भी सम्भव नहीं हैं।
४. मात्र इसे मानने पर परिवर्तन के	मात्र इसे मानने पर वस्तु ही सिद्ध

लिए कहीं कोई अवसर नहीं होने से पुरुषार्थ कुंठित हो जाता है।

५. मात्र इसे मानने पर चोरी, जारी आदि पाप सिद्ध नहीं होने से सर्वत्र पशुवत प्रवृत्तिआँ हो जाएंगी।

नहीं होने के कारण उन्नति-अवनति का प्रश्न ही नहीं रहता है।

मात्र इसे मानने पर भोगोपभोग करना, सेवा आदि करना सम्भव ही नहीं होगा।

इत्यादि प्रकार से इन दोनों में अंतर है।

प्रश्न ८ : चारों प्रकार के एकान्तों का सयुक्तिक निषेध कर स्याद्वाद की सिद्धि कीजिए।

उत्तर : आचार्यश्री समन्तभद्र स्वामी ने आप्तमीमांसा की प्रारम्भिक कारिकाओं में चार प्रकार के एकान्तों की चर्चा करके उनका निराकरण किया है। उन्होंने ९ से ११वीं कारिका पर्यंत पहले भावैकान्त, १२वीं में दूसरे अभावैकान्त तथा १३वीं कारिका में तीसरे उभय एकांत और चौथे अवाच्यता एकांत की चर्चा करके १४ से १६वीं कारिका पर्यंत स्याद्वाद की सिद्धि की है। वह इसप्रकार –

१. भावैकान्त : पदार्थों का सर्वथा अस्तित्व ही स्वीकार करना भावैकान्त है। इस सर्वथा भावैकान्त का निषेध करते हुए वे लिखते हैं–

भावैकान्ते पदार्थानामभावानामपह्नवात्।
सर्वात्मक- मनाद्यन्त- मस्वरूप- मतावकम्॥९॥
कार्यद्रव्यमनादि स्यात्, प्रागभावस्य निह्नवे।
प्रध्वंसस्य च धर्मस्य, प्रच्यवेऽनन्ततां व्रजेत्॥१०॥
सर्वात्मकं तदेकं स्यादन्यापोहव्यतिक्रमे।
अन्यत्र समवाये न व्यपदिश्येत सर्वथा॥११॥

पदार्थों का सर्वथा भाव एकांत स्वीकार करने पर अर्थात् पदार्थ मात्र हैं ही – ऐसा सर्वथा स्वीकार करने पर, अभावों का सर्वथा निषेध हो जाने के कारण सभी सबरूप हो जाएंगे, प्रत्येक कार्य अनादि या अनन्त हो जाएगा, किसी का कोई निश्चित स्वरूप नहीं रहेगा; परन्तु हे भगवन ! यह आपको मान्य नहीं है।

अभाव चार प्रकार के हैं – प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव, अत्यंताभाव। वर्तमान पर्याय का भूत-कालीन सभी पर्यायों में नहीं होना,

प्रागभाव है। इसे स्वीकार नहीं करने पर अर्थात् सर्वथा भावैकान्त मानने पर प्रत्येक पर्याय अनादि-कालीन हो जाएगी; परन्तु यह तो सम्भव नहीं है; क्योंकि पर्याय तो मात्र एक समयवर्ती ही होती है।

वर्तमान पर्याय का भविष्य-कालीन सभी पर्यायों में नहीं होना, प्रध्वं-साभाव है। इसे नहीं मानने पर अर्थात् सर्वथा भावैकान्त स्वीकार करने पर प्रत्येक पर्याय अनन्त-काल पर्यंत स्थाई हो जाएगी; परन्तु यह तो सम्भव नहीं है; क्योंकि पर्याय तो मात्र एक समयवर्ती ही होती है।

एक वर्तमान स्कन्ध का दूसरे वर्तमान स्कन्ध में अभाव, अन्योन्याभाव है। इसे स्वीकार नहीं करने पर अर्थात् सर्वथा भावैकान्त मानने पर सभी स्कन्ध सबरूप/एकमेक हो जाएंगे; परन्तु यह तो कभी सम्भव नहीं है; क्योंकि स्कन्धगत परस्पर भिन्नता सभी को ज्ञात होती है।

एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में पूर्णतया अभाव अत्यन्ताभाव है। इसे स्वी-कार नहीं करने पर अर्थात् सर्वथा भावैकान्त मानने पर किसी भी द्रव्य का अपना कोई स्वरूप ही निश्चित नहीं हो सकेगा; परन्तु यह तो सम्भव नहीं है; क्योंकि प्रत्येक द्रव्य का पर से पूर्णतया पृथक् अपना-अपना स्वरूप ज्ञात होता है।

इसप्रकार सर्वथा भावैकान्त मानना मिथ्या है।

२. *अभावैकान्त :* पदार्थों का सर्वथा अभाव/नास्तित्व ही स्वीकार करना, अभावैकान्त है। इस सर्वथा अभावैकान्त का निषेध करते हुए वे वहीं लिखते हैं –

अभावैकान्तपक्षेऽपि, भावापह्नववादिनाम्।
बोधवाक्यं प्रमाणं न, केन साधन-दूषणम्॥१२॥

भाव का सर्वथा निषेध कर अभावैकान्त माननेवाले मतवादिओं के ज्ञान और वाक्य प्रामाणिक नहीं होंगे; क्योंकि वे सभी सर्वथा अभावरूप हैं, वास्तविक नहीं हैं। ऐसा होने पर वे किससे अपने मत की पुष्टि करेंगे और किससे अन्य के मत का निराकरण करेंगे।

इसप्रकार इसमें कुछ भी जानना, कहना सम्भव नहीं होने से सर्वथा अभावैकान्त भी मिथ्या है।

३. *उभयैकान्त :* पदार्थों का एक दूसरे से सर्वथा निरपेक्ष भाव-अभाव –

दोनों स्वीकार करना उभयैकान्त है। इसका निषेध करते हुए वे वहीं लिखते हैं –

विरोधान्नोभयैकान्तं, स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ॥१३, पूर्वार्ध॥

स्याद्वादन्याय से विद्वेष रखनेवाले उभयैकान्तवादिओं के यहाँ भावैकान्त और अभावैकान्त में परस्पर विरोध होने से उभयैकान्त भी नहीं बनता है; क्योंकि उसमें पूर्वोक्त दोनों के सभी दोष आ जाते हैं।

इसप्रकार परस्पर विरुद्धता वाले सभी दोष इसमें विद्यमान होने से यह सर्वथा उभयैकान्त भी मिथ्या है।

_४. अवाच्यतैकान्त :_ पदार्थ के संबंध में कुछ भी कहना सर्वथा सम्भव नहीं है – ऐसा मानना, अवाच्यतैकान्त है। इसका निषेध करते हुए वे लिखते हैं–

अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥१३, उत्तरार्ध॥

अवाच्यतैकान्त स्वीकार करने पर 'वस्तु अवाच्य है' – ऐसा कहना भी सम्भव नहीं हो सकेगा; क्योंकि 'अवाच्य' शब्द के द्वारा वाच्य हो जाने पर अवाच्यतैकान्त खण्डित हो जाता है।

किसी भी वस्तु के संबंध में संज्ञा/नाम आदि प्रचलित हैं, समझने-समझाने का व्यवहार भी प्रचलित है; अतः सर्वथा अवाच्यतैकान्त भी मिथ्या है।

इसप्रकार इन ५ कारिकाओं द्वारा आचार्यश्री समंतभद्र स्वामी ने चारों ही एकांत मान्यताओं का निषेध कर दिया है।

इसके बाद वे वहीं ३ कारिकाओं द्वारा स्याद्वाद की सिद्धि करते हैं। जो इसप्रकार है –

कथंचित्ते सदेवेष्टं, कथंचिदसदेव तत्।
तथोभयमवाच्यं च, नययोगान्न सर्वथा ॥१४॥
सदेव सर्वं को नेच्छेत्, स्वरूपादिचतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥१५॥
क्रमार्पितद्वयाद् द्वैतं सहावाच्यमशक्तितः।
अवक्तव्योत्तराः शेषास्त्रयो भंगाः स्वहेतुतः ॥१६॥

हे भगवन ! आपका बताया हुआ वस्तु-स्वरूप कथंचित् सत् ही है,

कथंचित् असत् ही है, कथंचित् उभय और कथंचित् अवाच्य ही है; परन्तु यह सब नय-योग से/अपेक्षा वश ही है; सर्वथा नहीं है।

स्वरूप आदि चतुष्टय (स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव) की अपेक्षा वस्तु के सद्भाव/अस्तित्व को कौन स्वीकार नहीं करेगा? अर्थात् सभी स्वीकार करेंगे ही। इससे विपरीत अर्थात् पररूप आदि चतुष्टय (परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल, परभाव) की अपेक्षा वस्तु का असद्भाव/नास्तित्व ही है। यदि ऐसा न हो तो वस्तु की व्यवस्था ही व्यवस्थित नहीं हो सकेगी।

सत्-असत् – दोनों को क्रम से ग्रहण करने की अपेक्षा वस्तु दोनों/उभयरूप ही है। इन दोनों को एक साथ कहने की सामर्थ्य नहीं होने से वस्तु कथंचित् अवाच्य है। इसीप्रकार अपने-अपने कारणों से अवक्तव्य के साथ शेष तीन भंग अर्थात् स्यात् सत् अवक्तव्य, स्यात् असत् अवक्तव्य और स्यात् उभय अवक्तव्यरूप भी वस्तु है।

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मात्मक होने के कारण अपेक्षा विशेष से तो वह अनेकानेक रूप दिखाई देती है; परन्तु सर्वथा नहीं। सर्वथा किसी एकरूप ही वस्तु को मान लेने पर मिथ्या एकांत का दोष आता है; क्योंकि यह वस्तु के सन्दर्भ में यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान नहीं होने से हम अपना प्रयोजन सिद्ध नहीं कर सकेंगे; वस्तु को यथार्थ जानने-मानने पर ही हम उसका यथार्थ उपयोग कर सकते हैं।

अनन्त-धर्मात्मक प्रत्येक वस्तु को एक साथ जानना-मानना सम्भव होने पर भी एक साथ कहना/समझाना सम्भव नहीं है; अत: कहते समय प्रयोजन परक किसी एक धर्म को मुख्यकर, शेष धर्मों की सत्ता को स्वीकार करते हुए भी उन्हें गौणकर, मुख्य का प्रतिपादन किया जाता है। ऐसी स्थिति में उस वाक्य के साथ अन्य धर्मों की सत्ता-स्वीकृति का सूचक 'स्यात्' पद जोड़ दिया जाता है; जिससे अन्य धर्मों का निषेध भी नहीं होता है और अपना प्रयोजन भी सिद्ध हो जाता है। जैसे वस्तु स्यात् सत् है, स्यात् असत् है इत्यादि।

अपनी अपेक्षा को स्पष्ट कर देने पर उसे दृढ़ता प्रदान करने के लिए इसके साथ 'एव/ही' शब्द का प्रयोग भी किया जाता है। जैसे स्वद्रव्य आदि

स्वचतुष्टय की अपेक्षा वस्तु सत् ही है। इसे संक्षेप में 'वस्तु स्यात् सत् एव' – ऐसा कहा जाता है। यही स्याद्वाद शैली कहलाती है। अनन्त-धर्मात्मक वस्तु के सभी धर्मों को एक साथ कहना सम्भव नहीं होने से कथन में स्याद्वाद शैली अपनानी ही पड़ती है।

परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले धर्म-युगल संबंधी वक्तव्य-अवक्तव्य को लेकर सात तथ्य होने से उन संबंधी सात वाक्य बन जाते हैं। जो इस-प्रकार हैं – वस्तु स्यात् सत्, स्यात् असत्, स्यात् सत्-असत्/उभय, स्यात् अवक्तव्य, स्यात् सत् अवक्तव्य, स्यात् असत् अवक्तव्य, स्यात् सत्-असत्/उभय अवक्तव्य है। इन्हें ही सप्त-भंगी कहते हैं, जो कि स्याद्वाद की विनियोग-परिपाटी है। प्रत्येक धर्म-युगल संबंधी सप्तभंगी के रूप में प्रत्येक वस्तु संबंधी अनंत सप्तभंगी हो जाती हैं।

इसप्रकार अनंत-धर्मात्मक वस्तु के अनंत धर्मों को एकसाथ कहने की क्षमता किसी में भी नहीं होने से स्याद्वाद की सिद्धि स्वत: ही हो जाती है।○

परमहितकारी मार्ग-दर्शन

मिच्छत्तपहुदिभावा पुव्वं जीवेण भाविया सुइरं।
सम्मत्त पहुदिभावा अभाविया होंति जीवेण ॥९०॥
णाणाजीवा णाणाकम्मं णाणाविहं हवे लद्धी।
तम्हा वयणविवादं सगपरसमएहिं वज्जिज्जो ॥१५६॥
लद्धूणं णिहि एक्को तस्स फलं अणुहवेइ सुजणत्ते।
तह णाणी णाणणिहिं भुंजेइ चइत्तु परतत्तिं ॥१५७॥

जीव ने मिथ्यात्वादि भाव पहले अति दीर्घ काल से भाए हैं; परन्तु इस जीव ने सम्यक्त्वादि भाव नहीं भाए हैं; (अत: अब उन्हें भाओ) ॥९०॥

नाना प्रकार के जीव हैं, नाना प्रकार के कर्म हैं, नाना प्रकार की लब्धिआँ हैं; इसलिए स्वसमयों तथा परसमयों के साथ (स्वधर्मिओं तथा परधर्मिओं के साथ) वचन-विवाद छोड़ने-योग्य है ॥१५६॥

जैसे कोई एक (दरिद्र मनुष्य) निधि को प्राप्त कर अपने वतन में (गुप्तरूप से) रहकर उसके फल को भोगता है; उसीप्रकार ज्ञानी परजनों के समूह को छोड़कर ज्ञाननिधि को भोगता है ॥१५७॥ *– आ. कुन्दकुन्ददेव, नियमसार*

जैनं जयतु शासनम्
सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः

बारह भावना

(वीर छन्द)

अनित्य भावना

नित्य अनित्य स्वभाव स्वयं का, नित्य नियत ही है रहता।
है अनित्य उत्पाद और व्यय रूप सदा मिटता रहता॥
तब अनित्य कैसे होगा आराध्य विचार करो चेतन।
नित ज्ञानानन्दी आराध, इसी से होते विरहित तन॥

अशरण भावना

निज से भिन्न, विनाशी, अशरण शरणप्रदाता हों कैसे?
परम शरण शाश्वत सुखदायी, शिव सौभाग्य बने इससे॥
शरण हेतु पर-आश वृथा है, शरण स्वयं शाश्वत नित ही।
इसके आश्रय से होता है प्रतिपल जीवन आनन्दी॥

संसार भावना

मोहादि संसार सभी निःसार मात्र अज्ञानमयी।
मैं संसार रहित हूँ सारासार विवेकी ज्ञानमयी॥
पर का आकर्षण असार दुखमय दुखकारक है संसार।
सारभूत शाश्वत आतम को ध्याकर पालूँ सुखमय सार॥

एकत्व भावना

ज्ञान निकेतन नाथ स्वयं ही नंतानंत गुणों का घर।
आनन्दकन्द स्वयं एकाकी नहीं कभी पर से विग्रह॥
स्वयं सदा एकत्व स्वभावी शुद्धातम का कर चिंतन।
ध्यान एक ही सदा रहे बस तन से विरहित मैं चेतन॥
एकत्वानेकत्व स्वभावी अनेकत्व है दुखदायक।
अनेकत्व तज भज दृष्टि एकत्व सदा जो सुखदायक॥
हो जाऊँ परिपूर्ण स्वयं स्वाधीन सदा ऐश्वर्यमयी।
संग अंग से रहित सिद्ध हो होता जीवन आनन्दी॥

अन्यत्व भावना

पर से पूर्ण विभक्त अपेक्षा नहीं मुझे पर की किंचित्।
सत्ता से जो भिन्न सदा मुझ काम करें कैसे किंचित्?॥
मैं अनन्य अविनाशी चेतन आनंदकंद अनंत विभु।
मानूँ ध्याऊँ तो हो जाऊँ अशरीरी शिव सिद्ध प्रभु॥
अनन्यत्व अन्यत्व धर्म हैं सदा शाश्वत वस्तु में।
अन्य-अन्य माना करता जो पाता दुख ही इस जग में॥
अनन्यत्व एकत्व स्वभावी नित चेतन को ध्याने से।
तन विरहित हो जाते चेतन सुखमय सिद्ध स्वपद पाके॥